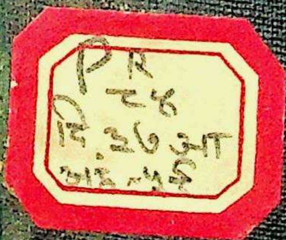
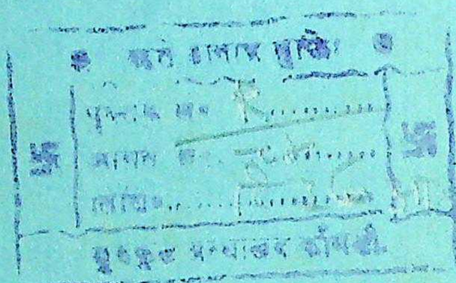

AALOCHNA





सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

२६

आलोचना



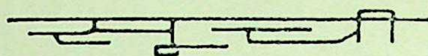
काव्यालोचन शोषांक

राजकमल प्रकाशन

त्रैमासिक आलोचना

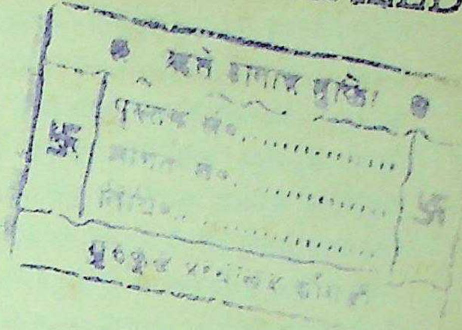
वर्ष ७ अंक २ पूर्णाङ्क २६ अप्रैल, १९५६

वार्षिक मूल्य १५) इस अंक का ४)



स
क
वि
स
है
स्व
नि
है
सि
अ
न
सि
वे
स
चि

सम
रम
रम
सा
सि
आ



आलोचना



सम्पादकीय

सिद्धान्तों की प्रगति

साहित्य की सृष्टि मनुष्य की रचनात्मक प्रवृत्ति का एक सहज और महत्त्वपूर्ण अंग है। किसी विशेष भूमि-खण्ड से सम्बन्धित न होकर साहित्य मनुष्य के सार्वभौम गुणों पर आश्रित है। इसी प्रकार साहित्य की व्याख्या, उसके स्वरूप की परिभाषा और उसके सन्निहित नियमों का उद्घाटन भी सार्वदेशिक वस्तु है। विभिन्न देशों में समय-समय पर जिन सिद्धान्तों का प्रवर्त्तन हुआ, उनमें ऊपर से अन्तर दिखाई देते हुए भी एक अंतरंग समानता मिलती है। आज विश्व-साहित्य और सिद्धान्त-समष्टि के द्वार खुल जाने के कारण वे उपकरण हमें मिल गए हैं, जिनके द्वारा साहित्य की प्रक्रिया और उसके स्वरूप का चिन्तन अधिक गम्भीरता के साथ सम्भव है।

साहित्य और समीक्षा का पारस्परिक सम्बन्ध एक सुनिश्चित प्रकार की द्वन्द्वात्मकता पर आधारित है। एक समय सृजनात्मक साहित्य की स्थिति प्रधान होती है, और साहित्य के आचार्य साहित्य के नियमों और सिद्धान्तों का निरूपण प्रत्यक्ष कृतियों के आधार पर करते हैं। अधिकाधिक रूपबद्ध होते हुए क्रमशः ये सिद्धान्त प्रमुखता प्राप्त करने लगते हैं, और एक समय ऐसा आता है जब साहित्यिक कृतियों का निर्माण उनके अनुरूप होने लगता है। इसके पश्चात् एक स्थिति नियमों के साधन के विरुद्ध रचनाकारों के विद्रोह की आती है। उनका मुख्य कार्य नियमों के संकीर्ण दायरे से साहित्य की विशद भूमि को उन्मुक्त करना और कवि की स्वतन्त्रता स्थापित करना होता है। वे नये काव्य-रूपों और काव्यादर्शों का प्रवर्त्तन करते हैं। अतएव समष्टि रूप में सिद्धान्तों का अनुशीलन करने पर उपर्युक्त समस्त स्थितियों की अभिज्ञता हमें होती है। आज के काव्य-चिंतन में यह आवश्यक है कि ऐसे तत्त्वों को देखते हुए भी हमारा ध्यान सृजनात्मक साहित्य पर केन्द्रित रहे।

राष्ट्रीय जीवन-दर्शन का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है, किन्तु इससे साहित्य अन्ततः देश विशेष की वस्तु नहीं बन जाता; उसकी मानवीय वस्तु और अबाधित भाव-विनियोग की क्षमता राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करती है। साहित्य के इस व्यापक अतरंग में ही उसके सच्चे स्वरूप के दर्शन होते हैं, और जो दृष्टि तथाकथित विशिष्ट

राष्ट्रीय तत्त्वों का ही आकलन करती है, वह साहित्य के मर्म तक नहीं पहुँचती। साहित्य-सर्जना, सिद्धान्त-निर्माण और उसके मौलिक अंतरंग में जो सार्वजनीनता है, वही काव्य-चिंतन के लिए सर्वाधिक उपादेय है। साहित्य का सम्बन्ध युग-विशेष की सामाजिक वस्तु-स्थिति से भी माना जाता है। विश्व-साहित्य के विकास में ऐसे युग आए हैं जो नवीन प्रकार की सामाजिक वस्तु-स्थिति के परिणाम हैं, जिनके कारण साहित्यिक कृतियों ने भी नया रूप धारण किया है। परन्तु इन परिवर्तनशील रूपों में साहित्य के मूलभूत गुणों और विशेषताओं का तिरस्कार नहीं होता।

भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित रस-सिद्धान्त भारत का प्रथम काव्य-सिद्धान्त है। लगभग उनके ही काल में अरिस्टाटल द्वारा ग्रीस का प्रथम सावयव काव्य-शास्त्र भी निर्मित हुआ। सूक्ष्मता से देखने पर उनकी मौलिक स्थापनाओं में विस्मयजनक समानता मिलती है। नाट्य-शास्त्र में राम रावण के चरित्र-लक्षण एक-दूसरे से पूर्ण विरुद्ध रूप में दिये गए हैं। पात्रों की यह परिकल्पना व्यक्ति-वैशिष्ट्य को लेकर नहीं, वर्ग-प्रतिनिधित्व को लेकर चलती है। रस-सिद्धान्त के केन्द्र में नीति-तत्त्व की यह प्रतिष्ठा आगे चलकर और भी स्पष्ट हो जाती है जब धीरोदात्त, धीरललित आदि श्रेणियों में नायक का निरूपण होने लगता है। इस निरूपण में सूक्ष्म भेदोपभेद की ओर आचार्यों की उन्मुखता प्रदर्शित होती है। अरिस्टाटल ने भी चरित्र में नीति को मूलवर्ती माना है। वे चरित्र-चित्रण की तीन शैलियों का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार मानव-चरित्र का चित्रण उसके स्वाभाविक रूप में हो सकता है। इनका सम्बन्ध क्रमशः यथार्थवादी, करुण और सुखान्त कृतियों से है। काव्य-रूपों में करुण नाटक की सर्वोपरिता अरिस्टाटल ने उसके नैतिक औदात्य पर स्थापित की है।

रस अन्ततः सामाजिक की अनुभूति है। स्वयं कवि और उसकी काव्य-कृति की निर्माण-प्रक्रिया के विवेचन का आग्रह आधुनिक है। उस समय काव्य को मूलतः समाज की वस्तु के रूप में ही देखा गया। करुण नाटक के प्रभाव की व्याख्या अरिस्टाटल ने जिस प्रकार केथारसिस सिद्धान्त द्वारा की है, उसमें भी प्रभाव-पक्ष या सामाजिक के पक्ष को ध्यान में रखा गया है। इसमें अरस्तू यह बतलाते हैं कि करुण नाटक का प्रभाव भी कैसे आह्लादक होता है। भरत मुनि की रस-परिगणना में भी करुण रस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शृंगार और वीर के साथ वह भी प्रधान रस के रूप में स्वीकृत है। आनन्द रसानुभूति का मौलिक लक्षण है। यह कहा जाता है कि भारतीय नाट्य-शास्त्र में केवल सुखान्त कृति का प्रतिपादन है। इसे ग्रीक और भारतीय जीवन-दर्शन के मौलिक अन्तर का परिणाम कहा जाता है। अंगी रस के रूप में करुण की स्वीकृति तथा 'उत्तर राम-चरित'-जैसी प्रसिद्ध नाट्य-कृति के रहते हुए दुःखान्त नाटक को भारत में वर्जित मानना समीचीन नहीं है। ध्यान से देखने पर कालिदास के विश्व-विख्यात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में करुण तत्त्वों की घनीभूत योजना मिलती है। नायक-नायिका के मिलन का अन्तिम दृश्य एक औपचारिक पूर्ति प्रतीत होता है। कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से करुणोत्पादक अंश ही उसमें प्रबलतम है। अतएव एक सीमा तक रचना-प्रक्रिया के बाह्य रूप पर सांस्कृतिक और दार्शनिक आधार-भिन्नता का प्रभाव मानकर भी ग्रीस और भारत की प्राचीन काव्य-दृष्टि में मौलिक विभेद मानना उचित नहीं है।

रस के पश्चात् अलंकार और रीति-

सिद्धान्त के युग आते हैं। इनका स्रोत भी भरत के नाट्य-शास्त्र और ग्रीस में अरिस्टाटल कृत Rhetorics है। इन सिद्धान्तों का आविर्भाव उस स्थिति की सूचना देता है जब रस इतिवृत्तात्मक हो चला था। उसकी व्याख्या वेदान्तियों, नैयायिकों आदि के हाथों में पड़कर साहित्यिक से अधिक दार्शनिक हो गई और संभवतः जब रस के नाम पर काव्य-रचना में कोरी भावुकता का प्रसार होने लगा। इस समय एक ऐसे सिद्धान्त की आवश्यकता थी, जो काव्य की वास्तविकता में सहायक हो तथा साहित्य के विशिष्ट और व्यक्त स्वरूप की परिभाषा दे। भाव अन्ततः एक सूक्ष्म तत्त्व है; आवश्यकता यह थी कि काव्य-सिद्धान्त में काव्य के अधिक प्रत्यक्ष और स्पृश्य लक्षणों का समावेश किया जाय। यही कार्य अलंकार और रीति-मतों द्वारा सम्पन्न हुआ।

अलंकार केवल पहले से सुन्दर वस्तु को अधिक सुन्दर बनाने के उपकरण नहीं हैं। काव्य के मौलिक स्वरूप से उनका गहरा सम्बन्ध है। आधुनिक युग में जिसे हम बिम्ब-विधान कहते हैं, वही मुख्यतः अलंकारों की वस्तु है। काव्य में बिम्ब-योजना अव्यक्त को व्यक्त रूप प्रदान करती है। काव्य यदि अभिव्यंजना है तो अलंकार उसके अभिव्यक्त स्वरूप के लक्षण हैं। काव्य को देखने पर सर्वप्रथम उसका व्यक्त स्वरूप ही हमारे समक्ष आता है। उसे काव्य की आत्मा मानना अन्ततः काव्य के विशिष्ट स्वरूप की ही प्रतिष्ठा करना है। इस मत ने भाव के साथ काव्य-सिद्धान्त में वास्तविक कलात्मकता का योग भी किया। इस तत्त्व का समावेश आरम्भिक अभाव की पूर्ति करके काव्य-दृष्टि में एक संतुलन की योजना करता है।

व्यवस्था स्थापित करने का यह प्रयास जब बहुत आगे बढ़ गया, तब काव्य-शास्त्र की प्रधानता का युग आरम्भ होता है। रीति-मत ऐसी ही स्थिति का सूचक है। इसमें विशिष्ट पद-रचना को काव्य की आत्मा माना गया है। आशय यह है कि साधारण पद-रचना काव्य नहीं है, काव्य एक प्रकार की उन्नत अभिव्यक्ति है। काव्य की एक विशेषता यहाँ दिखाई तो देती है, किन्तु स्पष्ट ही वह उसके नितांत बाह्य और स्थूल पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली है। रीति मुख्यतः पद-शैली और साहित्य से अधिक भाषा से सम्बन्ध रखती है। आरम्भ में जो पद-रचना या शैली की वस्तु थी, उसे क्रमशः प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों से संयोजित करके अंत में रस या आह्लादक अनुभूति से सम्बद्ध बताया गया। इस क्रमिक प्रक्रिया में काव्य के बाह्य रूप को उसके अंतरंग से समन्वित करने का बौद्धिक प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु तथ्य यह है कि इस भूमिका पर निष्ठित सिद्धान्त को कितना भी ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाय, काव्य की केन्द्रीय वस्तु तक उसकी पहुँच नहीं हो सकती। किन्तु इस मत के आचार्यों ने ठीक यही प्रयत्न किया। यहाँ तक कि रस, अलंकार आदि को अंग-रूप में मानकर उन्होंने रीति के अंतर्गत ही उन्हें पर्यवसित भी कर दिया। रस सिद्धांत में काव्य-परिभाषा यदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती हुई निराकार-सी बन गई, तो रीति मत में स्थूलातिस्थूल होती हुई शरीर-मात्र रह गई। प्राचीन क्लासिकल युग के ये दो सीमान्त हैं, जिनके मध्य में उस समय के काव्य-चिन्तन का सारगर्भ स्वरूप प्राप्त होता है।

क्लासिकल युग की उपर्युक्त रूपरेखा पश्चिम और भारत दोनों जगह मिलती है। दोनों ही जगह सिद्धान्तों के उद्भव और विकास का एक समान क्रम प्राप्त होता है। आरम्भ में नैतिक आग्रह के साथ काव्य की भावाश्रयता और आनन्द प्रदान करने की

शक्ति काव्य-सिद्धान्त का आधार बनी। तत्पश्चात् अलंकारों के द्वारा बौद्धिक और कलात्मक तत्त्व का समावेश करते हुए उसकी मूर्तिमत्ता की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया। अन्ततः रीति में विशुद्ध बहिरंग पर ही ध्यान रह गया। क्लासिकल काव्य-चिंतन की रीति-काल में यह परिणति पूर्व और पश्चिम में समान है। यह लक्षणीय है कि रस और अलंकार दोनों की प्रमुखता के युग में उत्तम काव्य की सृष्टि हुई, यद्यपि उनके स्वरूपों में अन्तर है। 'वाल्मीकि रामायण' में यदि सहज शक्ति है, तो कालिदास के 'रघुवंश' में भारत के स्वर्णकाल और अलंकार दृष्टि का समस्त ऐश्वर्य दिखाई देता है। 'रघुवंश' एक अधिक विकसित सभ्यता का महाकाव्य है। होमर के 'इलियड' और वर्जिल के 'ईनियड' में भी ऐसा ही क्रम है। रस और अलंकार दोनों ही दृष्टियाँ उत्कृष्ट काव्य-निर्माण का साधन बनीं, अतएव यह मानना संगत नहीं होगा कि सिद्धान्त-विशेष के कारण कृतित्व अनिवार्यतः कुण्ठित होता है। इसी प्रकार रीति-मत के वैभव-काल में बाण की 'कादम्बरी'-जैसी विशिष्ट पद-रचना की कला-सृष्टि प्रस्तुत हुई, जो अपने साहित्यिक गौरव में वाल्मीकि और कालिदास की रसात्मक और आलंकारिक कृतियों से भलीभांति टक्कर लेती है।

क्लासिकल युग में उसकी परवर्ती बाह्यार्थवादिता के विरुद्ध सूक्ष्मता की ओर जाने के प्रयास भी लक्षित होते हैं। लौंजाइनस ने रीति-शास्त्र के समस्त तत्त्वों का अतिक्रमण करने वाले औदात्य गुण की कल्पना की और उसे ही काव्य की शक्ति एवं आनन्द प्रदान करने की क्षमता का कारण माना। उसका मत एक उत्तम भावक की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करता है। इसके आगे एक पूर्ण काव्य-सिद्धान्त के रूप में उन्होंने अपने मत का विकास नहीं किया। भारत में भी रीति का प्राबल्य हो जाने पर एक संपूर्ण काव्य-सिद्धान्त के रूप में ध्वनि-मत का आविर्भाव हुआ। जान पड़ता है कि ध्वनि-सिद्धान्त का आरम्भिक प्रयोजन काव्य के मूल द्रव्य रस को उसके नाट्य-शास्त्रीय प्रतिबन्धों से ऊपर उठाकर तथा उसे इतिवृत्तात्मकता या कोरी भावनामयता आदि पतनशील उपादानों से मुक्त करके नया सौंदर्य प्रदान करना था। विभाव, अनुभाव आदि लौकिक पदार्थों के साथ रस की अलौकिकता का सम्बन्ध कार्य-कारण अथवा अनुमापक-अनुमाप्य अथवा गम्य-गमक सम्बन्ध नहीं है, वरन् वह 'व्यंजक-व्यंग्य' सम्बन्ध है। इस निर्देश के द्वारा अभिनव गुप्त ने काव्य-सृष्टि को एक अभिनव उत्कर्ष देना चाहा। परन्तु रीतियुग के प्रतिबन्धों ने इस अप्रतिम ध्वनि-सिद्धान्त को भी एक विशेष प्रकार की अभिव्यंजना-शैली के रूप में परिणत कर दिया।

इस काल के भारतीय काव्य-चिंतन में एक अन्य वैशिष्ट्य भी है। रस, अलंकार रीति प्रभृति तत्त्वों में से एक-एक को काव्य की आत्मा मानकर आचार्यों ने स्वयं सम्पूर्ण काव्य-सिद्धान्तों की सृष्टि की। एक आत्मस्थ तत्त्व में उन्होंने काव्य के शेष समस्त तत्त्वों का समाहार किया। इस प्रकार समीक्षा के अनेक स्वतन्त्र सम्प्रदाय बने। एक समय इनके समन्वय की समस्या उत्पन्न हुई और मम्मटाचार्य ने महत् कार्य सम्पन्न किया। उनके प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्त में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित किसी भी काव्य-तत्त्व की उपेक्षा नहीं हुई। पश्चिम में ऐसे स्पष्ट सम्प्रदायों का उद्भव न होने के कारण इस प्रकार के समन्वय का प्रश्न नहीं उठा।

मध्य-युग सिद्धान्त-निर्माण की दृष्टि से क्षीण है। उसमें मुख्यतः प्राचीन (क्लासिकल) युग की परवर्ती मान्यताएँ प्रचलित रहीं; किन्तु इस समय पश्चिम और भारत की

स्थिति में कुछ अन्तर रहा है। पश्चिम में काव्य और कला पातक मानी जाकर संगठित चर्च द्वारा वर्जित हुई। यह निषेध मनुष्य की कलात्मक प्रेरणा को निर्मूल तो न कर सका, किन्तु साहित्यिक रचना और विवेचना को शिक्षित-समाज के दायरे से बाहर हो जाना पड़ा। इस समय का साहित्य या तो लोक-साहित्य है, या साम्प्रदायिक रहस्यवादियों का साधनात्मक और धार्मिक साहित्य। धर्म और लौकिक जीवन का ऐसा कठोर विभाजन भारत में नहीं हुआ। दोनों ही अपने स्थान पर यथावत् बने रहे। इसीलिए काव्य-चिंतन की क्लासिकल परम्परा का क्रम इस समय भी चलता रहा, किन्तु यह धार्मिक पुनरुत्थान का युग था। नूतन काव्य-शास्त्र इसमें निर्मित न हुआ हो, किन्तु संस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा हिन्दी में सूर, तुलसी-जैसे भक्त कवियों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य-सृष्टि अवश्य हुई। इनकी तुलना में हम पश्चिम के दान्ते का उल्लेख कर सकते हैं। जिन्होंने काव्य को उत्कृष्ट भावों का वाहक स्थापित करके वाहन रूप भाषा पर गम्भीर विचार किया। काव्य की रूढ़ियाँ क्रमागत काव्य-भाषा को किस प्रकार पूर्णतः विजड़ित करके उसे नई अभिव्यक्ति के अयोग्य सिद्ध कर देती हैं, इसका उदाहरण मध्य-युग के इन महान् कवियों की काव्य-वाणी में प्राप्त होता है। रहस्यवादी काव्य-शास्त्र का स्वरूप रूप गोस्वामी के 'उज्वलनीलमणि' में प्राप्त होता है। किन्तु दिव्य और अदिव्य के भेद के अतिरिक्त उसकी समस्त मान्यताएँ लौकिक काव्य-शास्त्र से अभिन्न ही हैं। मध्य-युग के पाश्चात्य साम्प्रदायिक रहस्यवादियों के समतुल हमारा सिद्ध-सम्प्रदाय है। भारत और पश्चिम दोनों के साहित्य के इतिहास में इन्हें सम्मिलित नहीं किया गया। साधना की वस्तु को काव्य-विवेचन के अंतर्गत घसीटने का कार्य अभी हाल का विचलन है।

आधुनिक युग का आरम्भ रीति-पद्धति और स्वच्छन्दतावादी दृष्टि के द्वन्द्व से होता है। बहुत दूर तक हिन्दी के रीति-काल के समान यूरोप में अभिनव परम्परावाद (Neo-classicism) में युग रहा है। उस समय के रूढ़िबद्ध चिन्तन में नई चेतना के समावेश का कार्य लेसिंग और विंकिलमैन ने किया। सिद्धान्तों से दूर हटकर उन्होंने स्वयं ग्रीस की कला-कृतियों का अध्ययन किया। इस प्रकार वे कला और काव्य की अधिक तत्त्वपरक व्याख्या करने में समर्थ हुए। उन्होंने सौंदर्यपूर्ण अभिव्यंजना को काव्य का मूल वैशिष्ट्य माना। पूर्ण विद्रोह की वाणी स्वयं कवियों ने मुखरित की। कोलरिज, शेली, ब्लेक और वर्ड्सवर्थ-जैसे कवियों ने केवल नये काव्य की ही सृष्टि नहीं की, किन्तु उसके साथ नये काव्य-चिन्तन का प्रवर्त्तन भी किया। उन्होंने काव्य में कुछ ऐसे तत्त्वों की केन्द्रीयता मानी, जो क्लासिकल काव्य-दृष्टि के अन्तर्गत समाहित न हो सकी। वैयक्तिक अनुभूति की अनन्यता और कल्पना-तत्त्व का प्राधान्य घोषित करते हुए उन्होंने कल्पना को एक सम्पूर्ण काव्य-सिद्धान्त में परिणत करने का प्रयत्न किया। इस आन्दोलन के परवर्ती काल में जब कुछ कवि वैयक्तिक भावुकता के उद्गारों को ही काव्य मानने लगे, तब गेटे-जैसे प्रतिभाशाली कवि ने काव्य की सामाजिकता पर जोर देते हुए क्लासिकल और स्वच्छन्दतावादी दृष्टियों के समन्वय से एक सन्तुलित काव्य-सिद्धान्त के निर्माण का प्रयत्न किया।

स्वच्छन्दतावाद के पश्चात् पश्चिम में नई-नई काव्य-दृष्टियों का ताँता-सा लग गया। उन सभी की परिगणना करना भी सम्भवतः एक कठिन कार्य है। इनमें से कई सिद्धान्त दस-पाँच वर्षों की अवधि में ही

उत्पन्न, विकसित और कालग्रस्त हुए हैं। इसका प्रधान कारण यह था, कि वे केवल आंशिक रूप में सत्य थे और एक संकीर्ण अंश-मात्र को समस्त काव्य की परिधि बना देने का विचित्र कार्य करना चाहते थे। व्यक्ति-वैशिष्ट्य का आग्रह और नवीन के प्रति अर्चना के भाव को ऐसे प्रवर्त्तनों की प्रेरणा-भूमि कहा जा सकता है। किन्तु कुछ सिद्धांत ऐसे भी हैं जिनका पर्याप्त व्याप्ति से प्रचार हुआ है और जो अभी समाप्त नहीं माने जा सकते। उनके उद्भव की प्रेरणा स्वयं काव्य के विश्लेषण से उतनी नहीं मिली है, जितनी मानवीय ज्ञान के विविध क्षेत्रों में होने वाले विकासों से प्राप्त हुई है। ऐसे सिद्धान्त को कुछ निश्चित प्रकार की श्रेणियों में रखकर आधुनिक युग के सैद्धान्तिक विकास की रूप-रेखा प्राप्त की जा सकती है।

आधुनिक युग का प्रधान सिद्धान्त यथार्थवाद है: वह आदर्शवाद, भावुकता और कल्पनाशीलता के विरोध में उपस्थित हुआ। यह वैज्ञानिक युग का काव्य-सिद्धान्त है; जैसे एक वैज्ञानिक तटस्थ रहकर प्रकृति का अध्ययन करता है, वैसी ही तटस्थता के साथ साहित्य-रचना का उपक्रम इसके अनुयायियों ने किया। यथातथ्य का आग्रह यहाँ तक बढ़ा कि कला की परिभाषा 'यथार्थ—क' कह कर की गई। 'क' लेखक के व्यक्तित्व का तत्त्व है, तटस्थता के समस्त प्रयत्नों के बावजूद कृति में जिसके प्रवेश की सम्भावना बनी रहती है। इस प्रकार लेखक के व्यक्तित्व का पक्ष निषिद्ध ही नहीं, कला में कलंक-स्वरूप माना गया। इस वैज्ञानिक काव्य-दृष्टि का विकास जोला के प्रकृतिवाद में हुआ। वह डार्विन के विकासवाद-सिद्धान्त का युग था। वातावरण और वंशानुक्रम को जो महत्ता उसमें मिली थी, उन्हें लेखक की दृष्टि के लिए भी उतना ही आवश्यक समझा गया। प्राणि-जगत् के अध्ययन और निरूपण के लिए भी वह उपयुक्त और वरेण्य माना गया। अन्य प्राणियों की तुलना में मानवीय व्यक्तित्व और व्यवहार की स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति इसमें सन्निहित है। नीति और आदर्श के आधार पर मानवीय व्यवहार के निरूपण के बदले ऐसे लेखकों ने स्वयं नीति और आदर्श को परिस्थिति से उत्पन्न और उसके द्वारा शासित माना। इस प्रकार वैज्ञानिक जीवन-दर्शन को साहित्य का भी जीवन-दर्शन स्वीकार किया गया।

स्वयं विज्ञान नये विकासों की ओर उन्मुख होता गया, और वैज्ञानिक जीवन-दर्शन के नाम से अनेक दृष्टिकोण आज प्रचलित हैं। मार्क्स ने जिस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रवर्त्तन किया, उसकी साहित्य-क्षेत्रीय शाखा प्रगतिवादी और समाजवादी यथार्थवाद के रूप में प्रसारित हुई। वैज्ञानिकता और यथार्थवादिता का आग्रह इसमें भी जुड़ा हुआ है, अन्तर तो स्वयं यथार्थ की व्याख्या में है। पूर्ववर्ती यथार्थवाद प्रगतिवादियों की दृष्टियों में यांत्रिक भौतिकवाद पर आधारित है, और इस प्रकार अवैज्ञानिक है। वैज्ञानिक यथार्थ का प्रवेश मानवीय व्यक्तित्व के क्षेत्र में भी हुआ और आधुनिक मनोविज्ञान की उत्पत्ति हुई। मानव-प्रकृति की एक नई ही परिकल्पना इसमें प्रतिष्ठित है। वैज्ञानिक और यथार्थ होने के कारण इसकी विधि और सामग्री पर निर्मित साहित्य को भी हम एक प्रकार की यथार्थवादी कृति ही कहते हैं। तथाकथित 'अतियथार्थवाद' मुख्यतः आधुनिक मनोविज्ञान की उत्पत्ति है।

कुछ लेखकों को यथार्थवाद की ये मान्यताएँ संस्कृति-विहीन और अकलात्मक लगीं। प्रतीकवाद के रूप में आने वाला सिद्धान्त यथार्थवाद के विरुद्ध विद्रोही बनकर उपस्थित

हुआ। इसकी अनेक व्याख्याएँ हैं, किन्तु प्रधान वैशिष्ट्य आत्माभिव्यक्ति का आग्रह है। गेटे ने अत्यधिक आत्मपरक होने से स्वच्छन्दतावादियों को सावधान किया था, किन्तु व्यक्तिवादिता प्रतीकवाद का प्रथम आग्रह बनी। अभिव्यञ्जना की नई शैली—प्रतीक शैली—इसमें अपनाई गई। कवि की आत्मा के गहनतर स्तर सामान्य वर्णन की शब्दावली में व्यक्त नहीं हो सकते, अतएव प्रतीक उनकी अभिव्यंजना के अनिवार्य साधन हैं। इस अन्तर्मुख काव्य-दृष्टि को पश्चिम के स्थूल यथार्थवाद और भौतिकवाद के विरुद्ध सांस्कृतिक आन्दोलन कहा गया है, परन्तु इसकी आत्यन्तिक अंतर्मुखता अतिशय व्यक्तिपरक और असामाजिक बन गई है।

इन दोनों अतिवादों के बीच एक तृतीय प्रकार की काव्य-दृष्टि टॉलस्टाय के द्वारा प्रस्तुत की गई। काव्य में भावमयता और प्रेषणीयता को आधार बनाकर उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया कि लेखक को किस प्रकार के भाव सम्प्रेषित करने का अधिकार है? उन्होंने निर्धारित किया कि ऐसे ही भाव कृति की वस्तु होने के योग्य हैं, जो उन्नायक और मंगलमूलक हैं। करुणा और विश्वबन्धुत्व के भावों में यह गुण उन्होंने माना। उनका मत वैज्ञानिक युग की भौतिकवादी दृष्टि की प्रतिक्रिया में उपस्थित हुआ। इसे मानववादी दृष्टि कहा जाता है। कला और जीवन के घनिष्ठतम सम्बन्ध का उल्लेख काव्य-सिद्धान्त के रूप में करने वालों का उद्गम-स्थल टॉलस्टाय के विचार हैं। इसे उपयोगितावादी मत भी कहा गया है। सृजनशील साहित्यकारों में इसके धार्मिक पक्ष का प्रवेश स्वल्प-मात्रा में ही हो सका।

इस काल में दर्शन के क्षेत्र से भी काव्य-सिद्धान्त प्रवर्तित हुए हैं। ब्रेडले और विशेषतः क्रोचे के मत अधिक प्रचलित हैं। इनमें काव्य की मौलिक कलात्मकता का आग्रह और इतर तत्वों को दूर रखते हुए उसके शुद्ध स्वरूप की परिभाषा और व्याख्या का प्रयत्न है। दर्शन के क्षेत्र से प्रस्तुत होने वाला आधुनिकतम सिद्धान्त अस्तित्ववाद है। व्यक्तिवादिता के साथ मूल्य की समस्या पर विचार करना इसकी प्रधान विशेषता है। मानवीय स्वतन्त्रता और परस्पर-भाव-विनियोग की समस्या को इसमें गहराई पर जाकर सोचा गया है।

आधुनिक भारतीय साहित्य और सैद्धान्तिक प्रक्रिया में भी हम लगभग इसी प्रकार का बाहुल्य पाते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि आधुनिक भारत का विकास बहुत-कुछ पश्चिम के प्रभाव तथा उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के अन्तर्गत हुआ है। सिद्धान्त-चर्चा में बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ भी मिल जाती हैं जो पश्चिम से अपने मूल रूप में ले ली गई हैं। परन्तु विशुद्ध राष्ट्रीय चिन्ता-धारा ने उन्हें स्वीकार नहीं किया, वह भारतीय परम्परा के विकास पर ही जोर देती आई है। आधुनिक युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य और समीक्षा पर विचार करके सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाले प्रथम व्यक्ति हैं। नये युग के अनुरूप भारतीय काव्य-सिद्धान्त की खोज में शुक्ल जी ने एक नई व्याख्या प्रस्तुत की। उनका लक्ष्य उसमें सामाजिक तत्व और नवजीवन का समावेश करना था। उनकी तुलना लेसिंग और विंकिलमेन-जैसे आचार्यों से की जा सकती है, जिनके विचारों में पुरातन और नूतन के सम्मिलन का प्रयास है। दूसरी ओर लोक-मंगल को काव्यादर्श के रूप में प्रतिष्ठित करके वे टॉलस्टाय के सहगामी भी बने। वास्तव में साहित्य और जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध की माँग को काव्य-सिद्धान्त में समाविष्ट करने का कार्य उन्होंने किया।

किन्तु शुक्लजी का मत उस काव्य-आन्दोलन का साथ नहीं दे सका, जिसे छायावाद कहा जाता है। इस समय के हिन्दी-कवि शैली, वर्ड्सवर्थ आदि के समान ही स्वच्छन्दतावादी थे। नई काव्य-रचना के साथ नई विचारणा भी उन्होंने अपनाई। रस-सिद्धान्त को जितनी दूर तक खींचा जा सकता था, वह शुक्लजी ने पूरा कर दिया था। अब वह टूटने की स्थिति पर आ गया।

स्वच्छन्दतावाद क्लासिसिज़्म से इतना भिन्न है कि द्वितीय को प्रथम में घटित करना अन्ततः असम्भव-प्राय है। जब कि प्राचीन रस-सिद्धान्त वर्णनात्मक और बाह्यार्थवादी काव्य का उन्नायक और पोषक रहा है, स्वच्छन्दतावाद अंतरंग अनुभूति और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नये आदर्शों को लेकर सामने आया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अनेक नवीन तत्त्वों का समावेश करते हुए भी, उसके केन्द्र में प्रतिष्ठित नैतिक विधान को ज्यों-का-त्यों रहने दिया था। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने उसे अपने योग्य नहीं पाया और ऐकान्तिक कल्पना-तत्त्व तथा वैयक्तिक अनुभूति की अनन्यता के रूप में ऐसे तथ्यों को प्रधानता दी, जिनका प्राचीन रस-सिद्धान्त में समावेश नहीं था। एक नये सांस्कृतिक प्रवर्त्तन के लिए क्रमागत काव्य-सिद्धान्त में भी आमूल संशोधन की आवश्यकता थी। इसे एक सीमा तक छायावादी समीक्षकों ने पूरा किया। रस-सिद्धान्त को उसके समस्त कालगत-भार से मुक्त करके अनुभूति-मात्र बना दिया गया। ऐतिहासिक क्रम से जड़ी हुई असंख्य अमूल्य उपकरणों वाली उसकी अधिकांश गृहस्थी छीन ली गई और उसे व्यक्ति-मात्र बनाकर अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया। छायावादी समीक्षकों ने नई जीवन-दृष्टि तथा नई सैद्धान्तिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में राष्ट्रीयता के तत्त्व को सुरक्षित रखा।

आज पश्चिम की तरह हिन्दी में भी वाद-बहुलता का युग आया जान पड़ता है। यथार्थवाद, प्रगतिवाद, अतियथार्थवाद, प्रतीकवाद आदि के नाम यहाँ भी प्रचलित हुए हैं। इन सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनके पुरस्कर्ता इनमें अपने सक्रिय चिन्तन का योग करने में प्रायः असमर्थ रहे हैं। इनकी मौलिक रूपरेखा तक पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रस्तुत और प्रचारित नहीं की गई है। जहाँ तक इनके प्रयोग द्वारा साहित्य-सर्जना का प्रश्न है, वहाँ भी पश्चिम और हमारे कृतित्व में पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। इनकी उत्पत्ति में पश्चिम की ऐतिहासिक परिस्थिति की गहरी प्रेरणा है और इस प्रकार वहाँ के वास्तविक जीवन में भी वे बहुत घुले-मिले हैं। आधुनिक जगत् की परिस्थितियों को देखते हुए भारत में उनका आगमन कोई अनहोनी बात नहीं है, किन्तु अपनी वास्तविक जीवन-स्थिति और चेतना-स्तर के साथ उनका उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करना भी आवश्यक है। ऐसा न होने पर हमारी अधिकांश चिन्तना नितान्त अव्यावहारिक और कोरी सैद्धान्तिक बनती जायगी तथा हमारी वास्तविक जीवन-स्थिति से उसका कोई सम्बन्ध न रहेगा। वह पश्चिम की आरोपित छाया-मात्र बन जायगी। सैद्धान्तिक प्रगति और सृजन दोनों के ही नाम पर वर्तमान परिस्थिति हमारे स्वतन्त्र चिन्तन की माँग करती है।

निबन्ध

डॉ० रामलालसिंह

रस-सिद्धान्त का क्रमिक विकास

किसी जाति की धार्मिक तथा दार्शनिक दृष्टि के अनुसार ही उसके भावात्मक जीवन का निर्माण होता है, जिसकी अभिव्यक्ति उसकी कला तथा साहित्य के माध्यम से होती है। प्रत्येक देश में साहित्य-सिद्धान्तों का उद्भव उसके निवासियों के जीवन तथा रचनात्मक साहित्य के आधार पर होता है। हिन्दू-धर्म तथा दर्शन के मूल सिद्धान्त — लोक-धर्म तथा वेद, उपनिषद् आदि उसके प्राचीन वाङ्मय में निहित लोक-मंगल की भावना की महती प्रेरणा रस के आविष्कार के पीछे दिखाई पड़ती है। रस-सिद्धान्त के निर्माण की मूल प्रेरणा साहित्य के आचार्यों को वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थों से मिली, जहाँ रस शब्द का प्रयोग आनन्दमयी परम चेतना, अलौकिक आनन्द, वास्तविकता, चरम सत्य, समाधि-दशा आदि के अर्थ में हुआ था।

रस-सिद्धान्त का उपलब्ध सबसे पुराना ग्रन्थ आज भरत मुनि द्वारा प्रणीत 'नाट्य-शास्त्र' ही मिलता है; किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसके पहले रस-सिद्धान्त का किसी आचार्य को पता ही नहीं था, क्योंकि भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में भरत पूर्व रसाचार्यों में तुण्ड तथा वासुकि नारद का, राजशेखर के 'काव्य-मीमांसा' में नंदिकेश्वर का, शारदातनय के 'भावप्रकाश' में वासुकि, सदाशिव, अगस्त्य, व्यास, नन्दिकेश्वर, वृद्ध भरत, आंजनेय आदि का उल्लेख मिलता है, किन्तु इन भरतपूर्व आचार्यों के ग्रन्थ अप्राप्य हैं। उपर्युक्त आचार्यों में से कतिपय आचार्यों के दो-एक श्लोक रस-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों[1] में दिखाई पड़ते हैं। भरत के अत्यन्त प्रशंसक और उनकी स्थिति के प्रबल समर्थक आचार्य अभिनव गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि नाट्यशास्त्र में कई स्थानों पर पूर्वाचार्यों के ऐसे मत मिलते हैं, जिनको मुनि ने यथास्थान उद्धृत किया है। भरत मुनि ने अपने रस-विवेचन के प्रसंग में कई श्लोकों को आनुवंश्य कहा है। इससे अनुमान लगाना सरल है कि भरत के पूर्व रस-विवेचन की एक लम्बी परम्परा वर्तमान थी। नाट्यशास्त्र के छठे तथा सातवें अध्याय में

१. 'अभिनव भारती', पृष्ठ ३२८ तथा 'भाव प्रकाश', पृ० ३६-३७।

रस का विस्तृत एवं व्यवस्थित विवेचन देखकर यह विदित होता है कि यह विवेचन कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है। इसके पूर्व शताब्दियों तक रस के तत्त्वों तथा सिद्धान्तों पर वाद-विवाद होता रहा होगा। अतः रस-सिद्धान्त के क्रम-विकास का विवेचन करते समय यह जानना आवश्यक है कि भरत के पूर्व रस-सिद्धान्त की क्या स्थिति थी।

नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में मुनियों के प्रथम दो प्रश्न[1] तथा भरत मुनि द्वारा बताये गए इनके उत्तर[2] एवं भाव-प्रकाश के एक श्लोक[3] से विदित होता है कि भरत के पूर्व रस-विवेचन में विवाद का सबसे मुख्य विषय यही था कि रस भाव से उत्पन्न होता है या भाव रस से। 'नाट्यशास्त्र' के छठे तथा सातवें अध्याय में वंश-परम्परा से प्राप्त भरत मुनि द्वारा उद्धृत श्लोकों[4] की सामग्रियों से रस-सिद्धान्त के विषय में निम्नांकित बातें ज्ञात होती हैं जो भरत के पूर्व ही आविष्कृत हो चुकी थीं—रस का आस्वादन सहृदय लोग करते हैं, रस आस्वाद्य स्वरूप है। रस-स्थिति में रस के तत्त्वों का संश्लेषण हो जाता है। वंश-परम्परा से प्राप्त भरत मुनि द्वारा उद्धृत कई श्लोकों[5] की सामग्रियों से रस के विषय में यह भी विदित होता है कि भरत के पूर्ववर्ती आचार्य रस-संख्या से भी परिचित हो चुके थे। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र में प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोकों से यह भी प्रकट होता है कि भरत के पूर्ववर्ती आचार्य रसावयव, रस-परिभाषा, रस-प्रक्रिया आदि से भी न्यूनाधिक रूप में परिचित थे।

उपर्युक्त परिस्थिति में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि रस-सिद्धान्त के विकास में फिर भरत मुनि की देन क्या है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने परम्परा-प्राप्त रस-सिद्धान्त की सामग्री को व्यवस्थित एवं सुनिश्चित रूप प्रदान किया। रसावयव, रस-प्रक्रिया, रस-संख्या, रसाधिकारी, रस-स्वरूप, रस-रहस्य, रस-दशा, रस की परमावधि तथा रसावयवों के पारस्परिक सम्बन्ध की विस्तृत व्याख्या की।

रस-सिद्धान्त-सम्बन्धी उपर्युक्त तत्त्वों की भरत मुनि ने ऐसी व्याख्या की कि आगे चलकर वही व्याख्या विकसित एवं विस्तृत की गई। भरत का रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी सूत्र—"विभावानुभाव संचारी भाव संयोगाद्रस निष्पत्ति" परवर्ती रसाचार्यों के रस-विवेचन एवं रस-सिद्धान्त के विकास का मूल आधार बना। भाव, विभाव, अनुभाव एवं संचारियों का मनोवैज्ञानिक विवेचन नाट्यशास्त्र की अनुपम देन है। यद्यपि भरत मुनि के समय तक भारतवर्ष में आधुनिक मनोविज्ञान का आविष्कार नहीं हुआ था, फिर भी उन्होंने अपने अन्तर्निरीक्षण द्वारा रस-सिद्धान्त के विवेचन के प्रसंग में रसावयवों, मानवीय संवेगों, प्रवृत्तियों, संचारियों, अनुभावों, विभावों आदि का जो मार्मिक विश्लेषण उपस्थित किया है वह आश्चर्यजनक रूप से वर्तमान मनोवैज्ञानिक शोध से मेल खाता है। रस के मान्य

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय, श्लोक २-३।
२. वही, श्लोक ६ से ३८ तक।
३. भावप्रकाश, पृ० ३६-३७।
४. नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्यायः, ३२-३३।
५. वही, षष्ठोऽध्यायः, ४६, ६२, ६३, ६४, ६५, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२।

आद्याचार्य होते हुए भी भरत मुनि ने रस के लौकिक, सामाजिक तथा नैतिक स्वरूप का जैसा उद्घाटन किया है, वही आगे चलकर परवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत, विकृत एवं विकसित हुआ है। भरत रस की व्याख्या में किसी दार्शनिक पूर्वग्रह से गृहीत नहीं हैं, उन्होंने रस की समस्या को कहीं दार्शनिक समस्या नहीं माना है, उसकी व्याख्या सर्वत्र लौकिक भूमि पर ही की है। रस का यही लौकिक स्वरूप आज भी वैज्ञानिक समझा जाता है।

उन्होंने नाटक का मुख्य लक्ष्य सामाजिक के हृदय में रसोत्पत्ति कराना माना है। इसीका व्यापक रूप आज साहित्य का ध्येय रस-संचार या भाव-संचार माना जा रहा है। उन्होंने नाटक का सर्वातिशायी तत्त्व—रस माना, अन्य तत्त्वों को उसका उपकारक घोषित किया; काव्य-तत्त्वों का यही सम्बन्ध आज साहित्य के क्षेत्र में वैधानिक माना जा रहा है। रस-सम्बन्धी पूर्वागत विवादात्मक प्रश्नों के दिये हुए भरत मुनि के उत्तर भी बहुत ही तार्किक तथा वैज्ञानिक कोटि के हैं। उदाहरणार्थ, भाव एवं रस के विषय में दिया हुआ उनका उत्तर कि भाव स्थान-भेद से रस को उत्पन्न करते हैं, एवं रस से उत्पन्न भी होते हैं।[1] भरत मुनि ने आठ रसों को ही मुख्य रस स्वीकार किया है।[2] शान्त रस को इस गणना में शामिल न करने का मुख्य कारण इसकी सामाजिक अनुपयोगिता थी। निर्वेद की स्थिति को सामाजिक के चित्त में उत्पन्न कराने का प्रयत्न उचित नहीं माना जाता था। इससे यह विदित होता है कि आचार्य भरत रस अथवा साहित्य की सामाजिकता पर सबसे अधिक बल देते हैं। साहित्य की सामाजिक सार्थकता उसी रूप में आज भी मान्य है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भरत मुनि ने रस-सिद्धान्त का सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित शिलान्यास ही नहीं किया वरन् रस-सिद्धान्त के आधार पर साहित्य-शास्त्र की भूमिका भी प्रस्तुत की।

विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इस सूत्र से सम्बन्धित कई प्रश्न उठते हैं। संयोग किसके साथ होता है? संयोग क्या है? रस-निष्पत्ति से क्या तात्पर्य है? रस की निष्पत्ति किसमें होती है और क्यों? संयोग तथा निष्पत्ति इन दो शब्दों में ऐसी गूढ़ता छिपी है कि इनके कई अर्थ हो सकते हैं। सूत्रगत इसी गूढ़ता के कारण रस के परवर्ती आचार्यों ने संस्कृत-साहित्य में अपने विभिन्न दर्शनों की पृष्ठभूमि में उपर्युक्त विभिन्न प्रश्नों के उत्तर विभिन्न ढंग से दिये हैं; जिनमें इन शंकाओं का शास्त्रीय एवं यथार्थवादी ढंग से समाधान प्रस्तुत किया गया है। अर्थात् रस-सिद्धान्त का प्रायः सारा विकास भरत के इसी प्रसिद्ध सूत्र को आधार मानकर हुआ है।

अलंकार को काव्य की आत्मा घोषित करने वाला आचार्य भामह रस-सिद्धान्त का पहला विरोधी आचार्य था, जिसने रस की सीमा को अत्यन्त संकीर्ण करके उसे कतिपय अलंकारों—प्रेयस रसवत् तथा ऊर्जस्वी के भीतर समाहित करने का प्रयत्न किया। भामह ने अलंकार के माध्यम से काव्य के कल्पना पक्ष पर सबसे अधिक बल दिया, इसलिए भाव-पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले रस-तत्त्व की उपेक्षा उससे हो गई।

दण्डी रस को काव्य में भामह की अपेक्षा कुछ अधिक स्थान देते हैं। वे रस का

१. नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्यायः, ३६-३७।
२. वही, षष्ठोऽध्यायः, ८३।

समावेश अलंकार के साथ-साथ गुण के भीतर भी करते हैं। उनके मत से रसवत् रचना में माधुर्य गुण रहता है।[1] इस प्रकार वे प्रकारान्तर से रस और गुण में अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अपने 'काव्यादर्श' में एक स्थान पर वे अलंकारों का पर्यवसान रस में करते हुए दिखाई पड़ते हैं,[2] किन्तु इस-सिद्धान्त का निर्वाह वे सर्वत्र नहीं कर पाते।

वामन रस का समावेश कान्ति-गुण के भीतर करते हैं।[3] इस प्रकार वे रस को काव्य में भामह तथा दण्डी से कुछ अधिक स्थान देते हैं। वामन ने काव्य के अनित्य एवं गौण धर्म—अलंकार में रस का समावेश न करके काव्य के नित्य एवं प्रधान गुण कान्ति के भीतर रस का अन्तर्भाव किया और इस प्रकार भामह, दण्डी आदि की अपेक्षा रस को अधिक उचित एवं महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वामन ने काव्य में रस को उचित महत्त्व दिया, क्योंकि वे रस का समावेश कान्ति गुण के भीतर करते हैं और गुण को रीति का प्राण तथा रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं और अन्त में रीति का स्वरूप बहुत व्यापक करके उसके भीतर रस, गुण, अलंकार आदि तत्त्वों को समाहित कर देते हैं।

उद्भट अलंकार मत के अनुयायी होते हुए भी भामह की अपेक्षा रस के अधिक पृष्ठपोषक हैं। उन्होंने रसवत् प्रेयस, ऊर्जस्वी, अलंकारों के अतिरिक्त समाहित के भीतर भी रस का सन्निवेश किया है। इनकी दृष्टि में जहाँ रस, भाव, रसाभास एवं भावाभास दबी या अविकसित अवस्था में रहते हैं, वहाँ समाहित अलंकार की सृष्टि होती है। इस प्रकार रस के स्वरूप को समझने में इन्होंने भी भ्रान्ति की है। रस के विषय में इन्होंने सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि अन्य आठ रसों के समान शान्त रस का भी एक स्वतन्त्र स्थान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भामह, दण्डी, वामन, उद्भट आदि आचार्य रस-विरोधी आचार्य थे। उनके विवेचन का मुख्य विषय—काव्यशास्त्र (Poetics) था; सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) नहीं। उपर्युक्त आचार्य वर्णनावादी हैं, चर्वणावादी नहीं। अतः उनका लक्ष्य काव्य के वर्णन-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्वों का उद्घाटन करना है। इसी कारण काव्य के चर्वणा पक्ष से सम्बन्धित रस-सिद्धान्त का उल्लेख उनके विवेचन में केवल प्रासंगिक रूप में मिलता है। अतः रस-सिद्धान्त के विकास में इनसे यदि कोई योगदान नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'अभिनव भारती' से विदित है कि भट्टलोल्लट का समय उद्भट के पश्चात् आता है। भरत-सूत्र के ये प्रथम व्याख्याकार हैं। इन्होंने अपनी मीमांसा-निगड़ित दृष्टि से रस की व्याख्या की है। जिस प्रकार पुरोहित के माध्यम से यज्ञादि का फल यजमान को होता है, तद्वत् अभिनेता के माध्यम से दर्शकों को रस की प्रतीति होती है। उन्होंने निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति तथा संयोग का अर्थ सम्बन्ध लिया है, और कार्य-कारण-भाव से रस की मूल स्थिति अनुकार्य (नायक-नायिका) में मानी है। अर्थात् रस को विषयगत माना है। इस प्रकार

१. मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। (काव्यादर्श)
२. कामं सर्वेऽप्यलंकारः रसमर्थे निषिञ्चति। (काव्यादर्श)
३. दीप्तरसत्वं कान्तिः। (काव्यालंकार सूत्र)

उन्होंने रस को वर्ण्य-वस्तु (Aesthetic Object) के रूप में विवेचित किया है। अभिनव गुप्त इन्हें रसोत्पत्तिवादी इसलिए मानते हैं कि भट्टलोल्लट की दृष्टि में रस प्रथम नायक अथवा नायिका में उत्पन्न होता है। दर्शक नायक अथवा नायिका में उत्पन्न रस का आरोप अपनी सहानुभूति तथा अभिनेताओं के अभिनय-कौशल के कारण नट-नटी में करता है। नट-नटी के अभिनय के माध्यम से सामाजिक के हृदय में रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार सामाजिक का रसास्वादन अपरागत है। ये स्थायी भाव को वासना-रूप में नायक में स्थित मानते हैं। इस मत के अनुसार रस वाच्य होता है, व्यंग्य नहीं।

भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद में बहुत-सी भ्रान्तियाँ हैं, तथा उनके विवेचन से कई शंकाओं का समाधान नहीं होता; जैसे, भ्रान्तियों में—उन्होंने अनुकृति तथा अनुभूति को एक मान लिया है, रस को वाच्य कहा है, जो वस्तुतः व्यंग्य होता है। स्थायी भाव की स्थिति केवल नायक में मानी है, सहृदय में नहीं, इसीलिए उसके रसास्वादन को अपरांगत कहा है, जो नितान्ततः भ्रान्तिपूर्ण है। इन्होंने वस्तुतः रसानुभूति का विवेचन न करके रस के विषय का ही विवेचन अधिक किया है। इस भ्रान्ति का मूल कारण यही था कि उन्होंने रस को केवल विषयगत समझा, विषयीगत नहीं।

इनके रस-विवेचन से कई शंकाओं का समाधान भी नहीं होता। जैसे, उनके मतानुसार यदि अनुकार्य में रस की स्थिति मानी जाय तो उनके अनुभव तो लौकिक सुख-दुखों के रूप में होते हैं तो फिर उसे रस कैसे कहा जाय? और फिर उनसे प्रेक्षकों में रस की प्रतीति कैसे मानी जाय। स्थायी भाव तो अनुकार्य में है, तब अभिनेता में आरोप करने से प्रेक्षकों में रसानुभूति कैसे और किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है? प्रेक्षक में न स्थायी भाव है, न विभावादि कारण; तो उसे आनन्द कैसे होगा? प्रेक्षकों ने अनुकार्यों को कभी देखा नहीं तो फिर वे अनुकर्त्ता में अनुकार्य का आरोप कैसे कर लेते हैं। यदि प्रेक्षक में केवल रस की प्रतीति मानते हैं, तो रसानुभूति केवल प्रतीति-मात्र है, हार्दिक अनुभूति नहीं? भट्ट लोल्लट के रस-विवेचन में उपर्युक्त भ्रान्तियों तथा शंकाओं के रहते हुए भी रस के सैद्धान्तिक विकास में इनका योगदान विस्मृत नहीं किया जा सकता। रस के सैद्धान्तिक विकास की दृष्टि से उत्पत्तिवाद का सम्बन्ध रस के विषय-पक्ष से है। उन्होंने रस-विषय की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि रस के लिए उपयुक्त विषय वही है जो स्थायी भावों को जगा सके, घनीभूत कर सके। उन्होंने अनुकार्य में रस की स्थिति मानकर रस को विषयगत ही माना है, इस प्रकार काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार उत्पत्तिवाद काव्य की निर्माणात्मक प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। कवि काव्य-प्रेरणा के समय जगत् के वास्तविक नायक-नायिकाओं में रस की सत्ता पाने ही से काव्य-रचना में प्रविष्ट होता है। रस के विषय में दूसरी प्रमुख बात उन्होंने यह कही है कि उसमें आलम्बन तत्त्व की प्रमुखता होती है। इनके मतानुसार किसी ऐतिहासिक या वास्तविक व्यक्ति को कल्पना के माध्यम द्वारा किसी विशेष भाव-व्यंजना के लक्ष्य से काव्य के नायक या नायिका रूप में उपस्थित करने की चेष्टा ही काव्य है।

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात रस के सम्बन्ध में उन्होंने यह कही है कि रस प्रत्यक्ष मानव-जीवन में भी है। इसे ही शुक्लजी ने प्रत्यक्ष रूप-विधान के रूप में विवेचित किया है।

इसके अतिरिक्त भट्टलोल्लट ने रसानुभूति के मूल तत्त्व सहानुभूति की ओर सफल संकेत किया है।

भट्टलोल्लट के पश्चात् रुद्रट प्रथम आलंकारिक हैं जिन्होंने रस का विवेचन स्वतन्त्र रूप से करते हुए अपने पूर्ववर्ती विरोधी काव्य-सिद्धान्तों को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। उन्होंने अपने असंदिग्ध शब्दों में यह घोषित किया है कि रस के सम्यक् परिचय के बिना कविता नीरस हो जाती है :

एतो रस रसवतो रमयन्ति पुंस :
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं।
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।[1]

इनकी दृष्टि में रस ही काव्य को श्रेष्ठ बनाता है। अतः ये कवियों को काव्य में यत्नपूर्वक रस लाने का आदेश देते हैं।

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसेन युक्तम्।[2]

रस पर लिखने वालों में ये प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्रेयस् नामक रस का आविष्कार करके रस-संख्या की पाम्परागत धारणा में परिवर्तन उपस्थित किया। इन्होंने सर्वप्रथम वीर रस के युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर तीन भेद किये। सर्वप्रथम इन्होंने शृंगार रस की श्रेष्ठता प्रतिपादित की तथा विप्रलम्भ के तीन भेद—पूर्वराग, मान और करुणा निरूपित किये। आचार्य रुद्रट व्यभिचारी भावों को स्थायी भाव की क्षमता रखने पर रस-परिपाक के योग्य मानते हैं।[3] रुद्रट प्रथम प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य-तत्त्वों द्वारा काव्य-पुरुष का रूपक खड़ा करके रस का श्रेष्ठत्व सिद्ध किया है। उस रूपक में इन्होंने बतलाया है कि शब्दार्थ काव्य के शरीर हैं, अलंकार उनके अनित्य भूषण है; रस-सौन्दर्य आदि के समान काव्य के सहज धर्म हैं, तथा रीति रस की परिपोषक है।

इसके पश्चात् शंकुक ने अपनी नैयायिक दृष्टि से रस का विवेचन किया है। इन्होंने न्याय के प्रसिद्ध सिद्धान्त अनुमान की प्रक्रिया द्वारा रस-सूत्र की व्याख्या की है। इनके मतानुसार स्थायी भाव तो वास्तव में नायकादि अनुकार्यों में रहता है, पर वही कुशल अभिनेताओं के कौशलपूर्ण अभिनय द्वारा अनुकृत होने पर रस की संज्ञा धारण करता है। लोल्लट के समान यहाँ अभिनेताओं में नायक आदि पात्रों के आरोप के कारण रस की प्रतीति नहीं मानी गई है, वरन् वह प्रेक्षकों का एक प्रकार का आनंद माना गया है जिसका आधार है अनुमान—अर्थात् मुख्य स्थायी भाव के सदृश स्थायी भाव प्रेक्षकों को अभिनय-कौशलों के कारण तद्वत् अनुकरण से नटादि में उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। यह प्रतीति सामाजिक को अनुमान प्रक्रिया द्वारा होती है, और इसी अनुमिति ज्ञान से सामाजिकों को आनंद मिलता है। इस प्रकार श्री शंकुक नायक आदि में स्थायी भाव की स्थिति मानते हुए भी सामाजिकों की रसानुमिति में उनके अनुमिति का सहारा लेने के कारण रस को विषयीगत

१. 'काव्यालंकार', १२-४।
२. वही।
३. 'काव्यालंकार', १२-४।

दोनों सिद्ध करते हैं। इस प्रकार रस के सैद्धान्तिक विकास में श्री शंकुक भट्टलोल्लट से एक कदम आगे बढ़कर रसानुभूति की प्रक्रिया को विवृत्त करने का प्रयत्न करते हुए दिखाई पड़ते है।

भट्टलोल्लट रस को केवल विषयगत मानने के कारण केवल रस-विषय Aesthetic object की व्याख्या तक ही अपने को सीमित रखते हैं। श्री शंकुक भरत के रस के सूत्र के व्याख्याकारों में प्रथम आचार्य हैं, जो रस को Aesthetic experience सौन्दर्यात्मक अनुभूति मानते हैं। शंकुक के पश्चात् उनके सभी परवर्ती रसाचार्यों ने रस को Aesthetic experience के रूप में ही विवेचित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार श्री शंकुक रस-प्रक्रिया तथा रस-स्वरूप के विवेचन में मौलिक योगदान देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

रस के सैद्धान्तिक विकास में श्री शंकुक के इस मौलिक योगदान को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि उनके रस-विवेचन में भी अनेक भ्रांतियाँ थीं—इनके विवेचन पर न्यायसिद्धान्त का सर्वाधिक प्रभाव है, इसलिए वे रस को अनुमिति-प्रक्रिया द्वारा सिद्ध करके उसे एक प्रकार का निर्णय मानते हुए दिखाई पड़ते हैं तथा अनुमिति ज्ञान को प्रत्यक्षानुभवजन्य ज्ञान से अधिक प्रभावशाली तथा अधिक आनंद देने वाला मानते हैं, जो अनुभव तथा प्रमाण दोनों दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण है। हृदय की वस्तु का अनुमान नहीं कराया जाता, उसकी तो अनुभूति ही होती है, क्योंकि यदि अपनी ही अनुभूति अपने को ही अनुमिति के द्वारा प्रकट होने लगे तो वह प्रत्यक्ष किसे होगी। प्रमाण की दृष्टि से यदि किसी नाटक को देखकर लौटने वाले से पूछा जाय कि तुम अब तक क्या कर रहे थे तो वह सदा यही उत्तर देगा कि मैं नाटक का आनंद ले रहा था, वह यह कभी नहीं कहेगा कि मैं रंगशाला में रस की अनुमिति कर रहा था!

शंकुक के मतानुसार अनुकार्य एवं अनुकर्ता के साम्य का कारण न सम्यग् ज्ञान है, न मिथ्या ज्ञान, वरन् शुक्ति में रजत के आभास के समान एक प्रकार का भ्रम ज्ञान है जिससे नट में नायक की मनःस्थिति का अनुमान किया जाता है। और यही अनुमिति ज्ञान प्रेक्षक को आनन्द देने वाला कहा गया है, किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि भ्रमजन्य ज्ञान अलौकिक आनंद की सृष्टि कभी नहीं कर सकता।

श्री शंकुक के रस-विवेचन में चित्र-तुरंग-न्याय के उदाहरण से जान पड़ता है कि उन पर चित्रकला का भी बहुत प्रभाव है। इसलिए वे अनुकृति तथा अनुभूति को एक मानते हैं, जो भ्रमपूर्ण है। चित्र-तुरंग-न्याय बालक या बाल बुद्धि वालों के लिए विश्वसनीय हो सकता है, सुसंस्कृत प्रेक्षकों के लिए नहीं।

यदि यह मान लिया जाय कि प्रेक्षक नट से तादात्म्य स्थापित करके सदैव नायक के ही भावों का अनुभव करता है तो रस को सदैव आनंद स्वरूप मानने में बाधा पड़ती है। आलम्बन के प्रति नायक की जो भावना है उसका प्रेक्षक के हृदय में यदि उत्पन्न होना मानें तो वह सीता आदि पूज्य देवियों के विषय में कैसे निभेगी। इस प्रकार की कठिनाइयाँ आगे चलकर भट्टनायक के 'साधारणीकरण' सिद्धान्त द्वारा दूर हुईं।

शंकुक के पश्चात् रुद्रभट्ट का समय आता है जो काव्य के प्रसंग में रस की महत्ता व्यापक रूप में स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य हैं। ये रस को अलंकारों के भीतर रखने

के पूर्ण विरोधी हैं। इनके मत से काव्य रस के बिना वैसा ही अरमणीय है, जैसे चन्द्र के बिना रात्रि।

इसके पश्चात् ध्वनि प्रतिष्ठापकाचार्य आनंदवर्धन का समय आता है, जिन्होंने ध्वनिवादी होते हुए भी रस के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया तथा उसकी आस्वादन-प्रक्रिया, व्याप्ति तथा स्वरूप को विवृत्त करते हुए उसके सैद्धान्तिक विकास में योगदान दिया। आनंदवर्धन ने सर्वप्रथम काव्य तथा नाटक दोनों में उसे जीवितभूत का स्थान देकर उसकी व्याप्ति को विस्तृत किया तथा उसके उचित स्थान को स्पष्ट किया। उन्होंने काव्य-मात्र का मुख्य प्रयोजन रस बतलाया तथा उसकी सिद्धि हेतु शब्द, अर्थ, अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, औचित्य, वक्रोक्ति, रीति, संधि, संध्यंग, घटना आदि का उप-निबन्धन करना कवि का धर्म।

आनन्द काव्य की आत्मा ध्वनि तथा ध्वनि-काव्य को सर्वश्रेष्ठ काव्य एवं ध्वनि को ध्वनियों में सर्वश्रेष्ठ ध्वनि कहकर प्रकारान्तर से रस की ही श्रेष्ठता प्रतिपादन में योगदान देते हैं। 'ध्वन्यालोक' के भीतर सर्वप्रथम रस का सम्बन्ध काव्य के अन्य तत्त्वों — अलंकार, रीति, गुण, औचित्य, वक्रोक्ति से स्थापित करके इन सबकी गम्भीर व्याख्या की गई तथा रस-ध्वनि द्वारा सबका समन्वय किया गया। उस समन्वय-सूत्र का ग्राहक तत्त्व रस ही घोषित किया गया। इस प्रकार काव्य के विविध तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का विलीनीकरण रस में हुआ। आनन्द-वर्धन ने ध्वनि तथा रस को एक-दूसरे से संयुक्त करके, एक-दूसरे को असंभूत तत्त्व कहकर के रस के भीतर एक समाहित उत्कर्ष लाने का प्रयत्न किया। आनंद ने ही सर्वप्रथम रसाभि-व्यक्ति की प्रक्रिया को व्यंजना-प्रक्रिया से सिद्ध करके उसकी प्रकृति को व्यंजनात्मक बनाया तथा इसके द्वारा उसे रमणीयता, सूत्रकता, नवनवोन्मेषशीलता, प्रभविष्णुता आदि सिद्धान्तों से संपृक्त किया। व्यंजनात्मक प्रकृति के कारण रस में साहचर्य सिद्धान्त का समावेश हुआ। अनौचित्य को रस-भंग का कारण कहकर उन्होंने रस में नीति-तत्त्व का बल पूर्वक समावेश किया। औचित्य के समावेश से रस सिद्धान्त में संगति ,व्यवस्था, अनुपात आदि गुण स्वयं आ गए। रस की प्रकृति व्यंजनात्मक सिद्ध होने से इस काल में उसकी लोकोत्तरता नामक विशेषता को स्पष्ट होने में विशेष योगदान मिला। आनन्दवर्धन ने रसाभिव्यंजक हेतुओं के भीतर वस्तु तत्त्व-चरित्र, चित्रण-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व, काव्यादर्श-तत्त्व, परिस्थिति आदि का समावेश करके रस की व्याप्ति को बहुत विस्तृत किया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आनंदवर्धन द्वारा रस के सम्बन्ध, स्वरूप, प्रक्रिया, प्रकृति तथा व्याप्ति को विवृत तथा विकसित होने में पूववर्ती रसाचार्यों की तुलना में सबसे अधिक योगदान मिला।

आनन्दवर्धन के पश्चात् रस-सिद्धान्त के विकास में अग्निपुराणकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ विद्वान् 'अग्निपुराण' को भरत मुनि के पहले की रचना सिद्ध करते हैं। किन्तु इसमें भामह, दण्डी, आनंद आदि द्वारा निरूपित काव्य-तत्त्वों का संकलन एवं विवेचन देखकर यह सिद्ध होता है कि इनका समय आनंदवर्धन के उपरान्त ही आता है। ये काव्य में रस की सर्वाधिक महत्ता मानने के साथ-साथ शृङ्गार की प्रधानता भी मानते हैं। अग्निपुराणकार ने रस को आनंद-स्वरूप, चैतन्य-स्वरूप एवं ज्योति-स्वरूप कहकर उसके

दार्शनिक स्वरूप के विवेचन का प्रयत्न किया है।

इनके पश्चात् राजशेखर का समय आता है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'काव्य-मीमांसा' में काव्य-पुरुष के रूपक-विरूपण के समय काव्य-तत्त्वों का अलग-अलग स्थान निश्चित करते हुए रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। यद्यपि रस-सिद्धान्त का और अधिक विवेचन काव्य-मीमांसा में नहीं मिलता तथापि इस प्रकार मान्य रूप में रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित देखकर यह अनुमान लगाना सरल है कि राजशेखर के समय तक रस-सिद्धान्त काव्य के सर्वातिशायी सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था, तथा आचार्यगण काव्य के अन्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा एवं विवेचन करते हुए रस को काव्य में सर्वोपरि स्थान देते थे।

राजशेखर के पश्चात् भरतसूत्र के तीसरे प्रसिद्ध व्याख्याता भट्टनायक का समय आता है। इन्होंने अपनी सांख्यसम्मत दृष्टि से रस-सूत्र की व्याख्या की है। इनकी दृष्टि में निष्पत्ति का अर्थ है—भुक्ति तथा संयोग का अर्थ है भोज्य-भोजक-भाव-संबंध। उन्होंने रसानुभूति की प्रक्रिया में तीन अवस्थाएँ मानी हैं—अभिधा, भावकत्व एवं भोजकत्व। अभिधा व्यापार द्वारा सहृदय शब्दार्थ ज्ञान करते हुए समस्त प्रसंगों की विशिष्ट स्थिति का बोध करता है, फिर भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है, और भावों की पात्र-विशिष्टता समाप्त हो जाती है तथा सामाजिक की मनोवृत्ति भी विभावादिकों के सामान्य रूप से प्रस्तुत किये जाने से निर्वैयक्तिक हो जाती है। आलम्बन तथा उद्दीपन सर्वसाधारण की अनुभूति को स्पर्श करने वाली विशेषता रखने लगते हैं और जो रसास्वाद में व्यक्तिगत भावना का प्रतिबन्ध या विरोध पड़ता था—वह समाप्त हो जाता है। भावकत्व को स्थिति में विभावादि के साधारणीकृत हो जाने से सहृदय में तमस् एवं रजस् की शान्ति हो जाती है, तथा सत्त्व का उदय होता है इस प्रकार सहृदय भावों का रसास्वादन निर्वैयक्तिक रूप में करता है। भट्टनायक ने सत्त्वोद्रेक के द्वारा रसानुभूति की जो व्याख्या की है वह सांख्य-दर्शन से प्रभावित है। परन्तु रसानुभूति वस्तुतः एक शारीरिक मानसिक व्यापार है, अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसके विश्लेषण की आवश्यकता बनी रही।

ध्वनि-विरोधी आचार्य होने के कारण भट्टनायक ने भावकत्व एवं भोजकत्व व्यापार की कल्पना की, जो अनावश्यक है, क्योंकि इनका कार्य व्यंजना व्यापार से सिद्ध हो जाता है। भट्टनायक का यह कहना कि रस न तो उत्पन्न होता है और न ध्वनित होता है, युक्ति सिद्ध नहीं है। उनकी दृष्टि में प्रेक्षक विभावादिकों के भावों का आनंद लेता है, किन्तु यह भी तथ्य मनोवैज्ञानिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि सहृदय में स्थायी भाव की कमी रहेगी। उसका आस्वादन वह विभावादिकों के भावों से कैसे करेगा? वस्तुतः भावास्वादन का अर्थ ही हृदय में उस भाव का उठना ही है। उपर्युक्त कमियों के रहते हुए भी भट्टनायक के रस-विवेचन में रस-प्रक्रिया की व्याख्या को फिर निश्चित दिशा प्रदान की। रस-प्रक्रिया की सुदृढ़ भूमिका विभाजन-व्यापार द्वारा निर्मित होती है, जिसका आविष्कार सर्वप्रथम भट्टनायक ने किया।

उन्होंने आपने साधारणीकरण-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा द्वारा नाट्य-रसानुभूति की प्रक्रिया को समझने में बाधक अवरोधों को सदा के लिए समाप्त कर दिया, तथा इस सिद्धान्त के

द्वारा विभावादिकों को साधारणीकृत सिद्ध करके रसास्वादन में व्यक्तिगत भावना के विरोध का सदा के लिए अंत कर दिया। साधारणीकरण-सिद्धान्त द्वारा रसानन्द को निर्वैयक्तिक, सत्वोद्रेकयुक्त, चिन्मय तथा संविद्विश्रान्ति कोटि का सिद्ध करके उसे सार्वभौम तथा सार्वकालिक रूप प्रदान किया।

रस-लक्षण में द्रुति-विस्तार, हृदय-विकास, सत्वोद्रेक, संविद्विश्रान्ति का समावेश करके भट्टनायक ने रस-स्वरूप को विस्तृत किया, जिसे आगे चलकर साहित्य-दर्पणकार ने अपने रस-स्वरूप के विवेचन में बहुत विस्तृत स्वरूप दिया। गुण, रीति, वृत्ति, अलंकार, अभिनय, संगीत आदि को भावना-व्यापार या रसानुभूति में सहायक बतलाकर भट्टनायक ने काव्य तथा नाटक दोनों के प्रेषणीयता के तत्वों को सर्वप्रथम उद्घाटित किया। भट्टनायक रस-निष्पत्ति की शक्ति काव्य तथा सहृदय दोनों में मानते हैं। इस प्रकार काव्य तथा रसिक के सम्बन्ध को स्पष्ट करने की दिशा में भी भुक्ति सिद्धान्त उत्पत्तिवाद तथा अनुमितिवाद से आगे है।

भट्टनायक के पश्चात् भट्टतौत (९६०-९९० ई०) का समय आता है, इनका रस-ग्रन्थ 'काव्य-कौतुक' तथा अभिनव द्वारा लिखित उसकी टीका भी अप्राप्य है। इनका जो कुछ मत हमें मिलता है वह 'अभिनव भारती', तथा हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में है। अभिनव भारती में उद्धृत उनके मतों से यह विदित होता है कि ये शान्त रस को सब रसों में प्रधान मानते हैं। रस-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से उन्होंने दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह कही कि रस-सिद्ध कवि के होने के लिए दर्शन तथा वर्णन दोनों आवश्यक हैं। इनके मत से वस्तु के विचित्र भाव को, अंतर्निहित धर्म को तत्त्व रूप में जानना ही दर्शन है। इसीसे कवि ऋषि कहलाता है। उसकी वर्ण्य-निपुणता प्राप्त करने पर वह लोक में कवि संज्ञा का अधिकारी होता है। रस-सिद्धान्त के विकास में तीसरा योगदान उनका यह है कि उन्होंने भट्टनायक के साधारणीकरण के सिद्धान्त को विकसित किया तथा बलपूर्वक यह बतलाया कि रस की पूर्ण स्थिति में कवि, नायक तथा सहृदय तीनों का साधारणीकरण होता है, तथा तीनों का रस समान कोटि का होता है।

रस के सैद्धान्तिक विकास के इतिहास में अभिनव गुप्त का नाम परवर्ती आचार्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भरत-सूत्र के व्याख्याकारों में इनका मत सर्वाधिक विशुद्ध माना जाता है। अपने पूर्ववर्ती आचार्य भट्टनायक की रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को इन्होंने अधिक स्पष्ट, तात्विक तथा मनोवैज्ञानिक रूप दिया। उनके साधारणीकरण सिद्धान्त को अधिक विकसित किया। रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया में प्रतिपादित उनके भावकत्व तथा भोजकत्व-व्यापार को निराकार घोषित करके व्यंजना की सत्ता स्थापित की। रस-निष्पत्ति-विषयक इनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी दृष्टि में भरत-सूत्र में आये संयोग शब्द का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक-भाव-सम्बन्ध है। निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति या व्यंग्य है। विभाव आदि अभिव्यंजक होते हैं, स्थायी भाव जो प्रत्येक सहृदय में वर्तमान रहता है, वही काव्यगत चित्रित विभानुभाव आदि के साक्षात्कार से व्यंजना-प्रक्रिया से रस-रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार इनके मतानुसार सहृदय न तो नट में आरोपित रस से आनंदित होता है और न अनुमित

होता है, और न वह नायक के साधारणीकृत भाव का उपयोग करके आनंदित होता है, वरन् वह अपने ही भावों का निर्वैयक्तिक रूप में आस्वादन करके आनंदित होता है। इस प्रकार अभिनव ने रस को व्यंजना-प्रक्रिया से सिद्ध करके रस और ध्वनि-सम्प्रदायों को एक में संयुक्त कर दिया। अभिनव गुप्त ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रसास्वादन में निहित मुख्य तीन सत्ताओं कवि, वस्तु और सहृदय की सम्यक् व्याख्या करके रस-सिद्धान्त की सम्पूर्ण व्याख्या समुपस्थित की! रस-भोक्ता की शक्तियों, विशेषताओं, गुणों आदि का जितना स्पष्ट तथा व्यापक विवेचन लोचनकार ने किया उतना पहले नहीं हुआ था। रसानुभूति के पथ में आने वाले विघ्नों का तथा रसास्वादन-काल में सम्प्राप्त सहृदयों की मानसिक स्थितियों का जैसा मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म विवेचन इनके द्वारा हुआ है, वैसा अब तक नहीं हुआ था। इसी प्रकार अभिनव गुप्त ने रस-सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियों का समाधान करके रस की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। जैसे काव्य के किन-किन साधनों से विषय तथा विषयी साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त करता है। नायक के जीवनगत रस से सहृदय को क्यों आनंद मिलता है, करुणा आदि दुःखात्मक भावों से आनंद क्यों उद्भूत होता है; रसावस्था में आनन्दात्मक स्वरूप किस प्रकार समाया है; काव्य तथा नाटक दोनों में एक ही प्रकार के रस किस प्रकार विद्यमान हैं आदि उपर्युक्त विषयों का मनोवैज्ञानिक उत्तर इनके विवेचन में मिलता है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में रस का जैसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन उन्होंने किया है, उसके दार्शनिक स्वरूप को जिस सूक्ष्मता से उन्होंने उद्घाटित किया है, उतनी सूक्ष्मता और कोई परवर्ती आचार्य अपने विवेचन में नहीं ला सकता।

साधु-वृत्ति की दार्शनिकता रखने के कारण अभिनव ने शान्त रस का रसत्व ही नहीं सिद्ध किया वरन् अन्य सभी रसों का उसके अंतर्गत संहार भी किया।

जहाँ तक रस-प्रक्रिया का प्रश्न है, वहाँ तक अभिनव के किसी परवर्ती आचार्य ने उसमें कहीं नवीनता उपस्थित नहीं की।

अभिनव गुप्त के पश्चात् वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने काव्य-लक्षण, प्रयोजन, वक्रोक्ति के अनेक भेदों के भीतर रस की सत्ता मानते हुए, उसे काव्य की अमूल्य सम्पदा के रूप में ग्रहण करते हुए भी काव्य-जीवित के पद पर वक्रोक्ति को आसीन करके रसवादियों द्वारा स्थापित रस के महत्त्व को एक बार फिर कम कर दिया। रसवादियों के सिद्धान्त में काव्य तत्त्वों का समन्वय-सूत्र रस ग्रहणकर्त्ता है; किन्तु कुन्तक के काव्य-सिद्धान्त में काव्य-तत्त्वों का समन्वय-सूत्र वक्रोक्ति में निहित है।

इस प्रकार कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त की स्थापना द्वारा रस-सिद्धान्त के विकास को अवरोध ही पहुँचाया।

कुन्तक के पश्चात् दशरूपककार, धनंजय और धनिक (९९४–) का समय आता है। दशरूपक रसाश्रित ग्रन्थ है। इसमें रूपकों का भेद रस-भेद के आधार पर किया गया है। दशरूपककार ने संसार के प्रत्येक पदार्थ का सम्बन्ध रस से अंग-रूप में स्थापित करके रस एवं जीवन का अविच्छेद घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया। इन्होंने काव्य के भीतर रस के स्थान को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इनका कहना है कि काव्य रस का इतना अतिरेक न हो कि वह वस्तु को ढक ले और न वस्तु अलंकार आदि का इतना अतिरेक हो कि रस-तत्त्व

ढक जाय।

न चाति रसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्यात् वस्त्वलंकार लक्षणः।[1]

उन्होंने रस के विषय में एक बड़ी भारी मनोवैज्ञानिक बात यह बतलाई है कि कोई भाव अस्वाद्यमान होने से ही स्थायी भाव नहीं हो सकता; उसे स्थायी भाव का पद प्राप्त करने के लिए सहृदय की मूल मनःस्थिति से सम्बन्ध रखना अनिवार्य है। इन दोनों आचार्यों ने रस के कार्य के ऊपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इनके मतानुसार रस का कार्य प्रेरित करना है।

इसके बाद भोजराज द्वारा रस-सिद्धान्त के विकास में कुछ नवीन योगदान मिला। अन्य रसवादियों के समान ये भी रस-काव्य को सर्वोपरि मानते हैं। इन्होंने सब भावों के अंतस्तल में प्रेमन् नामक भाव को स्वीकार किया है। इनके अनुसार प्रत्येक भाव अपनी पहली अवस्था में अहंकार-रूप में रहता है, फिर भाव बनता है, इसके पश्चात् प्रेमन रूप में परिणत होता है। इन तीनों अवस्थाओं के बाद ही रस का रूप उत्पन्न होता है। इस प्रकार भोज अहंकार से अन्य भावों की उत्पत्ति मानते हैं। भोज का अहंकार अर्थात् आत्म-रति वास्तव में रति से भिन्न नहीं है; यही शेष सृष्टि के प्रति रागात्मक भाव उत्पन्न करता है। इनकी दृष्टि में अनुकूल विभावानुभावादि से जो अभिमान अर्थात् अहं-प्रिय भावना मन में उत्पन्न होती है, वही रस है। इन्होंने परम्परागत रसों में प्रेय, उद्धत और उदात्त इन तीन नवीन रसों की संख्या और जोड़ दी है। इनकी दृष्टि में शृंगार ही मूल रस है, उसके व्यापक क्षेत्र में सभी रस समाहित हो जाते हैं।

इसके पश्चात् महिम भट्ट ने ध्वनि का खण्डन करते हुए रस को अनुमान प्रक्रिया से सिद्ध किया तथा उसे ज्ञान-स्वरूप बतलाया। ध्वनि विरोधी होते हुए भी इन्होंने काव्य में रस की प्रधानता सब प्रकार से सिद्ध की है, केवल रस-स्वरूप तथा रस प्रक्रिया के समझने में नैयायिक होने के कारण इन्होंने भूल कर दी है। ये पहले आचार्य हैं जिन्होंने रस-प्रतीति की बाधाओं को सम्पूर्ण काव्य-दोषों की जननी कहा है। इनके विवेचन से रस के स्थान-निरूपण में कोई योगदान नहीं मिलता, केवल उसकी स्पष्टता होती है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का सर्वव्यापक तत्त्व मानते हुए भी औचित्य-रक्षा से रसोत्पत्ति संभव बतलाकर उसे रस-पोषक रूप में ही निरूपित किया है। उनके मतानुसार औचित्य रस का जीवित है काव्य का नहीं। इनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रस ही है। इसके अतिरिक्त अंग एवं अंगीरस के औचित्य का भी उल्लेख इन्होंने किया है।

क्षेमेन्द्र के पश्चात् रस के इतिहास में मम्मट का नाम उल्लेखनीय है। ध्वनि प्रतिष्ठापकाचार्य होते हुए भी रस ध्वनि को उत्तम काव्य कहकर तथा काव्य-प्रयोजनों में रसास्वादजन्य आनन्द को अन्य प्रयोजनों से श्रेष्ठ कहकर प्रकारान्तर से काव्य में रस को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व घोषित करते हैं। किन्तु रस के विकास में यह कोई नई बात नहीं थी, इसी प्रकार 'काव्य प्रकाश' में रस-प्रक्रिया एवं रस-स्वरूप का विवेचन भी पूर्ववर्ती आचार्यों के समान ही है। रस की परिभाषा आदि भी अभिनव गुप्त के समान है। वस्तुतः मम्मट का

१. 'दशरूपक', ३-३२।

महत्त्व किसी नवीन काव्य-सिद्धान्त अथवा तत्त्व के आविष्कार में न होकर ध्वनि एवं रस सिद्धान्तों के समन्वय में है; विस्तार एवं योग्यता के साथ उनके प्रतिपादन में है जिसमें अलंकार तथा गुण भी स्थान पा जाते हैं।

रस के इतिहास में इसके पश्चात् हेमचन्द्र का नाम लिया जाता है। 'काव्यानुशासन' के दूसरे अध्याय में इन्होंने रस की विशेष चर्चा की है। इनके अनुसार गुण, दोष एवं अलंकार की परीक्षा कसौटी रस है। रस के बाधक तत्त्व काव्य-दोष हैं एवं साधक तत्त्व काव्य-गुण एवं अलंकार रस के अंग हैं। इनकी दृष्टि में अलंकार रसोपकारक होने पर ही काव्य में स्थान पा सकते हैं, रस बाधक रूप में नहीं। रस विवेचन में ये अधिकांश मात्रा में अभिनव गुप्त के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

इनके पश्चात् इनके शिष्यद्वय—रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र का नाम उल्लेखनीय है। रस-सिद्धान्त के विकास में इनकी सबसे बड़ी देन यह है कि ये रस को सुखात्मक एवं दुःखात्मक मानते हुए उसे लौकिक अनुभूति के बहुत निकट लाने का प्रयत्न करते हैं। ये शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत एवं शान्त रस को सुखात्मक रस के भीतर तथा रौद्र, भयानक करुण एवं बीभत्स को दुखात्मक रस के भीतर रखते हैं। इन्होंने शान्त रस को नाटक के भीतर स्थान दिया है।

इसके पश्चात् रस के विकास में शारदातनय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाश' का नाम उल्लेखनीय है। इसमें नाटक के प्रसंग में रस की चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ की सबसे अधिक महत्ता इस तथ्य में है कि इसमें अज्ञात रसाचार्यों के मतों का उल्लेख मिलता है। दूसरी बात यह कि इसमें रस के विभिन्न अवयवों का विस्तृत विवेचन, भाव तथा रस का स्वरूप-निरूपण, रस के साथ शब्दार्थ-सम्बन्ध की व्याख्या बहुत महत्त्वपूर्ण ढंग से की गई है। यह ग्रन्थ भाव तथा रस की नाना समस्याओं के समाधान को उपस्थित करता है। इसमें रस के सम्बन्ध में सबसे नई बात यह बतलाई गई है कि नाटक में सब लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अलग-अलग ढंग से रस लेते हैं।[1] कुछ लोग नाटक में केवल नायक-नायिकाओं के रूप का, कुछ लोग वाणी का, कुछ लोग लीला का, कुछ हाव का, कुछ उक्ति का, कुछ संगीत का, कुछ सज्जा का और कुछ दृश्य ही का रस लेते हैं। तरुण लोग काम की बातों में, सभा-चतुर लोग नीति की बातों में, सेठ लोग पैसा कमाने की बातों में, विरागी लोग मोक्ष की बातों में, वीर लोग बीभत्स, रौद्र और युद्ध की बातों में, वृद्ध-जन धर्म की कथाओं में तथा पण्डित लोग सात्त्विक भावों में आनन्द लेते हैं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ, बालक तथा मूर्ख हँसी की बातों को सुनकर और नटों की वेशभूषा ही देखकर आनन्द लेते हैं।

---

१. तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयक्षिते ।
अर्थेष्वर्थं पराश्चैव मोक्षेष्वथ विरागिणः ॥
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ।
धर्माख्यान पुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ॥
सत्त्वाभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा ।
बाला मूर्खा स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा ॥



R

इसके पश्चात् शिंगभूपाल का नाम उल्लेखनीय है। इनका नाट्य-विषयक ग्रन्थ 'रसार्णव सुधाकर' दक्षिण में उतना ही प्रचलित है जितना उत्तर में 'दशरूपक'। इन्होंने नाटक के प्रमुख तीन तत्त्वों—नेता, रस और वस्तु—का विवेचन किया है। रस-प्रसंग में इन्होंने भोज के मतों का खण्डन किया है।

शिग भूपाल के पश्चात् शार्ङ्गदेव का नाम महत्त्वपूर्ण है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' में संगीत के प्रसंग में रस की चर्चा की गई है, इनकी दृष्टि से संगीत को सदा रस-प्रधान होना चाहिए। नाटक में शान्त रस की सत्ता इन्हें मान्य है। रस-निष्पत्ति, शान्त रस, स्थायी भाव एवं व्यभिचारी भाव पर इनके मत स्वतन्त्र कोटि के हैं। भक्ति रस को ये स्वतन्त्र रस नहीं मानते।

उत्तरकालीन प्रायः सभी अलंकारवादियों[1] ने काव्य में अलंकार की प्रधानता मानते हुए भी रस की सत्ता अलंकार से अलग रूप में स्वीकार की है।

इसके पश्चात् रस के इतिहास में साहित्यदर्पणकार का नाम उल्लेखनीय है। इनके पूर्व भी कई रसवादी आचार्य हो गए हैं।[2] उन्होंने कई रसवादी ग्रन्थों की रचना भी की है[3] किन्तु उनमें रस का सारा विवेचन गतानुगतिक ढंग का है। 'साहित्यदर्पण' रस को काव्य की आत्मा मानने वाला ग्रन्थ है। इसकी विशेषता रस की स्थापना एवं रस-स्वरूप के विवेचन में है। काव्य-परिभाषा में रस-तत्त्व का समावेश सबसे पहले इसी में किया गया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' विश्वनाथ की दृष्टि में रसानुभूति के लिए सत्त्वोद्रेक एवं आत्मप्रकाश आवश्यक है। रसानन्द ब्रह्मानन्द सहोदर है। रस चमत्कार का अर्थ चित्त विकार है। साहित्यदर्पणकार के किसी पूर्ववर्ती आचार्य नारायण ने सभी आनन्दों में विस्मय का तत्त्व आवश्यक माना है। इसी आधार पर विश्वनाथ ने भी सब रसों का आधार अद्भुत रस माना है। इनकी दृष्टि में वात्सल्य एक स्वतन्त्र रस है। रस के सैद्धान्तिक विकास में आचार्य विश्वनाथ की सबसे बड़ी देन उसके दार्शनिक स्वरूप के विवेचन में है। शताब्दियों के चिन्तन के पश्चात् रस का जो स्वरूप मान्य हुआ था उसे उन्होंने एक श्लोक में रख दिया है।

रस-परम्परा में विश्वनाथ का योग मम्मट की अपेक्षा अधिक है। उन्होंने रस को ध्वनि की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। ध्वनिकार के विरुद्ध उन्होंने ध्वनि को रस के अन्तर्गत समाविष्ट किया। ध्वनिकार रस को महत्त्व देते हुए भी उसे काव्य के लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं मानते। उसकी अनुपस्थिति में भी मध्यम या कम-से-कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव बतलाते हैं, परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्य में भी काव्यत्व रस के कारण ही माना है। उनकी दृष्टि में उनमें भी रस का क्षीण-से-क्षीण आभास अवश्य होना चाहिए, अन्यथा ये काव्य नहीं माने जा सकते। इसी सिद्धान्त के अनुसार इन्होंने चित्र-काव्य को काव्य-कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। रस में उन्होंने चित्त की विद्रुति की अपेक्षा चित्त के विस्तार को अधिक महत्त्व दिया है और चमत्कार को उसका मूल तत्त्व

१. प्रतिहारेन्दुराज, जयदेव आदि।
२. भानुदत्त।
३. 'रसतरंगिणी' तथा 'रसमञ्जरी'—(भानुदत्त कृत)।

माना है। इसीलिए रसों में उन्होंने अद्भुत को प्रधानता दी है। साधारणीकरण के विषय में एक नई बात उन्होंने यह बतलाई है कि साधारणीकरण की स्थिति में आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है। असम्बद्ध भावों के रसवत् ग्रहण तथा रस-विरोध का विचार सर्वप्रथम 'साहित्य-दर्पण' में मिलता है जिसे आगे चलकर शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक ढंग से स्पष्ट किया।

साहित्य-दर्पणकार ने रस की दो स्थितियाँ या कोटियाँ मानकर रस-दशा को अत्यधिक स्पष्ट किया। उनकी दृष्टि में उत्तम या पूर्ण रस की स्थिति वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है। जिस भाव की अभिव्यक्ति होती है, उसमें पाठक पूर्णतः तल्लीन हो जाता है। रस की मध्यम स्थिति रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-संधि, भाव-शबलता, भाव-शान्ति आदि परिस्थितियों में उत्पन्न होती है। इन स्थितियों में पाठक अभिव्यक्त भाव की अभिव्यंजना में लीन न होकर भाव-व्यंजना की स्वाभाविकता तथा उत्कर्ष का अनुमोदन करता है। इसके अतिरिक्त विश्वनाथ ने भरत मुनि द्वारा निरूपित स्थायी तथा संचारी की व्यवस्था विभाव की व्याप्ति आदि को अधिक स्पष्ट किया।

विश्वनाथ के पश्चात् रस के इतिहास में रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। इन दोनों आचार्यों ने भक्ति-रस को ही एक-मात्र रस मानकर उसके भीतर शेष रसों को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। भक्ति को केवल भाव समझने वाले आचार्यों का मधुसूदन सरस्वती ने घोर खण्डन किया है।

इसके पश्चात् 'रसप्रदीपकार' का नाम रस के इतिहास में आता है। ये रस-प्रक्रिया में अभिनव गुप्त के अनुयायी हैं। इसलिए इन्होंने व्यंजन-विरोधी रसाचार्यों—भट्टलोल्लक शंकुक, भट्टनायक आदि का घोर खण्डन किया है। इन्होंने विश्वनाथ के अद्भुत रसप्रधान सम्बन्धी मत का विरोध किया है। ये काव्य में रस को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और रस में एक विशिष्ट प्रकार का सुख एवं चमत्कार मानते हैं।

रस-परम्परा के विकास के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने वेदान्त के आधार पर रस की विशद एवं दार्शनिक व्याख्या करके उसे सूक्ष्म शक्ति एवं महत्ता प्रदान की। पण्डितराज ने अभिनव गुप्त के अभिव्यक्ति सिद्धान्त को कुछ दूसरे प्रकार से प्रस्तुत किया। उनके मत में वासना-रूप स्थायी भाव जब स्वतः प्रकाशमान आत्मानन्द के साथ अनुभव किये जाते हैं, तब रस का रूप धारण करते हैं। चेतना विभावादि की अनुपस्थिति में अज्ञान आदि के आवरण से आच्छादित रहती है, अतः अभिव्यक्ति का तात्पर्य पण्डितराज की दृष्टि में इसी अज्ञानावरण का भग्न होना है। इसीलिए वे रस को 'भग्नावरणचिद्विशिष्ट' कहते हैं। काव्य-श्रवण या अभिनय-दर्शन से जब अज्ञानावरण भग्न हो जाता है, तब अखण्ड एवं नित्य शुद्ध आत्मचैतन्य प्रकट होता है। इस काल में स्थायी भाव का अनुभव स्वतः प्रकाशमान शुद्ध आत्मानन्द के साथ होता है। इस स्थिति में हृदय की अन्य वृत्तियाँ शांन्त रहती हैं। पण्डितराज के मत में यही रसदशा है।

पण्डितराज के प्रायः सभी पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि में आनन्दरूप चैतन्य से युक्त स्थायी भाव ही रस था। पण्डितराज ने रस की इस धारणा में दार्शनिक दृष्टि से परिष्कार

करते हुए रस को निज स्वरूपानन्द कहा, जो चित्त के भग्नावरण रूप होने पर प्रकट होती है। चित्त का यह भग्नावरणत्व विभावादिकों से सम्पादित होता है। इस प्रकार इनकी दृष्टि में स्थायी भाव से उपहित आनन्दरूप चैतन्य रस है। पूर्ववर्ती आचार्यों की रस-धारणा में स्थायी भाव की प्रधानता थी, अतः उनके विवेचन में प्रायः मनोविज्ञान तत्त्व की प्रधानता थी, किन्तु पण्डितराज ने उपनिषदों के "रसो वै सः" का सहारा लेकर अपने विवेचन में आत्म-चैतन्य अर्थात् दार्शनिक तत्त्व की प्रधानता रखी। इन्होंने रसानुभूति को भ्रान्ति कहने वालों का घोर खण्डन किया, तथा रस-ध्वनि को उत्तमोत्तम काव्य की संज्ञा देकर काव्य में रस की महत्ता का प्रतिपादन किया।

इसके उपरान्त संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में रस की परम्परा में कोई उल्लेखनीय नाम नहीं मिलता, क्योंकि पण्डितराज के पश्चात् रस-परम्परा नायिका-भेद की संकुचित सारिणी पर चलने लगी--। रस परम्परा की यही संकुचित धारा रीति-कवियों के हाथ लगी। अतः रस-सिद्धान्त के विकास में उनके रस-सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों से कोई योगदान नहीं मिला।

आधुनिक युग में गद्य के विकास तथा नवजागरण के फलस्वरूप साहित्य के प्राचीन सिद्धान्तों पर नवीन ढंग से सोचने का प्रयत्न किया गया। फलतः रस को भी अर्थ की नई भूमियों पर रखने का कुछ प्रयत्न हुआ। भारतेन्दु ने भारतीय रस-पद्धति में पश्चिम के चरित्र-चित्रण नामक तत्त्व को समन्वित करके उस सिद्धान्त को व्यापक करने का प्रयत्न किया। पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने रसाभास की व्याख्या जीवन की दृष्टि से सामाजिक भूमि पर की। द्विवेदी जी ने रस का सम्बन्ध अनुभूति से स्थापित करके उसे व्यापक करने का प्रयत्न किया, किन्तु इस दिशा में ग्रन्थ रूप में कोई महान् प्रयत्न नवीन ढंग से नहीं हुआ। द्विवेदी युग में रस के ऊपर कई आचार्यों के ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें जगन्नाथप्रसाद 'भानु' का 'रस रत्नाकर', कन्हैयालाल पोद्दार का 'रस मंजरी'; कृष्णबिहारी मिश्र का 'नवरस तरंग' उल्लेखनीय हैं; पर इन ग्रन्थों की सामग्री परम्परागत कोटि की है। विवेचन में उद्भावना का अभाव है। अतः इन ग्रन्थों से रस के विकास में कोई योगदान नहीं मिलता।

आधुनिक युग में रस के विकास में नवीन योगदान देने में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। रस सिद्धान्त के विकास में शुक्ल जी की देन उसके मनोवैज्ञानिक आधार, सामाजिक भूमि, नैतिक पक्ष को स्पष्ट करने में; प्राचीन आचार्यों के रस-प्रक्रिया-विवेचन में सम्प्राप्त दार्शनिक आवरण को अनावृत करके उसे मनोवैज्ञानिक रूप प्रदान करने में, रस की जीवनमयी तथा साहित्यमयी विस्तृत व्याप्ति का निरूपण करके उसके भीतर देश-विदेश के सभी काव्य-गुणों, सभी काव्य-सम्पदाओं को समाहृत करके उसके द्वारा काव्य का व्यापक मानदण्ड प्रस्तुत करने में, रसानुभूति की प्रकृति, स्वरूप तथा विशेषताओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में, भाव सामान्य तथा प्रमुख स्थायी भावों के निर्माणकारी तत्त्वों, लक्षणों, विशेषताओं, भेदोपभेदों, व्याप्ति, उद्भव, क्रमिक विकास गति-विधि, महत्त्व उपयोगिता के वैज्ञानिक विवेचन में, भावदशा तथा रसदशा की विभिन्न स्थितियों के अनुसन्धान में, भावों के नये प्रकार के वर्गीकरण तथा उनके निर्माणकारी तत्त्वों के अन्तर के स्पष्टीकरण में तथा रससिद्धान्त में विश्व-समीक्षा-सिद्धान्त बनने की सम्भावना सिद्ध करने में है।

शुक्लजी के पश्चात् पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यालोक' में रस की मधुमती भूमिका का स्पष्टीकरण तथा समर्थन करते हुए रस के दार्शनिक स्वरूप को विवृत करने का प्रयत्न किया है। साम्प्रत समीक्षकों में आचार्य वाजपेयी जी ने रस-निष्पत्ति की नई व्याख्या करते हुए रस के क्रमिक विकास को स्पष्ट किया है तथा साधारणीकरण में सम्पूर्ण कवि-कर्म का साधारणीकरण समाविष्ट करके उसे अत्यधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अनुभूति को काव्य की आत्मा मानकर प्रकारान्तर से रस के महत्त्व की प्रतिष्ठा नवीन पदावली में करते हुए काव्य के अन्य तत्त्वों—अलंकार, रीति, गुण, ध्वनि, औचित्य आदि का सम्बन्ध-रस से आन्तरिक रूप में स्थापित किया है। डॉ० नगेन्द्र ने रस का तुलनात्मक विवेचन पश्चिमी काव्य-तत्त्वों—सौन्दर्य भावना—उदात्तता, भावानुभूति, सौन्दर्यानुभूतिजन्य आनन्द, मनोवेग संवेदनात्मक प्रभाव आदि से करते हुए उसे एक विश्व-व्यापक वैज्ञानिक साहित्यिक सिद्धान्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।



शंकरदेव अवतरे

अलंकार और अलंकार्य के सम्प्रदाय

भारतीय साहित्य-शास्त्र में छः सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और औचित्य-सम्प्रदाय। इन सभी को समष्टि रूप में अलंकार-शास्त्र कह देते हैं। यों तो इन सम्प्रदायों में प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषता है, जिसके कारण ये सभी एक-दूसरे से भिन्न हैं, परन्तु सामान्यतः इनके दो वर्ग माने जा सकते हैं—अलंकार के सम्प्रदाय और अलंकार्य के सम्प्रदाय। ध्वनिकार ने अलंकार्य शब्द का प्रयोग साहित्य के आत्मस्थानीय तत्त्व के लिए किया है और आत्मस्थानीय तत्त्व के रूप में व्यंग्यत्रयी (रसभावादि एवं व्यंजित वस्तु और अलंकार) को स्वीकार किया है। इसका यही अर्थ हुआ कि साहित्याचार्यों ने साहित्य के समस्त विवेच्य अंगों को अलंकार और अलंकार्य—इन दो भागों में ही मुख्यतः समझा है। व्यंग्यत्रयी अलंकार्य, और तदतिरिक्त सभी कुछ अलंकार। फलतः उपर्युक्त छः सम्प्रदायों में से पहले तीन तो अलंकार के सम्प्रदाय हैं और पिछले तीन अलंकार्य के।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की बात तो छोड़ ही देनी चाहिए, आजकल भी हम लोग जो इन सम्प्रदायों की व्याख्या और विवेचना करते हैं, उसमें भी मौलिक भ्रांतियाँ और अस्पष्टताएँ चली ही जाती हैं। उदाहरणार्थ यदि हम अलंकार-सम्प्रदाय का विवेचन करते हैं तो भरत मुनि से उठाकर अप्पय दीक्षित और जयदेव पर ला पटकते हैं। आखिर ३८ अलंकारों की स्थापना करने वाला भामह तो अलंकारवादी है, पर ७० अलंकारों की स्थापना करने वाला मम्मट अलंकारवादी न होकर अलंकार्यवादी है। ऐसा क्यों? फिर एक ही उत्कृष्ट पद्य को सभी सम्प्रदायों में समान रूप से उत्कृष्ट क्यों समझा जाता है, जब कि

उनकी मान्यताओं में परस्पर छत्तीस का रिश्ता है। इस प्रकार और भी अनेक प्रश्न हैं, जिनका व्यवस्था-प्राप्त विवेचन नहीं किया जाता। सत्य है कि अपने यहाँ इन सम्प्रदायों की मौलिक मान्यताएँ और तत्फलस्वरूप उनके कार्यों की बुनियादी व्याख्याएँ होनी शेष हैं। इस छोटे से लेख में तो इस कार्य की दिशा-मात्र का ही संकेत किया जा सकता है।

जीवन का आग्रह कभी अन्तर्मुखी होता है, कभी बहिर्मुखी। व्यष्टि-जीवन का भी यह सत्य है और समष्टि-जीवन का भी। क्योंकि साहित्य व्यष्टि-समष्टि और स्थूल-सूक्ष्म जीवन की एक पूर्ण प्रतिनिधि इकाई है, इसलिए साहित्य की मूल चेतना भी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी आग्रहों में बदलती रहती है। साहित्य में ही नहीं, साहित्य की आलोचना में भी यह चक्रनेमि-क्रम चलता रहता है—साहित्य में साहित्यकारों के कारण और साहित्य की आलोचना में साहित्याचार्यों के कारण। विवेचना-सूत्र यह है कि जिस प्रकार हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य तत्कालीन साहित्यकारों की अन्तर्मुखी चेतना का परिणाम है और रीतिकालीन साहित्य उनकी बहिर्मुखी चेतना का, ठीक उसी प्रकार अलंकार्य के सम्प्रदाय साहित्य-शास्त्रियों की अन्तर्मुखी चेतना के परिणाम हैं और अलंकार के सम्प्रदाय उनकी बहिर्मुखी चेतना के। अलंकार्य के सम्प्रदाय, साहित्य के शब्दार्थ शरीर और समस्त उपकरणों की अलंकार रूप से विवेचना करते हुए, आत्मस्थानीय व्यंग्य की ओर चले जाते हैं। यह अन्तर्मुखी विवेचना है। इस प्रकार इनके यहाँ अलंकार्य की स्थिति प्रधान नहीं, बल्कि अलंकार्य की मान्यता जिस रूप में है, वह प्रधान है, और अलंकार की स्थिति अप्रधान नहीं, बल्कि अलंकार की मान्यता जिस रूप में है, वह अप्रधान है। उसी प्रकार अलंकार के सम्प्रदाय आत्मस्थानीय व्यंग्य को किसी-न-किसी रूप से अलंकारों में ही समेटकर साहित्य के व्यक्त पिण्ड शब्दार्थ की ओर लौट आते हैं। यह बहिर्मुखी विवेचना है। इस प्रकार इनके यहाँ अलंकार की स्थिति प्रधान नहीं, बल्कि अलंकार की मान्यता जिस रूप में है, वह प्रधान है और अलंकार्य की स्थिति उपप्रधान नहीं, बल्कि अलंकार्य की मान्यता जिस रूप में है, वह अप्रधान है। यही कारण है कि अलंकारों का आविष्कर्ता भरत मुनि अलंकारवादी नहीं हो सकता, वह अलंकार्य (रस) वादी है और उसी प्रकार ७० अलंकारों की स्थापना करके भी मम्मट अलंकारवादी नहीं बन सका, जब कि केवल ३८ अलंकारों की स्थापना करके ही भामह अलंकार-सम्प्रदाय का आदि—आचार्य समझा जाता है। दूसरी ओर इसी मान्यता के वैलक्षण्य से एक उत्कृष्ट पद्य सभी सम्प्रदायों में उत्कृष्ट और एक अपकृष्ट पद्य सभी सम्प्रदायों में अपकृष्ट समझा जाता है। दूसरे शब्दों में कह लीजिए कि चाहे अलंकार की मान्यता को प्रधानता दी जाय अथवा अलंकार की मान्यता को, साहित्य के स्वरूप में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं पड़ता। फिर भी मजेदार मामला यह है कि इन दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की व्याप्तियों में स्थिति-गत रूप-परिवर्तन और स्वरूप-भेद उपस्थित होते हैं। नहीं तो इनका वर्गीकरण किस आधार पर किया जायगा, यह विचारने की बात है।

उपर्युक्त दो विरोधी बातों की संगति के लिए अलंकार्य और अलंकार के सम्प्रदायों की कारण-व्याख्या और कार्य-व्याख्या करनी होगी। कारण-व्याख्या का मतलब है उन कारणों की व्याख्या, जिनके आधार पर ये दोनों प्रकार के सम्प्रदाय परस्पर भिन्न हैं और कार्य-व्याख्या का मतलब है उन कार्यों की व्याख्या, जो उक्त सम्प्रदायों की मान्यता के

परिणाम हैं ।

यह कहा जा चुका है कि अलंकार्य के सम्प्रदाय आचार्यों की अन्तर्मुखी विवेचना के परिणाम हैं और अलंकार के सम्प्रदाय बहिर्मुखी विवेचना के। अन्तर्मुखी चेतना के सम्प्रदायों में पहला नम्बर रस-सम्प्रदाय का है । यहाँ रस ही परम उपास्य और प्रधान है। उसीके लिए विभावादि की योजना पात्रों के माध्यम से और पात्रों की योजना शब्दार्थ के माध्यम से कवि करता है । अर्थात् रस साध्य है, तदतिरिक्त सभी कुछ साधन । अथवा रस अलंकार्य है, बाकी सभी कुछ अलंकार ।

ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय का ही एक उपबृंहित रूप है। रस-सम्प्रदाय ने व्यंग्य के क्षेत्र में केवल रस को ही लिया था, पर ध्वनि-सम्प्रदाय ने वस्तु और अलंकार की व्यंग्यता भी स्वीकार की । रस तो सदा व्यंग्य ही रहता है, पर वस्तु-अलंकार भी विकल्प से व्यंग्य होते हैं—यह ध्वनि-सम्प्रदाय की मुख्य स्थापना है । ध्वनि-सम्प्रदाय ने स्पष्ट ही इस व्यंग्यत्रयी को काव्य की आत्मा मानकर अलंकार्य घोषित किया और तदतिरिक्त सभी कुछ अलंकार रहने दिया । पीछे एक आचार्य (कविराज विश्वनाथ) ऐसा भी आया, जिसने रस-सम्प्रदाय को ध्वनि-सम्प्रदाय का उपबृंहित रूप सिद्ध करना चाहा और वस्तुतः कर भी दिया। उसने रस की 'रस्यते इति' व्युत्पत्ति करते हुए रसनीयता धर्म का सम्बन्ध वस्तु-अलंकार की व्यंजना में ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि सामान्य वाच्य के भीतर भी रस की प्रच्छन्नतम तत्त्वी अनुभूति मानकर साहित्य की सीमाओं को उचित व्यापकता प्रदान की। खैर, मतलब इतनी बात से है कि रस को काव्य की आत्मा कहने वाले (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्) साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने, वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि में भी प्रधानतः रसनीयताधर्म का सम्बन्ध मानकर, व्यंग्यत्रयी को पर्यायवृत्ति से काव्य का आत्मस्थानीय सिद्ध कर दिया। उसके द्वारा रसभावादि, वस्तु और अलंकार इन तीनों की व्यंजना में निर्विशेष रूप से उत्तम काव्य माना जाना इसी बात की सूचना है। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय में जो अलंकार्य थे वे रस-सम्प्रदाय में भी मान लिये गए।

औचित्य सम्प्रदाय यद्यपि औचित्य पर जोर देता है, पर अप्रत्यक्ष रूप से रस को अलंकार्य सिद्ध करता है (औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्)। औचित्य की सिद्धि के लिए रस की सत्ता यहाँ नहीं है, बल्कि सिद्धरस के उत्कर्ष के लिए औचित्य की अनिवार्यता पर जोर है ।

अलंकार के भी तीन सम्प्रदाय हैं—शुद्धालंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय (गुण-सम्प्रदाय) और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय । अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों को सर्वाधिक मान्यता देने वाला सम्प्रदाय शुद्धालंकार-सम्प्रदाय है । यह काव्य की सत्ता ही विना अलंकार के नहीं मानता :

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।।

—जयदेव

भामह इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं । इन्होंने 'वक्राभिधेय शब्दोक्ति' को यानी वचन-भंगिमा को, [वाचां] शब्दार्थ की अलंकृति कहा है (वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा

वाचामलंकृतिः) जिसका अर्थ है कि शब्दार्थ अलंकार्य है और अनुप्रास-उपमादि अलंकार। रसभावादि की सत्ता या तो यह सम्प्रदाय मानता ही नहीं और यदि मानता है तो अलंकारों से पृथक् नहीं मानता अथवा रसवदादि अलंकारों में अध्यासित मानता है। इसका तात्पर्य यही निकला कि किसी रसपूर्ण कविता को अलंकार्य-सम्प्रदाय वाला जितना महत्त्व अलंकार्य की दृष्टि से देगा लगभग उतना ही महत्त्व अलंकार-सम्प्रदाय वाला रसवदादि अलंकार की दृष्टि से देगा; क्योंकि दोनों के अलंकार्य और अलंकार शब्द से अभिप्रेत वस्तु बहुत-कुछ पास-पास ही पड़ती हैं।

रीति-सम्प्रदाय अथवा गुण-सम्प्रदाय भी शब्दार्थ को तो काव्य-शरीर मानता है, पर गुणविशिष्ट पद-रचना को रीति और रीति को काव्य की आत्मा मानता है।

'रीतिरात्माकाव्यस्य'

'विशिष्टा पदरचना रीतिः'

'विशेषो गुणात्मा'

अर्थात् रीति-काव्य की आत्मा है। रीति क्या है ? विशिष्ट पद-रचना। पद-रचना की विशिष्टता क्या है ? गुणात्मकता। यहाँ भी शब्दार्थ ही प्रकारान्तर से अलंकार्य ठहरता है, क्योंकि जिस पद-रचना को ये लोग रीति का नाम देकर काव्य की आत्मा बतलाते हैं वह शब्दार्थ के ढाँचे से अतिरिक्त और क्या है ? इनके श्लेष आदि बीस गुण भी शब्दार्थगत माने जाते हैं और रस-जैसी जाति को इन्हीं गुणों के स्वरूप में स्वीकार कर लिया जाता है। कान्ति नामक गुण के लक्षण में सीधे ही रस का अभिधान है, (दीप्तरसत्वं कान्तिः) जिसका मतलब है कि यहाँ रस गुणों का स्वरूपाधायक धर्म है। किन्तु गुणों के काव्यशोभाधायक धर्म या अलंकार कहे जाने से (काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते) रस भी अलंकार कोटि में जा पड़ता है।

यहाँ भी वही बात रही कि अलंकार्य-सम्प्रदाय अलंकार्य की दृष्टि से जिस रसपूर्ण पद्य को उत्कृष्ट कहेगा, रीति-सम्प्रदाय भी उसी पद्य को कान्ति नामक जैसे गुणों की दृष्टि से उत्कृष्ट मानेगा; क्योंकि दोनों के यहाँ रस और गुण से अभिप्रेत वस्तु बहुत-कुछ परस्पर संक्रान्त हैं।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय में भी काव्य के शरीर शब्दार्थ हैं और वे ही अलंकार्य भी। अलंकार है स्वयं वक्रोक्ति।

"शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनि,
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि"
'..........................तयोः पुनरलंकृतिः
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते'

—वक्रोक्ति काव्यजीवित ।।

कुन्तक के यहाँ यह वक्रता छः प्रकार की है—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता और प्रवन्धवक्रता। इन वक्रताओं के भीतर कुन्तक ने सम्पूर्ण रसादि ध्वनि-चक्र और गुण-चक्र समेट लिया है। फलतः यहाँ भी रसभावादि अलंकार के रूप में ही स्वीकृत हैं, क्योंकि जिस वक्रोक्ति के भीतर कुन्तक ने व्यंग्यत्रयी को भी खींच लिया

है उसे पहले ही वह शब्दार्थ की अलंकृति कह चुका है। इसलिए यहाँ भी जिस व्यंग्यपूर्ण पद्य को अलंकार्य सम्प्रदाय वाला व्यंग्य की दृष्टि से श्रेष्ठ समझेगा, उसीको वक्रोक्ति सम्प्रदाय वाला वक्रता की दृष्टि से श्रेष्ठ समझेगा, क्योंकि दोनों के यहाँ व्यंग्य और वक्रता से अभिहित वस्तु लगभग-लगभग एक ही पड़ती है।

स्पष्ट है कि अलंकार्य के और अलंकार्य के सम्प्रदायों की विभिन्न मान्यताओं के रहते हुए भी साहित्य की तात्विक मान्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अब कार्य-व्याख्या की ओर चलिए। यहाँ हमें इन दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की अलंकार-विषयक और अलंकार्य-विषयक मान्यताओं के परिणाम-स्वरूप उनके द्वारा स्वीकृत साहित्य की स्वरूप-सम्प्राप्तियों पर विचार करना है।

साहित्य के उपर्युक्त छहों सम्प्रदाय काव्य का शरीर शब्दार्थ को ही मानते हैं इसलिए सभीका प्रस्थान-विन्दु एक है। अर्थात् सभी शब्दार्थ से यात्रा प्रारम्भ करते हैं। पर विश्रान्ति-विन्दु सबका एक नहीं है। अलंकार के तीनों सम्प्रदाय शब्दार्थ से चलते हैं और रसभावादि से परिचय करके फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आते हैं। अतः इन्हें प्रस्थित-प्रतिनिवृत्त कहना चाहिए, अर्थात् जहाँ से ये चलते हैं फिर वहीं लौट आते हैं। किन्तु अलंकार्य के तीनों सम्प्रदाय चलते तो शब्दार्थ से ही हैं; पर पुनः शब्दार्थ की ओर नहीं लौटते; वे आगे रसभावादि में विश्रान्त हो जाते हैं। इसलिए इन्हें प्रस्थित-पर्यवसित कहना चाहिए, अर्थात् जहाँ से ये चलते हैं फिर वहाँ न लौटकर दूसरी जगह पर्यवसान पाते हैं।

इस बात को उदाहरण में देखने के लिए भामह और मम्मट इन दो आचार्यों को लिया जा सकता है, जिनमें पहला अलंकारवादी है और दूसरा अलंकार्यवादी। उधर भामह ने कहा—'शब्दार्थौ काव्यम्' और इधर मम्मट ने भी कहा—'तद् (काव्यम्) अदोषौ शब्दार्थौ'। इस प्रकार दोनों की यात्रा शब्दार्थ से ही प्रारम्भ हुई। पर आगे दोनों के प्राप्तव्य स्थान बदल गए। उधर भामह रस-भावादि से परिचय करके भी उन्हें रसवदादि अलंकार के रूप में पकड़ लाए और उनसे शब्दार्थ को अलंकार्य बनाकर बैठ गए। यानी शब्दार्थ से चले और फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आये। इधर मम्मट उपमादि अलंकारों को शब्दार्थ के शोभाधायक धर्म कहते हुए भी दोनों की योजना रस-भावादि की अपेक्षा से ही मानकर रस तक पहुँच गए। अर्थात् शब्दार्थ और शब्दार्थालंकारों को व्यंग्यत्रयी के पैरों में डालकर उसीको चरम अलंकार्य मानकर रम गए, वे फिर शब्दार्थ की ओर नहीं लौटे। भामह शब्दार्थ के सिंहद्वार पर खड़े हैं और वहीं से अपनी दृष्टि रस-भावादि के अन्तः प्रकोष्ठों की रमणीयता का घूम-घूमकर परिचय पा रहे हैं, और उस शब्दार्थ के प्रति बड़े अहसानमन्द हैं, जिसके माध्यम से वे भीतर पहुँच सके।

रीति-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय को शुद्धालंकार-सम्प्रदायवादी आचार्य भामह के और अलंकार्य के सम्प्रदायों को मम्मट के आदर्श पर देखा जा सकता है। रस-सम्प्रदाय के तो मम्मट एक प्रकार से प्रतिनिधि ही हैं। औचित्य-सम्प्रदाय भी उनसे विरोध नहीं खाता। वह औचित्य को काव्य का जीवित तो मानता है, पर कैसे काव्य का? रससिद्ध काव्य का। फलतः औचित्य काव्य का जीवन है, जो आत्मस्थानीय रस को महत्त्व दिये बिना नहीं

रह सकता। जीवन का सम्बन्ध बाहर-भीतर दोनों से है। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने भी काव्य के बाह्य-पक्ष अलंकारादि से और अन्तःपक्ष रसादि से औचित्य का सम्बन्ध प्रतिपादित किया है। निःसन्देह औचित्य की मात्रा भी शब्दार्थ-योजना से चलकर रस में पर्यवसित होती है, क्योंकि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को जिस काव्य का सर्वव्यापी तत्त्व माना है उसे 'रससिद्ध' काव्य के रूप में पहले ही घोषित कर रखा है (औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्)। इस प्रकार अलंकार्य के तीनों सम्प्रदायों का प्रस्थान-बिन्दु और विश्रान्ति-बिन्दु एक नहीं। प्रस्थान-बिन्दु शब्दार्थ है और विश्रान्ति-बिन्दु व्यंग्यत्रयी।

उधर अलंकार के तीनों सम्प्रदाय भी लगभग आदर्श पर चलते हैं। शुद्धालंकार-सम्प्रदाय के तो भामह प्रतिनिधि हैं ही; रीति सम्प्रदाय और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय भी उनके सजातीय हैं। रीति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने रसभावादि को काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के गुणों में ही किसी-न-किसी प्रकार अध्यासित किया है। कान्ति नामक गुण के भीतर वे स्पष्टतः रस की सत्ता मानते हैं (दीप्तरसत्वं कान्तिः)। और फिर ऐसे गुणों से वे उस रीति को विशेषित करते हैं, जो 'पद-रचना' के रूप में शब्दार्थ की ही एक संघटना मात्र है (विशेषो गुणात्मा····विशिष्टा पदरचना रीतिः)। फलतः ये शब्दार्थ से चले और फिर शब्दार्थ की ओर ही लौट आए।

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का भी यही हाल है। वह भी शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानकर चला है और वक्रोक्ति के भीतर रसभावादि को लपेटकर पुनः शब्दार्थ के ही पास आ गया है, क्योंकि कुन्तक ने जिस वक्रोक्ति की सीमा में यावन्मात्र व्यंग्य चक्र को अन्तर्भावित कर दिया है उसे वे शब्दार्थ के पैरों में ही ला पटकते हैं, अर्थात् शब्दार्थ का अलंकार ही मानते हैं। इस प्रकार अलंकार के तीनों सम्प्रदायों का प्रस्थान-बिन्दु तो एक है ही, विश्रान्ति-बिन्दु भी एक ही है। प्रस्थान-बिन्दु भी शब्दार्थ है और विश्रान्ति-बिन्दु भी शब्दार्थ ही है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रस्थान-बिन्दु की एकता और विश्रान्ति-बिन्दु की भिन्नता दोनों प्रकार के सम्प्रदायों में अलंकार और अलंकार्य को लेकर भी है। अलंकार के सम्प्रदायों ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शब्दार्थ को ही किसी-न-किसी रूप में अलंकार्य माना और समस्त शोभाधायक धर्मों को, जिन्हें रसभावादि से किसी-न-किसी प्रकार अन्तर्व्याप्त कर लिया, अलंकार ही सिद्ध किया। पर अलंकार्य के सम्प्रदायों ने प्रारम्भ से तो शब्दार्थ को अलंकार्य और उसके अस्थिर धर्म उपमादि अलंकारों को अलंकार के रूप में पहचाना, किन्तु पीछे से शब्दार्थ और उसके अलंकारों की योजना रसापेक्षिणी सिद्ध करते हुए दोनों को अलंकार-कोटि में और रस-भावादि को अलंकार्य-कोटि में घोषित किया। यही दोनों प्रकार के सम्प्रदायों की दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य की व्याप्तियों में रूप-परिवर्तन और स्वरूप-भेद है। शब्दार्थ का एक के यहाँ अलंकार होना और दूसरे के यहाँ अलंकार्य होना, एवं रस-भावादि का एक के यहाँ अलंकार्य होना और दूसरे के यहाँ अलंकार होना रूप-परिवर्तन है। गुणों के लक्षण अलंकार के सम्प्रदायों में शब्दार्थ[1] के

---

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधि माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च शब्दार्थ गुणा दशैते ॥ —वामनाचार्य

धर्म माने जाने के कारण शब्दार्थ-रूप और अलंकार के सम्प्रदायों में उन्हींके लक्षण रस[1] के धर्म माने जाने के कारण रस-रूप हैं—यह स्वरूप-भेद ठहरा। अलंकार-सम्प्रदायवादी गुणों की स्थिति शब्दार्थ में मानते हैं और अलंकार्य सम्प्रदायवादी उनकी प्रधान स्थिति रस-गत सिद्ध करते हैं—यह स्थिति-भेद भी हो ही गया।

●

डॉ० भगीरथ मिश्र

व्यावहारिक समीक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त

व्यावहारिक समालोचना किसी सिद्धान्त-विशेष पर आधारित नहीं रहती। फिर भी हम उसके सिद्धान्तों की चर्चा करने बैठे हैं, यह एक स्वयं विरोधी बात-सी लगती है। पर बात कुछ ऐसी ही है। आलोचना का उद्देश्य किसी भी काव्य-कृति के समस्त सौन्दर्य और विशेषताओं को स्पष्ट करके उन्हें अनुभूतिगम्य बनाना है। इस दृष्टि से आलोचना के अनेक स्वरूप विकसित हुए, पर कोई एक इस उद्देश्य की पूर्णतया पूर्ति न कर सका। अतएव व्यावहारिक समीक्षा की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

व्यावहारिक समीक्षा के सिद्धान्तों या नियमों के अनुसन्धान की पूर्वगामिनी, आलोचना की एक सामान्य प्रक्रिया है, जो इसकी समुचित दृष्टि प्रदान करती है। इस क्रिया को व्यवहार में लाने वाले अँग्रेजी के प्रसिद्ध समालोचक और विद्वान् श्री आइ० ए० रिचर्ड्स हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ 'प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़्म' (Practical Criticism) में इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है और निष्कर्ष स्वरूप अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके ये निष्कर्ष अंग्रेजी काव्य के आधार पर हैं। यद्यपि यह उनका अपना दृष्टिकोण है और अन्य अनेक आलोचकों ने इसे बहुत पूर्ण या महत्त्वपूर्ण स्वीकार नहीं किया, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अपने इस नए प्रयोग के द्वारा इस दिशा में अनेक सुझाव प्रदान करते हैं। उन्हीं सुझावों के आधार पर इस विषय में भारतीय काव्य को भी ध्यान में रखकर कुछ विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

श्री रिचर्ड्स महोदय ने अनेक अँग्रेजी कविताओं को, उनके शीर्षकों और लेखकों के नामों को हटाकर विभिन्न प्रकार के शिक्षास्तर के शिक्षित व्यक्तियों को स्वतन्त्र समालोचनार्थ भेजा और उनकी समालोचनाएँ प्राप्त होने पर उनमें से तेरह का विश्लेषण अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इसीके आधार पर उन्होंने समीक्षा की कुछ विशिष्ट बातों और नियमों का संग्रह किया है।

इसके पूर्व कि हम उन नियमों पर विचार करें, हमें पहले इस प्रयोग की महत्ता पर विचार कर लेना चाहिए। रिचर्ड्स महोदय का उद्देश्य केवल साहित्यिक समीक्षा का

१. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थित यो गुणाः॥ —मम्मटाचार्य

एक प्रयोग करना ही न था, वरन् संस्कृति की समकालीन स्थिति और शिक्षा-पद्धति का एक नवीन मार्ग भी स्पष्ट करना था। इसके अतिरिक्त स्वयं हम काव्य के सम्बन्ध में किस प्रकार सोचते-विचारते हैं, यह ज्ञान भी अपने-आपको इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा हो जाता है।[१] इस प्रकार आत्म-विश्लेषण और शिक्षा-पद्धति के साथ साथ इस प्रयोग का सबसे बड़ा महत्त्व सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है। यदि इस प्रकार के व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग चलते रहें और विभिन्न देशों में एक ही समय चलें, तो निश्चय ही हमें इनके द्वारा संस्कृति और काव्याभिरुचि का तुलनात्मक यथार्थ ज्ञान हो सकता है। इस दृष्टि से सचमुच इसका बहुत बड़ा महत्त्व है।

यहाँ पर हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के सांस्कृतिक या शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञान के लिए किसी और विषय को चुना जा सकता था। काव्य को ही क्यों चुना गया और उसका ही चुना जाना क्या कुछ अधिक आवश्यक है? हाँ, काव्य इस प्रकार की समीक्षा को प्राप्त करने के लिए सर्वोपयुक्त विषय है। अन्य अनेक विषय जैसे—गणित, विज्ञान, व्यापार, कानून, उद्योग या अन्य शास्त्रीय विषयों की ओर सभी प्रकार के व्यक्तियों की रुचि नहीं होती। विशिष्ट रुचि और बुद्धि के व्यक्ति ही इन विषयों में प्रवृत्त हो पाते हैं। परन्तु धर्म, दर्शन, अध्यात्म, नीति, आचार, सौन्दर्य-शास्त्र आदि की ओर एक साथ बहुतों की रुचि और प्रवृत्ति होती है; किन्तु इनका जो शास्त्रीय स्वरूप होता है, उसकी ओर सभी का रुझान नहीं होता; वह भी विशिष्ट ज्ञान और रुचि का विषय हो जाता है। काव्य का सम्बन्ध इन सब विषयों से होता है, अतएव काव्य के माध्यम से प्रस्तुत इन विषयों में व्यापक जन-समुदाय की सहज अभिरुचि होनी एक स्वाभाविक और वास्तविक बात है। यह एक तथ्य है। अतः व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग के लिए काव्य को चुनना ही अधिक उपयुक्त है।

उपर्युक्त उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ एक शंका यह उठ सकती थी कि यदि इस प्रकार के प्रयोगों का उद्देश्य सांस्कृतिक या शिक्षा-संबन्धी है, तो ऐसी समीक्षा से साहित्य का क्या संबन्ध है? और इस प्रकार साहित्यिक समीक्षा या आलोचना के क्षेत्र में इसकी चर्चा क्यों होनी चाहिए? इस शंका का उत्तर हमें काव्य को इस उद्देश्य के लिए चुने जाने के कारण में प्राप्त हो जाता है। यद्यपि 'व्यावहारिक समीक्षा' (Practical Criticism) के लेखक का उद्देश्य साहित्यिक समीक्षा-मात्र नहीं; फिर भी क्योंकि काव्य को ही इस प्रकार के प्रयोगों के लिए सर्वोपयुक्त समझा गया है, अतः उसका संबंध निश्चयतः साहित्यिक

१. I have three aims in constructing this book. First to introduce a new kind of documentation to those who are interested in the contemporary state of culture, whether as critics, as philosophers, as teachers as psychologists, or merely as curious persons. Secondly to provide a new technique for those who wish to discover for themselves what they think and feel about poetry and why should they like or dislike it, thirdly to prepare the way for educational methods more efficient than those we use now in developing discrimination and power to understand what we hear or read. Practical Criticism, P. 3, Introductory.

समीक्षा से हो जाता है। इस प्रकार काव्य-समीक्षा का यह व्यावहारिक रूप न केवल साहित्यिक अभिरुचि के स्तर का एक लेखा प्रस्तुत करता है; वरन्, वह मानव अनुभूति और विचारों का एक स्वाभाविक इतिहास बन जाता है।[1]

व्यावहारिक समीक्षा-संबंधी प्रयोगों से यह बात स्पष्ट होती है कि भावों या विचारों का सहज और सरल प्रकाशन कितना कठिन है, साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समीक्षा का प्रयास भी भावों और विचारों के आदान-प्रदान की सहजतम रीति निकालना है। समीक्षा-संबंधी अनेक सिद्धान्त इसीके परिणाम हैं; परन्तु वास्तविकता तो कुछ इस प्रकार की ही है कि वे सिद्धान्त या नियम बुद्धिमानों के लिए तो बड़े सहायक सिद्ध होते हैं; परन्तु अन्यों के लिए वे स्वयं एक भ्रम या उलझन में डालने वाली वस्तु बन जाते हैं।[2]

मनुष्य की विविध अभिरुचियों और विभिन्न मनोवृत्तियों के परिणामस्वरूप तथा विभिन्न युगों की जीवन-शैली और आदर्शों की परिवर्तनशीलता और विकास के कारण कोई भी नियम या सिद्धान्त सर्वांगीण रूप से उपयोगी नहीं सिद्ध हो पाता। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त विशेष का आग्रह समीक्षा को अपनी सीमा में बाँधने वाला भी होता है और उसके स्वच्छन्द विकास में बाधा पहुँचती है, अतः उसके स्वच्छन्द और विकासशील रूप को ही प्रेरणा देने का प्रयत्न श्रेयस्कर है। इस प्रकार व्यावहारिक समीक्षा के मार्ग में कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। इन कठिनाइयों में से कुछ प्रमुख पर यहाँ विचार किया जाता है।

सबसे प्रथम कठिनाई है, कविता के वास्तविक अर्थ-ग्रहण की। किसी भी छन्द का यथार्थ तात्पर्य ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि अन्य बातें इसी पर निर्भर करती हैं। यह बात कुछ आश्चर्यकारी है, परन्तु व्यावहारिक समीक्षा के प्रयोग-स्वरूप जो निष्कर्ष निकला, वह यही था कि अधिकांश व्यक्ति कविता का अर्थ सहज तात्पर्य नहीं समझ पाते और इसके परिणामस्वरूप उसमें व्यक्त भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य को समझने में भी भ्रम कर बैठते हैं। यह बात सरल, जटिल और क्लिष्ट सभी प्रकार की कविताओं के लिए सत्य बैठती है। किसी भी समीक्षा के लिए, काव्य का अर्थ-ज्ञान तो प्रारम्भिक आवश्यकता है।

दूसरी इसीके समकक्ष कठिनाई है, कविता के ऐन्द्रिक प्रभाव के ग्रहण की। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि कविता में शब्द-क्रम गद्य के शब्द-क्रम से भिन्न होता है और उसका एक लयात्मक या ध्वन्यात्मक प्रभाव होता है। इस प्रभाव को ग्रहण करने के लिए हमारी

---

१. It serves, therefore, as an eminently suitable bait for any one who wishes to trap the current opinions and responses in this middle field for the purpose of examining and comparing them, and with a view to advancing our knowledge of what may be called the natural history of human opinions and feelings. —Practical Criticism, P. 6

२. There has hardly ever been a critical rule, principle or maxim which has not been for wise man a helpful guide, but for fools a will-o'-the-wisp. —I. A. Richards.

श्रवण-शक्ति की योग्यता आवश्यक है। लयात्मक प्रभाव को ग्रहण कर सकने वाले व्यक्तियों पर जो प्रभाव किसी छन्द का पड़ सकता है, वह अन्यों पर नहीं। हम कवि की तद्विषयक प्रतिभा और कविता के इस गुण की विशेषता नहीं जान सकते, यदि हममें ये लयात्मक संस्कार नहीं हैं। इस त्रुटि का परिहार किन्हीं अंशों में कवि द्वारा या किसी अन्य दक्ष व्यक्ति द्वारा लयात्मक ढंग से पढ़कर किया जा सकता है; परन्तु उसके भी समग्र प्रभाव का आनन्द लेने के लिए पाठक को इस दृष्टि से सुसंस्कृत होना आवश्यक है।

ऐन्द्रिक प्रभाव का दूसरा रूप है दृश्य-दर्शन। इसका सम्बन्ध हमारी प्रत्यक्ष करने की शक्ति से है। कवि के भीतर प्रत्यक्षीकरण की शक्ति असाधारण रूप से विद्यमान होती है और वह प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं का वर्णन करता है। परन्तु प्रत्यक्ष करने या दृश्य-दर्शन की शक्ति सबमें बराबर या एक-सी नहीं होती, अतः इसके परिणामस्वरूप कविता में प्रस्तुत दृश्यों को हृदयंगम करने या उसके प्रभाव ग्रहण के क्षेत्र में अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। कभी हम कवि द्वारा उद्दिष्ट प्रभाव से अधिक प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं और कभी उस तक पहुँच ही नहीं पाते। इस प्रकार विभिन्न कोटि के व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत समीक्षाओं में भिन्नता होना स्वाभाविक है। इसके साथ-ही-साथ एक बात और है। हमारे स्मृति-पटल पर अनेक पूर्ववर्ती घटनाओं और दृश्यों के चित्र अंकित रहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि हम कोई पंक्ति पढ़कर अपनी स्मृति के संस्कारों के कारण, अपने अनुभूत किन्तु विषय से पूर्णतया अप्रासंगिक दृश्यों और प्रभावों में मग्न हो जाते हैं। जैसे कि कविवर बिहारी ने कहा है—**"मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर"**, वैसे ही हम अपनी किसी प्रिय कल्पना या सुधि से ओत-प्रोत होकर विषय से विच्छिन्न हो जाते हैं। यह भय योग्यता या संस्कार की त्रुटि के कारण नहीं, वरन् एक स्वाभाविक-सी बात है। परन्तु इससे हम कविता की पंक्तियों का उद्दिष्ट या वांछित प्रभाव नहीं ग्रहण कर सकते, यह भी सत्य है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा होता है कि संयोग से कवि उस भावना को प्रकट करता है जो हमारी अपनी भावना भी है। ऐसी दशा में हम उस भावना से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वह कवि की न रहकर अपनी हो जाती है। समीक्षा की दृष्टि से यह स्थिति भी आपत्तिपूर्ण है; क्योंकि ऐसी दशा में या तो हम कवि के साथ पक्षपात करेंगे या उसे कोई श्रेय न देंगे।

समीक्षा के क्षेत्र में भावुकता एक बहुत बड़ी कठिनाई है। इस भावुकता के वशीभूत होकर निश्चय ही या तो हम कुछ ऐसी अच्छाइयाँ देखने लगते हैं, जो उसमें हैं नहीं और या हम प्रसंग से पूर्णतया बहक जाते हैं। यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि भावुक और भावक, सहृदय या समीक्षक में अन्तर है। वास्तविक गुणों का समुचित ग्रहण और प्रशंसा भावक या सहृदय का काम है जब कि भावुक अवास्तविक या काल्पनिक गुणों की प्रशंसा करता है। उसकी अभिव्यक्ति सदैव समीक्षा नहीं कही जा सकती।

इससे विपरीत स्थिति है अरसिकता की। इसमें पाठक या समीक्षक गुणों को देखते और प्रभावित होते हुए भी उदारता से उनकी प्रशंसा नहीं करना चाहता। यह दशा काव्य गुणों और कवि के उत्साह पर पानी फेरने वाली होती है। इसीलिए कहा गया है—**"अरसिकेषु कवित्व निवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।"** अतः समीक्षा में इस

अरसिकता की स्थिति से भी सावधान रहने की आवश्यकता है।

एक और बहुत बड़ी कठिनाई है—सैद्धान्तिक आग्रह। यह सैद्धान्तिक आग्रह दो रूपों में देखा जा सकता है। प्रथम तो इस रूप में, कि कविता में सत्य या जीवन के सम्बन्ध में क्या विचार प्रकट किये गए हैं। यदि पाठक या समीक्षक किसी विशेष सम्प्रदाय, विचार या सिद्धान्त का व्यक्ति है, तो उस काव्य-खण्ड का मूल्यांकन उसके आधार पर करेगा। उसके होने पर उसकी प्रशंसा और न होने पर निन्दा की जा सकती है। अन्य सिद्धान्त या विचार-धारा के कारण उसे निकृष्ट बताया जा सकता है। समीक्षक के सामने एक और प्रश्न उपस्थित होता है, कि क्या काव्य का महत्त्व उसमें व्यक्त किसी विशिष्ट सिद्धान्त या विचार-धारा के कारण है, या इसके अतिरिक्त किसी अन्य बात पर। यदि विचार-धारा से इतर बात को हम महत्त्व देते हैं, तो वह कविता की शैली या शिल्प हो सकता है। यहाँ भी सैद्धान्तिक आग्रह का प्रश्न सामने आ उपस्थित होता है। शिल्प और शैली से सम्बन्धित अनेक सिद्धान्त हैं। हम उनमें से किसी एक का आग्रह उस कविता में कर सकते हैं। यदि उसमें वही शिल्प-विधि या शैली अपनाई गई है, तो वह हमें अच्छी लगती है और यदि नहीं अपनाई गई है, तो वह कविता हमें दोषपूर्ण लगती है। भारतीय काव्य शिल्प-विधि के अनेक रूप अलंकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि आदि हैं। यदि आज का काव्य हम उनमें से किसी कसौटी पर कसने लगें, तो आवश्यक नहीं कि वह उसमें खरा ही उतरे। आज का काव्य आज के जीवन के अनुरूप और उससे सम्बन्ध रखता है। अतः इस प्रकार किसी शिल्प-सिद्धान्त का आग्रह भी समीक्षा के लिए उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शिल्प-सम्बन्धी बातें तो माध्यम मात्र हैं, अतः उन्हें साधन रूप में ही देखना आवश्यक है। साध्य तो कुछ और है। वह उसके अन्तर्गत व्यक्त विचार, भाव, जीवन, आदर्श संस्कृति आदि कुछ हो सकता है। समीक्षक को देखना यह है कि वह उद्देश्य किस प्रभाव के साथ अभिव्यक्ति पा सका है। इसीमें कवि की सफलता और कविता की उत्कृष्टता निहित रहती है।

उपर्युक्त कुछ प्रमुख कठिनाइयाँ हैं जो व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में उपस्थित होती हैं। इन बातों को सामने रखने पर हम देखते हैं कि मानव-अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चार बातें सामने आती हैं, जिन्हें हम अभिव्यक्ति के चार पक्ष कह सकते हैं। ये हैं—अर्थ, भावानुभूति, ध्वनि और उद्देश्य। किसी भी समीक्षक के लिए इन चारों पक्षों का समुचित ज्ञान अपेक्षित है। विभिन्न प्रकार की अभिव्यक्तियों में इन पक्षों की कमी या अधिकता देखी जा सकती है। एक वैज्ञानिक कृति के लिए अर्थ ही सर्वोपरि महत्त्व का है। उसका भावानुभूति या ध्वनि से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हाँ, उद्देश्य अवश्य उसके अर्थ का पथ-प्रदर्शन करता है। परन्तु एक साहित्यकार या वक्ता के लिए भावानुभूति का पक्ष महत्त्वपूर्ण है, जहाँ पर वह अपने वक्तव्य या भाषण का प्रभाव डालना चाहता है। भाव के विशिष्ट प्रभाव के लिए ध्वनि का अपना स्थान है, विशेष रूप से कविता की स्मरणीय रमणीयता के लिए ध्वनि का सहारा आवश्यक है। उपदेशात्मक और सैद्धान्तिक उक्तियों में उद्देश्य प्रधान होता है। इस प्रकार विभिन्न अभिव्यक्तियों की प्रकृति के अनुसार इन चार पक्षों के स्वरूपों का प्राधान्य या उनकी उपेक्षा रहती है।

इन पक्षों का सम्बन्ध काव्य के तत्त्वों से भी जोड़ा जा सकता है। काव्य भी एक विशिष्ट प्रकार की अभिव्यक्ति है; वरन् यह कहा जाय कि काव्य एक सजीव और पूर्ण अभिव्यक्ति है, तो असमीचीन न होगा। इस अभिव्यक्ति में शब्द, अर्थ, भाव, कल्पना और बुद्धि तत्त्वों का सामंजस्यपूर्ण समन्वय रहता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य उक्तियों में समस्त तत्त्व विद्यमान नहीं रहते। वैज्ञानिक उक्तियों में अर्थ और बुद्धि-तत्त्व प्रधान है। दार्शनिक उक्तियों में अर्थ, बुद्धि-तत्त्वों के साथ कभी-कभी कल्पना-तत्त्व का भी समावेश हो जाता है। शब्द-तत्त्व केवल अर्थ-तत्त्व का वाहक होकर आता है, उसका अपना पूर्ण स्वरूप प्रकट नहीं होता और उसकी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषता प्रस्फुटित नहीं हो पाती। शास्त्रीय, धार्मिक और नैतिक उक्तियों में भी यही बात देखी जाती है। अतः वह काव्य या उसके समकक्ष ही कोई उक्ति है, जिसमें इन पाँचों तत्त्वों का समुचित एवं सजीव प्रभावपूर्ण सम्मिश्रण देखा जाता है। इसीलिए उक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण काव्योक्ति मानी गई है। पूर्वोक्त चार पक्षों का समाहार भी इन पाँचों तत्त्वों में हो जाता है।

एक बात और है। अन्य उक्तियों में ये तत्त्व अपने सामान्य, नग्न या नीरस रूप में रहते हैं, परन्तु काव्योक्ति में इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपने द्युतिमय, अलंकृत एवं सरस रूप में दिखाई पड़ता है। शब्द-तत्त्व को लीजिए। काव्य में यह केवल अर्थ का वाहक मात्र नहीं है, वरन् इसका अपना निजी आकर्षण है और सबसे पहले वही हमारे ध्यान को खींचता है। संगीतात्मक-ध्वनि, काकु-वक्रोक्ति और भावानुकूल गति या लय का प्रभाव और संचार करने की क्षमता शब्द-तत्त्व में ही प्रकट हो जाती है। उसका स्वरूप न केवल अर्थ को प्रकट करने में सहायक होता है, वरन्, अन्य तत्त्वों को भी चमका देता है। काव्य में शब्द, रत्नों के समान दमक लेकर आता है; वह साधारण उपयोग का पत्थर-मात्र नहीं रह जाता। रस की द्युति में पाठक चमत्कृत होता और उसकी गति में वह झूम जाता है।

इसी प्रकार अर्थ-तत्त्व है। काव्य में अर्थ-तत्त्व शब्द के चमत्कार से पूर्ण होने के कारण अलंकृत रूप धारण करता है। अर्थ में व्यंजना का समावेश हो जाता है। वह अर्थ कल्पना और अनुभूति को सजग करता चलता है। व्यंग्यार्थ काव्य में उद्दिष्ट और प्रधान हो जाता है; अतः शब्दों के सामान्य अर्थों से काम नहीं चलता। जिसको हम तर्क की कसौटी पर अनर्गल कह सकते हैं[1], काव्य में वह पूर्ण प्रभाव डालने में समर्थ होता है।

कल्पना और भाव-तत्त्व तो काव्य में ही प्रधानतया रहते हैं। काव्य में कल्पना और अनुभूति का माध्यम होने से अर्थ-तत्त्व भी प्रभावित होता है। आलंकारिक अभिव्यक्ति, जैसी कि रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, प्रतीक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि में पाई जाती है; कल्पना-प्रेरित होती है। अतः कल्पना और भावानुभूति को जाग्रत करने वाले काव्य के शब्द-विधान में वाक्य-रचना या शब्द-क्रम का व्याकरणिक महत्त्व नहीं रहता। समीक्षक

१. But these indirect devices for expressing feeling through logical non-sense, through statements not to be taken strictly, literally or seriously, though pre-eminently apparent in poetry, are not peculiar to it.—Practical Criticsm. p. 188.

को अर्थ-ग्रहण करने के लिए अपने अनुभव या सहज संस्कारों का सहारा लेना पड़ता है। प्रसंग, परम्परा और प्रयोग के आधार पर हम काव्यगत अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का मूल्यांकन कर सकते हैं, इसके बिना नहीं। कोरा तर्क-संगत अर्थ ही महत्त्व का नहीं होता।[1] शब्द की गति, ध्वनि और लोच से, कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत दृश्यावली से और अनुभूति पर पड़े प्रभाव से सामूहिक रूप में जो हमारी बुद्धि ग्रहण करती है, अथवा जो वैचारिक संस्कार बनते हैं, वही महत्त्वपूर्ण होते हैं। गोस्वामी तुसलीदास जी ने काव्य-रचना के व्यापार को स्पष्ट करते हुए लिखा है :

"हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहैं सुजाना॥
जो बरिसै बर बारि बिचारू। होइ कबित मुक्तामनि चारू॥"

अनुभति में डूबी हुई कल्पना या प्रतिभा में जब किसी सुन्दर विचार का प्रवेश, वाणी की कृपा से होता है, तब कविता का जन्म होता है। इस प्रकार काव्यगत अर्थ, सामान्य अर्थ से भिन्न है और उसमें ध्वनि, भाव और कल्पना की विशेषताओं का समावेश सहज में ही रहता है। ध्वनि शब्द तत्त्व और छन्द के परिणामस्वरूप संगीत का गुण काव्य में भरती है। भाव सरसता और रोचकता की सृष्टि करते हुए हमारे मनोविकारों को जाग्रत करते हैं, जिसमें हमारे भीतर तन्मयता और एकाग्रता आती है और कल्पना सजीव चित्रों को सामने रखती है, जो भाव आदि के प्रेरक होते हैं। इस प्रकार संगीत, चित्र-कला और मनोविज्ञान की विशेषताओं से युक्त काव्य एक रमणीय रचना बन जाता है। यह विशेषता अन्य उक्तियों में नहीं पाई जाती।

कल्पना-शक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया हुआ अप्रस्तुत विधान केवल अलंकार की सृष्टि नहीं करता, वरन् सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूतियों को प्रकट करने में समर्थ होता है।[2] अतएव अलंकार-विधान को सदैव नव्य रूप देना अनुभूति की सूक्ष्मता, तीव्रता और सघनता पर तथा कल्पना की शक्ति पर निर्भर करता है। इस प्रकार काव्य में अर्थाभिव्यक्ति की प्रक्रिया साधारण न होकर जटिल होती है। आलंकारिकता, उक्ति-वैचित्र्य या दृश्यचित्रण के माध्यम से अभिव्यक्त भाव या तात्पर्य उपयुक्त कल्पना और अनुभूति-सम्बन्धी क्रियाओं को ध्यान में रखकर ही भलीभाँति ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्वोक्त पक्षों या तत्त्वों में से किसी एक या अनेक को लेकर, काव्य की अभिव्यक्ति या शिल्प-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए हैं। परन्तु वे सभी काव्य के सम्बन्ध में सत्य होते हुए भी, सार्वकालिक काव्य की समीक्षा के उपयुक्त नहीं हैं। काव्य की विशेषता उसकी नव्यता में है। युग की चेतना और अनुभूति को सँजोकर कवि जो नूतन अभिव्यक्ति करता है, उसमें उसका अनुभव और जीवन-दर्शन छिपा रहता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास की नूतन मंजिलें जिस प्रकार ठीक पूर्ववर्ती या प्राचीन मंजिलों-जैसी नहीं है, उसी प्रकार काव्य का स्वरूप भी ठीक पूर्ववर्ती या प्राचीन-स्वरूप जैसा नहीं हो

१. I have urged above that non-sense is admissible in poetry, if the effect justifies it.—Practical Criticism p. 194.

२. Most descriptions of feelings and nearly all subtle descriptions are metaphorical and of the combined type—Practical Criticism p. 222.

सकता। अतएव उसकी समीक्षा के लिए पूर्ववर्ती या प्राचीन सिद्धान्त पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं। इस कारण से व्यावहारिक समीक्षा शिल्प-विधि-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से मुक्ति चाहती है। वह काव्य या उक्तियों में प्रकट धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्तों के आग्रह से भी मुक्ति चाहती है, क्योंकि जीवन के नवीनतम प्रयोग नित्य नये सत्य-सिद्धान्तों और नियमों की खोज करते रहते हैं और प्रगतिशील जीवन को बाँधकर रखने में प्राचीन या पूर्ववर्ती सिद्धान्त पर्णतया सक्षम नहीं होते। अतः व्यावहारिक समीक्षा एक स्वतन्त्र समीक्षा-क्रम है।

इतना होते हुए भी अभिव्यक्ति और काव्य के मूल में विद्यमान जो तत्त्व हैं, उनका प्रत्यक्षीकरण यह समीक्षा अनिवार्य समझती है। किसी अभिव्यक्ति में उनका नूतन रूप किस प्रकार प्रकट हुआ है, यही उसकी सबसे बड़ी खोज है। उसकी कसौटी अभिव्यक्ति की पूर्णता से सम्बन्धित आदर्श हैं, जिसका स्वरूप समीक्षक या पाठक के अध्ययन, सुरुचि, संस्कार, सहृदयता आदि की समग्रता से बनता है। उस पर कविता का मूल्यांकन उसके द्वारा प्रेषित प्रभाव के आधार पर होता है। यह प्रभाव जितना ही सामाजिक होगा, कविता की उत्कृष्टता उतनी ही व्यापक होगी।



डॉ० भोलाशंकर व्यास

काव्य-चिंतन का अप्रतिम ध्वनि-सिद्धान्त

भारतीय काव्यालोचन के इतिहास के पर्यालोचन करते समय सहसा यह धारणा बन जाती है कि भारत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक भारतीय काव्य-शास्त्र में उत्तरोत्तर विकास होता रहा है। विविध दृष्टिकोण से विचार करते हुए मेधावी चिंतकों ने काव्य के अनेकानेक पक्षों पर प्रकाश डाला है तथा कुछ निर्णय तो इतने व्यापक हैं कि वे काव्य से इतर ललित-कलाओं पर भी लागू हो सकते हैं। यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने काव्य के किसी-न-किसी एक पक्ष की चमत्कारवत्ता पर ज़रूरत से ज्यादा जोर दिया है, तथा इस प्रकार काव्य के अभिव्यंग्य तथा अभिव्यंजना—मैटर तथा मैनर—के सन्तुलन की ओर कम ध्यान दिया है, फिर भी जहाँ तक उसके सामाजिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, ये सभी लोग एक मत रखते देखे जाते हैं। काव्य के नैतिक पक्ष की अवहेलना या उपेक्षा सम्भवतः किसी भी भारतीय काव्यालोचक ने नहीं की है। वे टी० एस० इलियट की भाँति, काव्यालोचन को तब तक परिपूर्ण मानने को तैयार नहीं हैं, **"जब तक कि वह निश्चित नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण से समन्वित न हो।"**[1] काव्य का चरम लक्ष्य, 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति' मानकर भामह जैसे पुराने खेवे के आलोचक ने काव्य के व्यावहारिक, नैतिक तथा सामाजिक महत्त्व की उद्घोषणा की थी[2],

१. Eliot—Religion and Literature (Selected Prose, p. 32)

२. **चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पाधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन नरस्वरूपं निरूप्यते॥**

भले ही उसे कुछ लोगों के हाथों कटु भर्त्सना सहनी पड़ी हो, जो काव्य के 'आनन्द तत्त्व' को उसके व्यावहारिक पक्ष से ज्यादा मूल्यवान समझते थे।[1] किन्तु इन लोगों ने भी काव्य के व्यावहारिक तथा नीतिमय पक्ष का यूरोपीय 'कलावादी' आलोचकों की भाँति कदापि निषेध नहीं किया है, तथा काव्य का लक्ष्य 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' मानकर 'आनन्द' या 'रस' को भले ही काव्यालोचन के समय महत्ता दी हो, किन्तु काव्यालोचन के बाद के जीवन में उसका परिशीलन कहाँ तक हितकर अथवा अहितकर है, इस प्रश्न से कभी आँखें नहीं मूँदी हैं। ध्वनिवादी विचारक ने जहाँ 'रस' की मीमांसा करते हुए उसके आनन्द-सन्दोह की अलौकिकता की बार-बार दुहाई दी है, वहाँ उसने इस बात को कभी नहीं भुलाया है कि कहीं इस अलौकिक 'रसानुभूति' का लौकिक उपकरण तो सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों से परे नहीं है। इसी आधार पर ध्वनिवादी विचारक ने एक ओर काव्य-दोषों की विवेचना में नीति-विरोधी तत्त्वों का संकेत किया है, साथ ही दूसरी ओर रस-ध्वनि के आभास रूप, रसाभास तथा भावाभास कोटि के काव्यों में परिपूर्ण 'रस' मानने से इन्कार कर दिया है। उनका 'औचित्य' का सिद्धान्त वस्तुतः इन्हीं "नैतिक तथा सामाजिक मूल्यों पर आधृत" हैं,[2] तथा इस सिद्धान्त के बीज भले ही भरत तक में ढूँढ़ लिये जायँ, इसकी नैतिक परिकल्पना सर्वप्रथम हमें स्पष्ट रूप में आनन्दवर्धन में ही उपलब्ध होती है। यह दूसरी बात है कि नैतिक मूल्यों के परिवर्तित स्वरूप में विश्वास करने वाले विचारक आनन्दवर्धन या दूसरे पुराने भारतीय आलोचकों के द्वारा स्वीकृत सामन्तवादी शाश्वत 'नैतिक मूल्यों' का विरोध करें, किन्तु वे भी ध्वनिवादी को तात्कालिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में पर्यालोचन का विषय बनाने पर उसके सामयिक महत्त्व से इन्कार नहीं कर सकते, तथा इस बात को निःसन्देह स्वीकार करेंगे कि ध्वनिवादी की परिकल्पना का उस काल को काव्यशास्त्रीय तथा सौंदर्यशास्त्रीय-धारणा को परिष्कृत बनाने में बहुत बड़ा कदम था। हाँ, वे ध्वनिवादी के कतिपय विचारों की सार्वदेशिकता तथा सार्वकालिकता का खुलकर विरोध करेंगे।

भारतीय साहित्य-शास्त्र की परम्परा में आनंदवर्धन का ठीक वही महत्त्व है, जो ग्रीक साहित्य-शास्त्र में लौंजिनस का। यदि स्कॉट-जेम्स के शब्दों में लौंजिनस यूरोप का 'प्रथम रोमैंटिक आलोचक' था,[3] तो आनंदवर्धन भी भारत का 'प्रथम रोमैंटिक आलोचक' था। आनंदवर्धन ने भी लौंजिनस की भाँति **"सृष्टि के श्रेष्ठतम प्राणी मनुष्य की सर्वोच्च शक्ति के प्रतिनिधि-रूप में कवि और काव्य-प्रतिभा की अभ्यर्थना की."**[4] उसके ही पदचिह्नों पर चलते हुए उसके प्रशिष्य वाग्देवतावतार मम्मट ने तो कवि-सर्जना को इतना महत्त्व दिया

१. आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्प बुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादपराङ्मुखाय ॥ दशरूपक १-६,

२. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ ध्वन्यालोक ३-१५ ॥

३. R. A. Scott—James, The Making of Literature (cho. VIII) p 80. ff.

४. श्री नन्ददुलारे वाजपेयी : "पाश्चात्य समीक्षाः सैद्धान्तिक विकास" (नया साहित्यः नये प्रश्न, पृ० ६२)

कि उसे ब्रह्मा की सृष्टि से उच्चतर और दिव्यतर घोषित किया। कवि को जो महत्त्व ध्वनिवादियों ने दिया, वह भामह, दण्डी या वामन के यहाँ नहीं मिला था। उनके लिए कवि के केवल दो ही रूप थे, या तो वह पौराणिक या धार्मिक उपदेशक की भाँति 'नीतिमय उपदेश' देने वाला था, या फिर अलंकार-योजना अथवा रुचिर पद-विन्यास (रीति-रचना) के द्वारा श्रोताओं में चमत्कृति उत्पन्न करने वाला था। वस्तुतः वे इससे बढ़कर और कोई महत्त्व कवि को देने को तैयार नहीं जान पड़ते। कवि का पद किसी भी दार्शनिक से कम नहीं है, वह भी दार्शनिक की भाँति परिदृश्यमान जगत् के रहस्यों का दर्शन करता है। दार्शनिक जहाँ कार्य-कारण-परम्परा के आधार पर, बुद्धि और तर्क के द्वारा इन रहस्यों को अनावृत करता है, वहाँ कवि रागात्मक सम्बन्ध का सहारा लेकर प्रकृति के सौंदर्य को, उसके छिपे हुए सौंदर्यमय रहस्य को, उद्घाटित करता है। इतना ही नहीं, वह प्लाटो के उस आदर्श जगत् का, उस मूल प्रत्यय (Idea) का दर्शन कराता है, जो इस परिदृश्यमान जगत् का मूलाधार है, तथा इसके अंतस में अनुस्यूत है। कहना न होगा, ध्वनिवादी ने काव्य के चरम सौंदर्य 'ध्वनि' की जो कल्पना की थी, उस पर शैव वेदान्तियों की उस विचार-सरणि का प्रभाव था, जिसके अनुसार यह सारा परिदृश्यमान जगत् वास्तविक होते हुए भी, मूल शक्ति का ही 'आभास' है। इस दृष्टि से जगत् के बहिः पदार्थों का इतना महत्त्व नहीं है, जितना 'अंतराभास' का। वस्तुतः ये 'अंतराभास' ही 'बाह्याभास' बनकर हमारे समक्ष आते हैं।[१] वैसे शैव वेदांती इन 'बाह्याभासों' को बिशप बर्कले की तरह केवल काल्पनिक या 'तैरते हुए विचार' (फ्लोटिंग आइडियाज़) नहीं मानता, उसके लिए इनका भी तात्त्विक अस्तित्व है।

काव्य की रचना-प्रक्रिया तथा अनुशीलन-प्रक्रिया का इस दार्शनिक पद्धति पर विश्लेषण वही कर सकता था, जो स्वयं कवि भी होता। "To judge the poets is only the faculty of poets." भामह केवल मीमांसक थे, वामन केवल वैयाकरण। दण्डी भी वस्तुतः पदविचारज्ञ मीमांसक ही थे, और प्रोफेसर त्रिवेदी तथा श्री अगाशे ने कवि 'दण्डी' तथा काव्यालोचक 'दण्डी' को अभिन्न मानने का सप्रमाण विरोध किया था।[२] कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि ध्वनिवाद का प्रतिपादन उन लोगों ने किया था, जो स्वयं प्रथम कोटि के कवि, सहृदय तथा दार्शनिक थे। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन तथा उनके प्रशिष्य अभिनव गुप्त की उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा उनकी कविताओं से स्पष्ट है, और मम्मट का कवि-रूप चाहे सप्रमाण पुष्ट न किया जा सके, पर 'काव्य प्रकाश' के दोष-प्रकरण में जहाँ उन्होंने दुष्ट प्रयोगों के परिहार करने के लिए 'निर्दुष्ट प्रयोगों' को रखकर उन्हीं दुष्ट पद्यों को सुधारा है, उनकी काव्य-प्रतिभा का संकेत मिल ही जाता है।

आनंदवर्धन के पूर्व काव्यालोचन काव्य-कृति के किन्हीं बाह्य उपकरणों के सौंदर्य तक ही सीमित था। भामह तथा दण्डी अलंकारों—शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों—की ही कसौटी से काव्य की परख करते थे। उनके यहाँ मम्मट की भाँति 'अनलंकृती शब्दार्थौ' में काव्य मानने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी शब्दार्थ-रचना की तुलना वे

१. दे०—ईश्वरप्रत्याभिज्ञा कारिका २.४.७. तथा उस पर अभिनव गुप्त की 'विमर्शिनी' पृ० ११४, काश्मीर संस्करण।

२. दे०—P. V. Kane—History of Sanskrit Poetics. p. 89. (1951 ed.)

'विधवा नारी' से करते थे,[१] और उसे 'वार्ता' या 'बेयर स्टेटमेण्ट' की संज्ञा देते थे। इनके सिद्धान्तों पर चलकर कालिदास के श्रव्य-काव्यों का एकमात्र सौंदर्य उसके द्वारा प्रयुक्त 'उपमादि' सादृश्यमूलक अर्थालंकारों की रमणीय योजना थी। जहाँ तक कालिदास के दृश्य-काव्यों के परिशीलन का प्रश्न है, वे वहाँ 'रस' की सत्ता मानकर उसके ही आधार पर मीमांसा करने को तैयार थे, किंतु उनके लिए श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य की कसौटियाँ भिन्न-भिन्न थीं। वे इतना तो मानते थे, कि श्रव्य-काव्य में कहीं-कहीं 'रस' होता है, तथा उन स्थानों पर 'रसवदादि' तत्तत् अलंकारों की कल्पना कर बैठे थे। दण्डी की ही गुण-सम्बन्धी मान्यताओं का सहारा लेकर वामन आगे बढ़े और वामन ने गुणों को अधिक महत्त्व देकर उनके आधार पर 'विशिष्ट पदरचना' (रीति) को काव्य का चमत्काराधायक तत्त्व माना। यद्यपि वामन के समय तक ध्वनिवाद का सिद्धांत जन्म ले चुका था,[२] पर वामन के द्वारा इस मत को मान्यता देना तो दूर, इस मत का संकेत तक न करना प्रबल विरोधिता को स्पष्ट करता है। वस्तुतः अलंकारवादी तथा गुण-रीतिवादी काव्यालोचकों को, जो काव्य के 'फार्म' पर, 'पोयटिक डिक्शन' पर, खास ध्यान देते थे, ध्वनिवादियों का 'सीधे-सादे शब्दों वाले व्यंजनापूर्ण काव्य' को उत्तम काव्य घोषित करना, समस्त काव्यालोचन-परम्परा का विसर्जन जान पड़ता था।

ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन उन महान् आलोचकों की कोटि में परिगणनीय हैं, जिन्हें टी० एस० इलियट ने क्रान्तदर्शी आलोचक कहा है। ऐसे आलोचक उन सामान्य आलोचकों से सर्वथा भिन्न हैं, **'जो आलोचना के अंन्तिम आचार्य की मान्यताओं को ही तोते की तरह रट लिया करते हैं।"**[३] महान् आलोचक अपने पूर्व की समस्त परम्परा का पुनरवलोकन करते हैं, वे कवियों की उत्कृष्टता व निकृष्टता पर फिर नए सिरे से विचार करते हैं, कवियों को नए सिरे से क्रम प्रदान करते हैं तथा कविताओं का नए ढंग से आकलन करते हैं। वे पुरानी मान्यताओं को सर्वथा उच्छिन्न नहीं करते, वे कोई सर्वथा नई वैचारिक क्रान्ति को जन्म न देकर, पुरानी मान्यताओं को ही नया विकसित रूप देते हैं। आनंदवर्धन के ध्वनिवादी सिद्धांतों में अलंकार, गुण तथा रीति का समाहार इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ध्वनिवाद पुराने सिद्धांतों का, इलियट के शब्दों में 'रि-एड्जस्टमेंट' था 'रिवोल्यूशन' नहीं।[४]

आनंदवर्धन की नवीन उद्भावनाओं ने निःसन्देह काव्यालोचन के क्षेत्र में अभिनव प्रगति का संकेत किया। काव्य-रूप, 'पोयटिक डिक्शन', के सम्बन्ध में पुरानी परम्परावादी

---

१. **न कान्तमपि निर्भूषम् विभाति वनितामुखम्।। भामह**
गुणालंकाररहिता विधवेव सरस्वती।। दण्डी

२. **वामन तथा आनन्दवर्धन दोनों समसामयिक (नवीं शती उत्तरार्ध) थे। —लेखक**

३. T. S. Eliot. The Function of Criticism.
(Selected Prose, p. 17)

४. This task is not one of revolution but of readjustment.
—T. S. Eliot. The Function of Criticism.
(ibid. p. 17)

संकीर्ण मान्यताओं का सर्वप्रथम विरोध हमें 'ध्वन्यालोक' में ही मिलता है। इसी सम्बन्ध में ध्वनिवादी को 'अर्थविचार-सम्बन्धी मान्यताओं' में भी हेर-फेर करना पड़ा। आनंद-वर्धन, भारत के ही नहीं, विश्व के सर्वप्रथम आलोचक हैं, जिन्होंने 'थियोरी ऑफ मीनिंग' को काव्य-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाया, जिसके बिना काव्य की आत्मा का अनुशीलन करना सर्वथा असम्भव था। बीसवीं सदी में अँगरेजी तथा अमरीकी आलोचकों का शास्त्रीय सम्प्रदाय, जिस 'थियोरी ऑफ मीनिंग' को काव्यालोचन का मूलाधार बना रहा है, तथा जिसके सूत्रपात एवं पल्लवन करने का श्रेय प्रो० आइ० ए० रिचर्ड्स को दिया जाता है, उस दिशा में आनंदवर्धन ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय किया था, जब मनोविज्ञान-जैसे नव्य सहायक शास्त्रों का उदय भी नहीं हुआ था, और आज भी उनके कतिपय संकेत हमारे लिए पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं। काव्य की 'आनंदानुभूति' के सम्बन्ध में आनंदवर्धन तथा अभिनव गुप्त की मान्यताओं में इतनी अधिक वैज्ञानिकता है, कि उसकी प्रक्रिया की दाद कुछ द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारकों तक ने दी है।[1] हाँ, वे इतना संकेत अवश्य करते हैं कि ध्वनिवादी का रस को 'लौकिक' मानते हुए भी 'अलौकिक' मानना, तथा काव्य के विभावादि को **"ममैवेते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवेते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात्साधारण्येन प्रतीतैः"**[2] समझने का वे कोई खास कारण नहीं बता पाते, जब कि यह स्थिति द्वन्द्ववादी सिद्धान्त की 'विपरीतसमागम' (Mixture of opposites) वाली मान्यता से पूरी तरह सुलझ जाती है। कुछ भी हो।

आनंदवर्धन के पूर्व भामह, दण्डी आदि काव्यालोचकों की 'पोयटिक डिक्शन'-सम्बन्धी मान्यता ठीक वैसी ही थी, जैसी ग्रीक तथा रोमन आलोचकों की। ग्रीक तथा रोमन आलोचकों ने **"काव्य-रूप की विवेचना व्याकरण तथा भाषण-शास्त्र की दृष्टि से की थी, इन्होंने वाणी के प्रकार तथा रूपगत अलंकारों को सुव्यवस्थित तथा क्रमिक ढंग से सजाया था, और ये लोग भाषा को किसी अभीप्सित प्रभाव के लिए, विचार-विशेष को अभिहित करने के लिए प्रयुक्त बाह्य आवरण मानते थे।"**[3] भामहादि पुराने खेवे के भारतीय आलोचकों ने भी काव्य-रूप की विवेचना व्याकरण-शास्त्र तथा मीमांसा-दर्शन के आधार पर की थी। पद, पदांश, वाक्य की निर्दिष्टता का विचार वे मीमांसकों की दृष्टि से ही करते थे, तथा अर्थालंकारों की विवेचना और लक्षणा के विवेचन में भी इन्हें मूल प्रेरणा यहीं से मिली थी। वस्तुतः ये आलोचक भी पुराने ग्रीक या रोमन आलोचकों, अरस्तू, सिसेरो और क्वींतिलियन की भाँति 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ' अधिक थे। आनंदवर्धन ने 'पोयटिक डिक्शन'-

---

१. दे० श्री महेशचन्द्र राय : रस ('हंस' पत्रिका)

२. 'काव्यप्रकाश', पृ० ९७. (आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि-संस्करण)

३. "Diction was viewed grammatically and rhetorically; turns of speech and formal figures were therefore arranged systematically and serially; and the language was considered technically as an external garment applied to an idea in order to achieve a desired effect.

—Shipley : Dictionary of W. L. T., p. 99.

सम्बन्धी इस पुरानी मान्यता में हेर-फेर किया। उसके लिए यह 'भाव' या अभिप्रतिपाद्य (अभिव्यंग्य) का बाहरी लिबास नहीं था, वस्तुतः वह यह मानता था कि 'डिक्शन' तथा 'कण्टेण्ट' में अद्वैत सम्बन्ध है। वर्ड्सवर्थ की भाँति वह यहाँ तक मानता था, कि काव्य की प्रभावोत्पादकता का आधार श्रमसाध्य 'पोयटिक डिक्शन' न होकर 'सशक्त भावों का स्वतः परिवाह' (The spontaneous overflow of powerful feelings) है। वर्ड्सवर्थ तो 'पोयटिक डिक्शन' की परम्परागत मान्यताओं का इतना अधिक विरोधी था कि उसने इस तरह के 'डिक्शन' को बचाने की सचेतन चेष्टा की थी तथा अपने काव्य-रूप को अधिक-से-अधिक सरल व सादा बनाया था।[1] ध्वनिवादी भी उस काव्य को उत्कृष्ट काव्य घोषित कर रहा था, जिसमें न तो अलंकारयुक्त अर्थ (वस्तु) ही था, न पांडित्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग, और न जो वक्रोक्ति से ही युक्त था।

यस्मिन्नास्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति,
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो,
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥[2]

और ध्वनि-विरोधी पंडितों ने इस प्रकार के काव्य को 'ध्वनिसमन्वित' मानकर उसकी दाद देने वाले 'ध्वनिवादी' को 'मूर्ख' (जड) घोषित किया था, उनका कहना था कि उसके पास 'ध्वनि' का कोई निश्चित स्वरूप, कोई निश्चित परिभाषा न थी।

वस्तुतः ध्वनिवादी पहला भारतीय काव्यालोचक था, जो काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में 'देहवादी' मत का विरोध करके 'काव्यात्मवाद' की स्थापना कर रहा था। वह बाह्यांगों के सौंदर्य, वेश-भूषा, अलंकार-सज्जा, अवयव-संस्थान को एक-मात्र चारुताविधायक तत्त्व न मानकर काव्य के अंतस् में निहित 'आत्म-तत्त्व' ध्वनि को ही वास्तविक 'लावण्य' घोषित कर रहा था, जो कामिनी के आभ्यंतर लावण्य की भाँति प्रसिद्ध अवयवों के सौंदर्य से सर्वथा अतिरिक्त रामणीयक है।[3] उसने अलंकार, गुण, रीति, वक्रोक्ति का सर्वथा तिरस्कार कभी नहीं किया, किंतु 'आभ्यंतर रामणीयक' के अभाव में, काव्यात्म व्यतिरिक्त 'काव्य' को वह 'उत्तम काव्य' मानने को तैयार न था। अलंकारादि का महत्त्व वह केवल 'शोभाविधायकतादि' धर्मों की दृष्टि से मानता था, और वे तभी काव्य के लिए उपादेय थे, जब 'रस' के उपस्कारक होकर आयें। अलंकार, शब्द तथा अर्थ के द्वारा उसी 'रस'—काव्यात्म के उपस्कारक ठीक वैसे ही हैं, जैसे हारादि अलंकार,[4] और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद भी वस्तुतः पद-रचना से संबद्ध न होकर उसी रस के आभ्यंतर धर्म हैं, जैसे शूरता, वीरता

---

१. Saintsbury : A History of English Criticism, p. 313.
२. **ध्वन्यालोक, पृ० २६-२७. (लोचन-दिव्यांजना-संस्करण)**
३. **प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।**
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ (ध्वन्या० १.४)
४. **उपकुर्वंति तं संतं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।**
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ —काव्यप्रकाश ८.२

आत्मा के धर्म हैं, शरीर के नहीं।[१] अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं, उनका होना काव्य में अनिवार्य नहीं, अलंकारों के बिना भी काव्य उत्तम कोटि का हो सकता है, किंतु 'गुण' तो आत्मा के धर्म हैं, अतः रसानुरूप माधुर्यादि गुणों का होना सख्त लाज़मी है, वे काव्य के 'नित्य' या 'अचलस्थिति' गुण हैं। गुणों के साथ ही 'रीति' का भी मसला हल हो जाता है। वामन[२] की तरह ध्वनिवादी एक 'रीति' का प्रशंसक तथा दूसरी का निंदक नहीं। वह तो रसानुरूप 'रीति' की कल्पना करता है। उसके यहाँ 'रीति' या 'पदरचना' का आधार वक्ता, वाच्य, तथा प्रबन्ध के औचित्य की परिकल्पना थी।[३] जहाँ श्रृंगार में भी आख्यायिका में उद्धत समासांत-पदरचना हो सकती है, नाटकादि में रौद्रादि रसों में भी दीर्घसमास अनुपादेय हैं, तथा वक्ता के कोमल और उद्धत स्वभाव के अनुरूप विषय से भिन्न रीति का निर्वाह भी चारुताविधायक होता है। स्पष्ट है, ध्वनिवादी ने सर्वप्रथम 'आत्मा' की दृष्टि से इन सभी काव्योपकरणों की विवेचना की थी। बाद में चलकर 'देहवादी' काव्यालोचकों के दो दलों ने—महिम भट्ट के 'काव्यनुमितिवाद' तथा राजानककुन्तक के 'वक्रोक्तिवाद' ने—काव्य के आभ्यंतर लावण्य 'रस' और 'प्रतीयमान अर्थ' को स्वीकार करते हुए, 'देहवादी' आलोचना के क्षेत्र का विस्तार करके उसीमें इसे समेटने की चेष्टा की। एक ने न्याय-शास्त्र का आधार लेकर सभी तरह के ध्वनि-प्रभेदों को 'अनुमेयार्थ' मानकर 'अनुमान' प्रमाण का क्षेत्र घोषित किया[४] और कुन्तक ने काव्यगत कल्पना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसकी प्रमातृ-गत (subjective) मीमांसा का—जो ध्वनि का वास्तविक आधार है—निषेध करके उसकी काव्य-गत, अर्थात् वस्तुगत या प्रमेय-गत (objective) मीमांसा पर ज्यादा जोर दिया।[५] भूलना न होगा, ध्वनिवादी की काव्यालोचना, एक ओर काव्य के निर्माता और दूसरी ओर काव्यनुशीलक की दृष्टि से, उनकी आभ्यंतरिक मानसिक प्रक्रिया की दृष्टि से, पल्लवित हुई थी। उसने 'सहृदय' की दृष्टि से 'काव्यास्वाद' का विवेचन उपस्थित किया है, जो ध्वनिवादी के शब्दों से स्पष्ट है : **"तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।"**

ध्वनिवादी ने जिस 'ध्वनि' की प्रतिष्ठापना 'काव्यात्म रूप' में की थी, पहले तो ध्वनिविरोधी उसे मानने को ही तैयार न थे। भामह, दण्डी, उद्भट-जैसे पुराने अलंकारवादी वाच्यार्थ से भिन्न 'प्रतीयमान अर्थ' की सत्ता तो मानते जान पड़ते हैं। पर वे इसका क्षेत्र प्रायः समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में मानते थे। दूसरे लोग इस तरह के 'प्रतीयमानार्थ' को 'लक्ष्यार्थ' से भिन्न मानने से इन्कार करते थे, और मुकुल भट्ट ने ध्वनिवादी के सभी ध्वनि-भेदों में लक्षण का प्रसार

---

१. ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादयइवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणाः॥ —'काव्य प्रकाश', ६ १.

२. तासां पूर्वा ग्राह्या। गुणसाकल्यात्। न पुनरितरे स्तोकगुणत्वात्॥
—वामन: १.२.१४-१५

३: वक्तृवाच्यप्रबंधानामौचित्येन क्वचित्क्वचित्।
रचनावृत्तिवर्णानामन्यथात्वमपीठ्यते॥ —'काव्य प्रकाश', ८.१२

४. अनुमानेन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुं॥ —व्यक्तिविवेक १.१।

५. डा० नगेन्द्र : 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित', (भूमिका) पृ० २०१।

सिद्ध कर दिया था।[1] आंशिक रूप में ध्वनि के कतिपय भेदों में वामन तथा कुन्तक भी लक्षणा और उपचारवक्रता मानने को तैयार थे। ऐसी स्थिति में ध्वनि के स्वरूप की विवेचना आवश्यक थी। किंतु इसके लिए सर्वप्रथम काव्यालोचन के क्षेत्र में 'अर्थ-विचार-सम्बन्धी' मान्यता में आमूलचूल परिवर्तन करना जरूरी था। अब तक काव्यालोचन में भी ठीक वही 'थियोरी ऑफ मीनिंग' मान्य थी, जो व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा के क्षेत्र में प्रचलित थी। यहाँ भी अभिधा तथा उसकी प्रच्छभूत लक्षणा, तक ही लोगों की कल्पना सीमित थी, हाँ कुछ लोग (अभिहितान्वयवादी) 'वाक्यार्थ' के लिए नई शक्ति—तात्पर्य शक्ति—की कल्पना जरूर कर रहे थे, जब कि दूसरे लोग वाक्यार्थ की प्रतीति में या तो अभिधा वृत्ति का ही हाथ मानते थे (अन्विताभिधानवादी मत), या फिर उसे विशेष प्रकार की लक्षणा वृत्ति की देन समझते थे (वाचस्पति मिश्र का मत)।[2] काव्यगत 'रमणीय अर्थ' की प्रक्रिया शास्त्रीय, कोषगत, या साधारण व्यावहारिक 'अर्थ' की प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न है, इसे मानने को परम्परावादी पंडित तैयार न था। इसीलिए ध्वनिवादी ने सर्वप्रथम इस मत की स्थापना की, कि काव्य में वास्तविक महत्त्व कोषगत या व्यावहारिक 'वाच्यार्थ' का नहीं है, जो सदा शब्दविशेष से साक्षात् संबद्ध रहता है। काव्य के 'प्रतीयमान अर्थ' की प्रतीति में शब्द तथा उसका वाच्यार्थ साधन अवश्य होता है, किन्तु उसका स्थान गौण है, वह 'प्रतीयमान अर्थ' के लिए अपने-आपको तथा अपने अर्थ को 'उपसर्जनीभूत' बना देता है। इसी तरह के काव्य को—जहाँ 'प्रतीयमान अर्थ' उत्कृष्ट चारुता का वहन करता है—आनंदवर्धन 'ध्वनि काव्य' कहते हैं।[3]

तो, ध्वनिवादी ने ही स्पष्ट रूप में सर्वप्रथम 'अर्थ' को दो कोटियों में विभक्त किया —वाच्यार्थ और 'प्रतीयमान अर्थ।[4] ध्वनिवादी की इस मान्यता को आधुनिक पाश्चात्य समालोचकों ने भी स्वीकार किया है। प्रो० रिचर्ड्स ने 'अर्थ' को स्पष्टतः दो कोटियों में विभक्त किया है। वे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन के सिद्धान्त' (प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म) में भाषा के दो प्रकार के प्रयोगों पर पूरे एक परिच्छेद में प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि भाषा के दो तरह के प्रयोग हैं—एक वैज्ञानिक भाषा; दूसरी भावात्मक भाषा।[5] इसके आधार पर वे अर्थ के भी दो प्रकार मानते हैं, एक 'वैज्ञा-

---

१. भोलाशंकर व्यास : 'ध्वनि-संप्रदाय और उसके सिद्धांत', भाग १, पृ० २७८-८१।

२. दे०—वही, चतुर्थ परिच्छेद, पृ० १५१-१८०।

३. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ —ध्वन्यालोक १.१३।

४. वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्यभेदावुभौ स्मृतौ।—वही १.२.

५. A statement may be used for the sake of the 'reference,' true or false, which it causes. This is the 'scientific' use of language. But it may also be used for the sake of the effects in emotion and attitude produced by the reference it occasions. This is the 'emotive' use of language.
—I. A. Richards : Principles of Literary Criticism, ch. xxxiv. p. 267.

निक अर्थ' (Scientific meaning) दूसरा 'भावात्मक अर्थ' (emotive meaning) अपने अन्य ग्रन्थ में इन्हींको वे क्रमशः भावात्मक अर्थ '(emotive meaning) तथा सांकेतिक (विवरणात्मक) अर्थ' (Cognitive or descriptive meaning) कहते हैं।[१] द्वितीय अर्थ को 'referential meaning' भी कहते हैं, तथा इसको ध्वनिवादी ने 'साक्षात् संकेतित अर्थ' कहा है—**'साक्षात् संकेतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।'** इस अर्थ की प्रतिपादक शक्ति 'अभिधा' तथा शब्द 'वाचक' कहलाता है। 'प्रतीयमान अर्थ', जिसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्यालोचक 'भावात्मक अर्थ' कहते हैं, "वह अर्थ है, जिसमें श्रोता की दृष्टि से प्रतिपत्ति (response), अथवा वक्ता की दृष्टि से समुत्तेजन (stimulus) भाव-शृंखला—परक होता है।[२] कुछ पाश्चात्य विद्वान् इस अर्थ को 'चित्र-मय अर्थ' (Pictorialmeaning) की भी संज्ञा देते हैं, क्योंकि इस 'अर्थ' में सहृद श्रोता के मानस में बिम्बोद्बोधन की प्रवृत्ति (The tendency to evoke images in the listner) पाई जाती है।

प्रोफेसर रिचर्ड्स ने इन दोनों प्रकार के अर्थों की विभिन्नता पर काफ़ी ज़ोर दिया है। वे बताते हैं कि इन दोनों प्रकार की अर्थप्रतीतियों की मानसिक प्रक्रियाओं में अत्यधिक विभिन्नता है, यद्यपि इस विभिन्नता की उपेक्षा की जाती है। यदि हम दोनों प्रकार के भाषा-प्रयोगों की असफलता का पर्यालोचन करें, तो यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। हम देखते हैं कि केवल संकेत में विभेद होने से ही 'वैज्ञानिक या सांकेतिक भाषा' अर्थप्रतीति कराने में अशक्त सिद्ध होगी, क्योंकि वक्ता की लक्ष्य-सिद्धि नहीं हो पाती। किन्तु भावात्मक भाषा में संकेत का अधिकाधिक विभेद भी कोई महत्त्व नहीं रखता, यदि समीक्षित प्रकार की भाव-संतति तथा प्रवृत्तियों के प्रभाव की लक्ष्य-सिद्धि हो ही जाती है।[३] आनन्द-वर्धन ने भी इन दोनों अर्थों की प्रतीति में मानसिक प्रक्रियागत भेद स्पष्ट स्वीकार किया था।

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्॥—ध्वन्या० १.७.

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो 'वाच्यार्थ' या 'सांकेतिक अर्थ' के महत्त्व के बिना भी

---

१. The Meaning of Meaning.
Quoted by 'Shipley.' p. 261.

२. Emotive meaning "is a meaning in which the response (from the hearer's point of view) or the stimulus (from the speaker's point of view) is a range of emotions."

३. The difference between the mental processes involved in the two cases are very great, though easily overlooked. Consider what failure for each use amounts to. For scientific language a difference in the references is itself a failure: The end has not been attained. But for emotive language the widest differences in references are of no importance if the further effects in attitude and emotion are of required kind.
—Richards : Principles of L. C, p. 268

कुछ शब्द 'भावात्मक अर्थ' की प्रतीति करा देते हैं। रिचर्ड्स के शब्दों में "कतिपय पद-रचना संकेत के माध्यम के विना ही प्रवृत्तियों (भावों) का समुद्बोधन करती हैं। ये संगीतात्मक शब्द-समूहों की तरह कार्य करती हैं।"[१] वैसे कुछ पाश्चात्य लेखक इस बात से इन्कार करते हैं कि भावात्मक अर्थ, सांकेतिक अर्थ से सर्वथा स्वतन्त्र है; अन्यथा एक ही सांकेतिक अर्थ वाले दो शब्द भिन्न-भिन्न भावात्मक अर्थों की प्रतीति करायँगे, तथा सांकेतिक अर्थ के विना भी कोई शब्द भावात्मक अर्थ की प्रतीति करा सकेगा। ध्वनिवादी ने इन श्नों का उत्तर स्पष्ट शब्दों में दिया है। ध्वनिवादी के मतानुसार केवल पद-रचना भी रिचर्ड्स की शब्दावली में "संगीतात्मक शब्द-समूहों" की तरह; "प्रतीयमान या भावात्मक अर्थ" का वहन करती है। पद, पदांश, वर्ण-रचना, आदि तक को व्यंजक मानने में ध्वनिवादी का यही रहस्य है।[२] निराला की निम्न पंक्तियाँ ले लीजिये—

अमरण भर वरण-गान।
वन वन उपवन उपवन
जागी छवि खुले प्राण।
× × ×
मधुप निकर कलरव भर
गीतिमुखर पिक प्रिय स्वर
स्मर-शर हर केशर झर
मधुपूरित गंध ज्ञान॥ (गीतिका)

यहाँ 'वसंत-ऋतु' के आगमन से प्रकृतिगत आह्लाद की व्यंजना कविता के पद-चयन से स्वयं हो रही है। इसी तरह एक ही 'अर्थ' के पर्यायवाची प्रयोगों से भी विभिन्न भावों की प्रतीति हो सकती है, इसे ध्वनिवादी ने "**सोचनीय दोऊ भये मिलन कपाली हेत**" (द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः) वाला उदाहरण देकर बताया था कि यहाँ "मिलन पिनाकी हेत" पाठ कर देने पर अभीप्सित "भावात्मक अर्थ" की प्रतीति नहीं हो पायगी।

अस्तु, यद्यपि परम्परावादी ढंग पर ध्वनिवादी ने अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य वृत्ति को भिन्न-भिन्न मानते हुए इनसे अतिरिक्त चौथी वृत्ति 'व्यञ्जना' की कल्पना की थी;[३] तथापि इस बात का संकेत मिलता है कि वे चार अर्थ-प्रक्रियाएँ न मानकर दो ही मूलभूत अर्थप्रक्रियाएँ मानते हैं। देखा जाय तो रूढ़िमती लक्षणा तथा तात्पर्य-वृत्ति दोनों "सांकेतिक अर्थ" से घनिष्ठतया सम्बद्ध हैं तथा इनमें "अभिधाप्रच्छभूतत्व" पूरी तरह घटित होता है। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ सदा निहित रहता है, और इस प्रकार यह प्रयोग सदा व्यंजना वृत्ति से संश्लिष्ट रहता है। प्रयोजनवती लक्षणा के प्रकरण में ध्वनिवादियों ने पूरी तरह प्रमाणित किया है कि फलरूप प्रयोजन की

१. ibid, p. 267.
२. **पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः।—'काव्यप्रकाश', ४ उल्लास पृ० १६६।**
३. **तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतन-व्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।—'लोचन' पृ० ६१-२.**

प्रतीति व्यंजना को माने बगैर घटित हो ही नहीं सकती।[१] इस प्रकार अभिधा तथा लक्षणा को आधार बनाने से "भावात्मक अर्थ" भी दो तरह का हो जाता है। एक वह "भावात्मक अर्थ" (प्रतीयमानार्थ) जो 'वाच्यार्थ' मूलक है, दूसरा वह जो 'लक्ष्यार्थ' (Metaphoric-sense) मूलक है। 'अर्थ' के अतिरिक्त 'व्यंग्यार्थ'-प्रतीति किसी-किसी प्रयोग में 'शब्द' से भी होती है, यहाँ यह व्यंग्यार्थ शब्दमूलक होता है। इस प्रकार एक ओर व्यंग्यार्थ के शब्दमूलक तथा अर्थमूलक भेद किये गए हैं, दूसरी ओर वाच्यार्थमूलक और लक्ष्यार्थमूलक। इस आधार पर 'व्यंजना' को शाब्दी तथा आर्थी; एवं अभिधामूला तथा लक्षणामूला इन दो-दो वर्गों में बाँटा गया है, और इसी क्रम से 'ध्वनि' काव्य को भी स प्रथम 'विवक्षिता-न्यपरवाच्य' तथा 'अविवक्षितवाच्य' इन दो बड़े वर्गों में विभक्त कर दिया जाता है। यहाँ इन वर्गों के भेदोपभेदों की उद्धरणी देना अनावश्यक जान पड़ता है।

'प्रतीयमान अर्थ' को काव्यगत प्रतीति की दृष्टि से दो तरह का माना जा सकता है। एक शुद्ध भावात्मक प्रतीयमानार्थ, दूसरा कल्पनागत प्रतीयमानार्थ। इसमें भी द्वितीय कोटि के कल्पनागत बिम्बविधान भी दो तरह के हो सकते हैं—वस्तु-मात्र तथा अलंकार। इस दृष्टि से ध्वनिवादी ने इस बात का अनुभव किया कि काव्यानुशीलन करते समय सहृदय को तीन तरह की चमत्कृतिविधायकता मिलती है। किन्हीं-किन्हीं काव्यों में शृंगार, हास्य आदि रसों, या रति, हास आदि स्थायी भावों, या उनके आभासों (रसाभास या भावा-भास), या संचारी भावों के उदय, शान्ति, संधि या शबलता का मानसिक आस्वाद होता है; तो दूसरी कोटि के काव्यों में विशेष प्रकार का व्यंग्य या वाच्य अर्थालंकार सहृदय को चमत्कृत करता है; तीसरी कोटि उन काव्यों की है, जहाँ किसी वस्तु-विशेष का वर्णन ही वाच्य या व्यंग्य रूप में चमत्कारकारी होता है! इस तरह 'अर्थ' मात्र को आनन्दवर्धन ने रस, अलंकार तथा वस्तु इन तीन कोटियों में बाँट दिया है। वस्तु तथा अलंकार वाला अर्थ वाच्यार्थ भी हो सकता है, व्यंग्यार्थ भी; किन्तु इस रूप का अर्थ सर्वथा मानसिक तथा रागात्मक होने के कारण सदा व्यंग्यार्थ ही होगा। इसी सम्बन्ध में ध्वनिवादी ने तर्क तथा युक्ति के आधार पर इसे सिद्ध किया था कि 'रस' वाच्य, लक्ष्य या अनुमेय कभी नहीं हो सकता; विभावादी तथा रस में केवल व्यंग्यव्यंजक भाव सम्बन्ध ही घटित हो सकता है, अन्य सम्बन्ध नहीं।[२] रस के सम्बन्ध में ध्वनिवादी की इस मान्यता का खण्डन अनुमान-वादी महिम भट्ट भी पूरी तौर पर न कर पाए और उन्होंने भी रसरूप प्रतीयमानार्थ को उपचार से 'व्यं यार्थ' मान ही तो लिया।[३] वस्तु तथा अलंकार रूप अर्थ दोनों तरह का हो सकता है, यदि वह केवल वाच्यार्थ है तो इतना अधिक चमत्कृतिजनक नहीं होता, किन्तु प्रतीयमान होने पर यह आस्वाद्य हो जाता है। महिम भट्ट[४] तथा कुन्तक भी इस

१. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥ का० प्र० २.२४ पृ० ५८.

२. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः।...तेनासौ व्यंग्य एव। मुख्यार्थ-बाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः।—का० प्र० पृ० २०७-२०८।

३. उपचारतस्तु तृतीयोऽपि समस्तीति सिद्धम्।—व्यक्तिविवेक पृ० ७४-७५।

४. वाच्योह्यर्थः न तथा स्वदते यथा स एव प्रतीयमानः।—वही पृ० ७३।

काव्यशास्त्रीय मान्यता को मानते हैं। फर्क इतना ही है कि 'प्रतीयमान' को महिम भट्ट 'अनुमेय' अर्थ कहते हैं, कुन्तक वक्रोक्ति (विचित्रा अभिधा) द्वारा प्रतिपादित "विशिष्ट कोटि का अभिधेयार्थ।" इन दोनों अभिधावादियों के यहाँ शब्द की शक्ति केवल 'अभिधा' ही है। ध्वनिवादी इस अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' कहता है। यदि वस्तुरूप या अलंकाररूप यह व्यंग्यार्थ काव्य में मुख्यतः आस्वाद्य बने तो वह 'ध्वनि काव्य' का विषय हो जाता है। इस तरह 'ध्वनिकाव्य' को वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि, इन तीन अवांतर कोटियों में आस्वादभूमि की विभिन्नता की दृष्टि से बाँटा गया है।[1] इसी सम्बन्ध में इस बात पर संकेत किया गया है कि 'ध्वनि'—काव्यात्म होने के कारण 'अलंकार्य' है, वह कभी 'अलंकार' नहीं हो सकता, फिर भी उपचार से जैसे संन्यास के पूर्व जो ब्राह्मण था, उसे बाद में भी हम 'ब्राह्मणश्रमण' कह बैठते हैं, वैसे ही उपमादि अलंकार व्यंग्य हो जाने पर भी तत्तत् अलंकार-ध्वनि के नाम से ही अभिहित किये जाते हैं।[2]

वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की तारतमिक उच्चावचता के आधार पर काव्य को 'ध्वनि', 'गुणीभूतव्यंग्य तथा चित्र काव्य इन तीन कोटियों में बाँटा गया। 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा मान लेने पर भी 'गुणीभूत-व्यंग्य' तथा 'चित्र-काव्य'-जैसी अवांतर मध्यम तथा अधम काव्य-कोटियों की कल्पना इसलिए की गई कि एक ओर तो परंपरावादी मत का किसी तरह समाहार हो सके, साथ ही ऐसे काव्यों को, जिन्हें लोग उत्तम कोटि का काव्य न होने पर भी काव्य मानते हैं, सर्वथा अकाव्य न घोषित कर दिया जाय। यही कारण है कि इतालवी काव्यालोचक बेनेदत्तो क्रोचे की तरह ध्वनिवादी काव्य और अकाव्य-जैसी विभाजक रेखा खींचकर काव्य को भी उत्तम, मध्यम तथा अवर इन तीन कोटियों में बाँट देता है, यद्यपि वह उत्तम काव्य को ही कवि का चरम उपास्य घोषित करता है।

रस या रसध्वनि के सम्बन्ध में आनन्दवर्द्धन ने कई मौलिक उद्भावनाएँ कीं। उन्होंने काव्यास्वाद की दृष्टि से श्रव्य-काव्य तथा दृश्य-काव्य के भेद को मिटाकर, श्रव्य-काव्य में भी 'रस' को प्रधान तत्त्व घोषित किया। साथ ही मुक्तक-काव्यों की रसास्वाद-भूमि का सर्वप्रथम महत्त्व स्वीकार किया। उन्होंने अमरुक कवि के मुक्तकों की रसनिर्भरता की घोषणा करके उनको इस दृष्टि से उस प्रबन्ध काव्य से किसी कद्र निकृष्ट कोटि का नहीं माना,[3] जिसमें विभावादि के प्रयोग के लिए कवि को काफी गुञ्जायश रहती है। और मम्मट ने उन मुक्तक स्थलों में, जहाँ विभावादि में से किन्हीं एक या दो रस-व्यंजकों का उपादान पाया जाता है, अन्य व्यंजकों का सहृदय की मानसिक कल्पना से आक्षेप मानकर 'रसास्वाद' की स्थिति

---

१. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रमलंकाररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदभिन्नो प्रदर्शयिष्यते।—ध्वन्यालोक पृ० ५०।

२. इदानीं तु अनलंकाररूप एवान्यत्र गुणीभावाभावात्, स पूर्वप्रत्यभिज्ञान बलादलंकारध्वनिरिति व्यपदिश्यते ब्राह्मणश्रमणन्यायेन।—लोचन पृ० ५१।

३. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव।

—ध्वन्यालोक, पृ० ३२५

स्वीकार की।[१] ध्वनि के अन्य भेदों की तरह रसध्वनि के आस्वाद में कारण-कार्य-परम्परा की समय-सीमा (time limit) का ज्ञान प्रमाता को नहीं होता। अन्य ध्वनि-भेदों में व्यंजक तथा व्यंग्य का क्रम स्पष्ट लक्ष्य होता है; यह क्रम घण्टे की ध्वनि के अनुरवन की तरह स्पष्ट लक्षित होता है; इसीलिए इसे 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' कहा जाता है, किन्तु रसध्वनि के व्यंजक विभावादि के अनुशीलन के साथ-ही-साथ प्रमाता को रसास्वाद होने से यह क्रम नहीं जान पड़ता। इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ क्रम नहीं होता, होता तो है, पर व्यंजक से व्यंग्य-प्रतिपत्ति की गति इतनी द्रुत होती है कि वह 'शतपत्र-पत्रभेद' की तरह परिज्ञात नहीं होती। रसध्वनि को तभी तो 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' भी कहा जाता है। रसास्वाद-प्रक्रिया के विषय में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की अपेक्षा उनके प्रशिष्य 'लोचनकार' ने अधिक विस्तार से विचार किया है। 'लोचन' तथा 'अभिनव भारती' में वे रस-प्रक्रिया को **"सहृदय के मानस में वासनात्मतया स्थित स्थायी भावों की साधारणीकृत विभावादि व्यंजकों के द्वारा इस रूप में अभिव्यक्ति मानते हैं।"**[२] अभिनव ने शैव प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार रस-प्रक्रिया का विश्लेषण करके भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद, शंकुक के अनुमितिवाद तथा भट्ट नायक के मुक्तिवाद का खंडन किया। जहाँ तक अभिनव गुप्त की 'साधारणीकरण'-सम्बन्धी कल्पना का प्रश्न है, वे इस मत के लिए भट्टनायक के ऋणी हैं। इस निबन्ध में अभिनव की रस-सम्बन्धी मान्यताओं का विस्तार से विवेचन करने का अवकाश नहीं है, इसका विवेचन हमने अन्यत्र किया है।[३]

ध्वनि-प्रपञ्च का उपसंहार करते हुए ध्वनिवादी इस बात पर जोर देते हैं कि इसका आश्रय लेने से कवि की 'प्रतिभा' का और अधिक प्रसार हो जाता है; उसकी कल्पना-शक्ति के लिए और अधिक विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है। जिस वस्तु या अलंकार का प्रयोग किसी पुराने कवि ने किया है, उसीको व्यंग्यरूप में नयापन दे देने पर काव्योक्ति में नवीन चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। वह बासी नहीं होती।[४] परम्परावादी कवि पुराने कवियों की उक्तियों, उपमानों, प्रतीकों आदि को ही ज्यों-का-त्यों लेकर नकल भर करता रहता है, वह पिटे-पिटाए रास्ते पर चलता रहता है पर ध्वनिवादी कवि उन्हें, कभी-कभी रस की नई 'शेड' देकर, नई आभा प्रदान करता है।[५] अगर कवि ऐसा न करेगा, तो वाल्मीकि,

१. एकस्य व्यभिचारान्मिलितानां व्यञ्जकत्वे स्थितेऽसाधारणेनापीतरद्वयमाक्षिप्यते।.......
अतोऽसाधारण्येऽपीतरद्वयमाक्षिप्यते ततो मिलितैस्तदभिव्यक्तिः, इति।
—का० प्र० की गोविंद ठक्कुर कृत टीका, पृ० १०५।

२. दे० 'अभिनव भारती' षष्ठ अध्याय पृ० २८९-२९०; तथा 'काव्यप्रकाश' चतुर्थ उल्लास पृ० ९६-१०२।

३. व्यास : रसानुभूति पर अभिनव गुप्त तथा आचार्य शुक्ल (नागरी प्रचारिणी पत्रिका २०११, अंक ३-४)

४. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यंग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः॥ ध्वन्या० ४.६.

५. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नव इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ वही ४.४.

व्यास, कालिदास-जैसे दो-चार पुराने कवि ही, जिन्होंने यावत् उक्तियों, उपमानों, प्रतीकों के भाण्डार को खाली कर दिया है, कवि कहलायँगे, और अब तो कोई 'कवि' कहलाने का अधिकारी ही नहीं रहेगा।

निबन्ध के आरम्भ में मैंने आनन्दवर्धन की तुलना लौंजिनस से करते हुए उसे **'भारत का प्रथम रोमैंटिक आलोचक'** कहा था। वहाँ मैं 'रोमैंटिक' शब्द का प्रयोग शत प्रतिशत रूप में ठीक उसी अर्थ में नहीं कर रहा था, जिस अर्थ में यह उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय 'रोमैंटिक' कवियों तथा आलोचकों और बीसवीं सदी के भारतीय 'रोमैंटिक' साहित्यिकों (तथा हिन्दी के छायावादी कवियों) के साथ लागू होता है। नवीन 'रोमैंटिसिज़्म', क्या यूरोप, क्या भारत दोनों में पूँजीवाद के उदय की देन है, इसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना, परम्परागत सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक बन्धनों की आमूल-चूल परिसमाप्ति का विद्रोही स्वर मुखरित है। काव्य के क्षेत्र में वह समस्त काव्य-शास्त्रीय बन्धनों से उन्मुक्त होना चाहता है, क्योंकि आंग्ल कवि विलियम ब्लैक के शब्दों में **"शृंखलाबद्ध काव्य मानव जाति को शृंखला में आबद्ध कर देता है"** (Poetry Fetter'd Fetters the Human Race)। ध्वनिवादी का स्वर इस विद्रोह को प्रतिध्वनित नहीं करता। वह परम्परावाद का सम्मान करता है, आखिर सामन्तवादी वातावरण में पला व्यक्ति वैसा कर भी कैसे सकता है? अतः ध्वनिवादी का मत एक प्रकार से 'परम्परावाद' तथा 'रोमैंटिसिज़्म' का समन्वय है, वह सामन्ती परिस्थितियों के अनुकूल उत्पन्न 'रोमैंटिसिज़्म' है। यही कारण है, ध्वनिवाद में हमें काव्य तथा काव्योपकरणों के वर्गीकरण की चेष्टा मिलती है, जो परम्परावादी या शास्त्रीय (Classical) सिद्धान्त की एक विशेषता है। पर ध्वनिवादी की कतिपय मुख्य विशेषताएँ उसकी 'रोमैंटिक' मान्यताओं को सिद्ध करती हैं।

'रोमैंटिक' आलोचकों की भाँति कवि-सर्जना में ही नहीं, काव्यानुभूति में भी ध्वनिवादी ने 'प्रतिभा' पर विशेष जोर दिया है। परम्परावादी की तरह वह केवल 'अभ्यास' या 'काव्यशास्त्रानुशीलन' को काव्य-सृष्टि का कारण नहीं मानता। 'प्रतिभा' का होना सख्त लाज़मी है, उसके बिना काव्य की रचना हो ही नहीं सकती, और अगर की भी गई तो उपहासास्पद होगी।[1] मम्मट ने 'कश्चित्' पद के द्वारा इस शक्ति को **'दैवी तथा आलौकिक देन'** माना है। आनन्दवर्धन ने 'यदिस्यात् प्रतिभागुणः' कहकर काव्य-सर्जना को 'प्रतिभा' की देन कहा है। जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर भी, जो कई 'रोमैंटिक' कवियों का प्रेरणा-स्रोत रहा है, उच्च कोटि की कलात्मक कृति को प्रतिभाजन्य ही घोषित करता है। कला ही नहीं, दर्शन के क्षेत्र में भी वह प्रतिभा को मुख्य कारण मानता है। 'निपुणता' या 'अभ्यास' को वह वर्णनात्मक तथा विवादात्मक ज्ञान में लाभदायक मानता है, किन्तु 'स्वयं प्रकाश्य ज्ञान' के लिए तो प्रतिभा ही अपेक्षित है। अभ्यासजन्य निपुणता वाला व्यक्ति किसी बात को शीघ्र तथा सत्य रूप में सोच सकता है, किन्तु प्रतिभाशाली इन सबसे भिन्न विश्व का प्रत्यक्ष करता है, जो अधिक पवित्र तथा सत्य है।[2]

१. **शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः कश्चित्। नां विना काव्यं न प्रसरेत्। प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्। का० प्र०, पृ० ८**

२. The world as Will and Idea. Vol 1 book 3.p.25.

तो, रोमैंटिक कवि तथा आलोचक के लिए 'प्रतिभा' ही अभिनव सृष्टि, कल्पना-शक्ति, 'इमेज़िनेशन' का मूल कारण है। रोमैंटिक कवियों के यहाँ 'इमेजिनेशन' की बड़ी चर्चा है। 'इमेज़िनेशन' को वे लोग कलात्मक अभिनव मानसिक सृष्टि मानते हैं। वस्तुतः यह "**पात्रों तथा परिस्थितियों में कलाकार का सहानुभूतिपूर्ण प्रक्षेपण** (Projection) **है, यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा सूक्ष्म भावों के प्रतीकों की सृष्टि की जाती है, तथा यह स्वयंप्रकाश्य ज्ञान की तरह काव्यात्मक स्वयंप्रकाश्य ज्ञान है।**" दूसरे शब्दों में यह स्वयं एक अभिनव मानसिक सृष्टि भी है। पुराने भारतीय आचार्यों ने कहीं भी इस प्रकार के शब्द का प्रयोग नहीं किया है, जिसे हम 'इमेज़िनेशन' का पर्यायवाची मान सकें। इस अर्थ में 'कल्पना' का प्रयोग सर्वथा नवीन है। फिर भी यह कहना कि पुराने आचार्यों की मान्यता में 'इमेज़िनेशन' की कल्पना ही न थी, ठीक न होगा। वस्तुतः ध्वनिवादी ने जहाँ प्रतिभा को 'नवनवोन्मेषशालिनी' कहा है, वहाँ वह 'नवनवोन्मेष' के द्वारा इसी प्रक्रिया का संकेत करता है। इतना ही नहीं, काव्योक्ति के स्वभावोक्ति, कविनिबद्धप्रौढ़ोक्ति तथा वक्तृप्रौढ़ोक्ति भेदों की परिकल्पना के द्वारा वह इस 'नवनवोन्मेष' या 'मानसिक सृष्टि या पुनः सृष्टि' का समुचित विभाजन भी उपस्थित करता है। फिर भी, इस तत्त्व को जितना महत्त्व यूरोप में पिछली सदी में मिला, ठीक उतना ही रसवादी ध्वनि-संस्थापकों के यहाँ नहीं मिल पाया।

'प्रतिभा' तथा 'कल्पना' से सम्बद्ध रोमैंटिक कवियों की तीसरी मान्यता 'डिक्टेशन थियोरी' है। विलियम ब्लैक ने तो स्पष्ट कहा था कि कोई अज्ञात शक्ति उसे कविता 'डिक्टेट' करवाती है। शेली ने भी इसी बात पर जोर देते हुए कहा था कि महान् कवि भी यह नहीं कह सकता कि "**मैं काव्य-रचना करूँगा, क्योंकि काव्य-रचना के समय कवि-मानस एक बुझता हुआ कोयला है, जो किसी 'अदृश्य प्रभाव' के द्वारा उसी तरह क्षणिक ज्योति से प्रदीप्त हो उठता है, जैसे अचानक आये वायु के झोंके से बुझता हुआ कोयला।**"[1] और ध्वनिवादी भी काव्य-रचना में कवि का अपना हाथ नहीं मानता; यह तो भगवती सरस्वती है, जो खुद कवि के लिए काव्य-निर्माण की सारी सामग्री जुटा देती है।

प्रतायन्तां वाचो नियमविविधार्थमृतरसा,
न वादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः,
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥ (ध्वन्या० ४.१७)

ध्वनिवादी आनन्दवर्धन का काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में— अन्तिम किन्तु नगण्य नहीं— एक और भी महत्त्व है। भामह, दण्डी, वामन या प्लातो, अरस्तू और क्वींतिलयन की तरह वह केवल 'सैद्धान्तिक समालोचक' नहीं है। भारतीय काव्यालोचन के क्षेत्र में 'व्यावहारिक

१. A man cannot say "I will compose poetry". The greatest poet even cannot say it; for the mind in creation is a fading coal, which some invisible influence, like an inconstant wind, awakens to transitory brightness, —Shelley: Defence of Poetry. Quoted by R. A. Scott-James, The Making of Literature, p. 211.

समालोचन' (Practical criticism) के जन्मदाता भी वे ही हैं। भामह तथा दण्डी ने अनुष्टुप् छन्दों में अपने सिद्धान्तों के स्वनिर्मित उदाहरण दे देना पर्याप्त समझा है। वे उन पर कोई टिप्पणी नहीं देते। वामन ने दूसरे कवियों के उदाहरण दिए हैं, किन्तु वृत्ति भाग में उसने उन पर विस्तार से विचार नहीं किया है। आनन्दवर्धन ने तत्तत् सिद्धान्त की पुष्टि में वृत्तिभाग में काव्यों के उदाहरण देकर उनकी पूरी तरह 'व्यावहारिक आलोचना' उपस्थित की है, जो न केवल अभिनव, मम्मट, पण्डितराज-जैसे आलोचकों के लिए ही, बल्कि 'मल्लिनाथ-जैसे संस्कृत-काव्यों के टीकाकारों के लिए भी दीप-स्तम्भ रही है। आनन्दवर्धन का यह महत्त्व ध्वन्यालोक के तत्तत् स्थलों के पढ़ने से ही स्पष्ट हो सकता है। क्षेत्र के संकुचित होने के कारण यहाँ इस बिन्दु की सोदाहरण मीमांसा नहीं की जा रही है। वस्तुतः आनन्दवर्धन काव्यालोचन के क्षेत्र में न केवल बुद्धिवादी पण्डित के रूप में ही प्रविष्ट होते हैं, बल्कि इससे कहीं बढ़कर वे कवि-सृष्टि के अनुभवकर्ता पारखी कवि की कल्पना, तथा काव्यास्वाद-प्रवण सहृदय का हृदय लेकर उपस्थित होते हैं। यही कारण है कि वे एक ऐसा काव्यालोचन-सिद्धान्त उपस्थित कर सके, जिसमें परिस्थितियों के अनुरूप थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके भले ही उसे 'रि-एड्जस्टेड' कर दिया जाय, उसकी मूल मान्यताओं की हर देश-काल में कद्र होती ही रहेगी।



डॉ० रामअवध द्विवेदी

स्वच्छन्दतावाद का परवर्ती काव्य-चिन्तन

१८वीं शताब्दी के अन्तिम दो-तीन दशकों में स्वच्छन्दतावाद की पूर्वपीठिका निर्मित हो रही थी तथा उसके लिए आवश्यक वातावरण तैयार हो रहा था। १९वीं शताब्दी के आरम्भ होने के साथ-ही-साथ स्वच्छन्दतावाद का स्पष्ट रूप सामने आया और शीघ्र ही अनेक देशों में उसका प्रसार हुआ। कदाचित् सर्वप्रथम इंग्लैंड में उसका सुस्पष्ट रूप सामने आया। तदुपरान्त फ्रांस, इटली और जर्मनी में स्वच्छन्दतावाद का साहित्यिक आन्दोलन प्रकट हुआ। कीट्स का देहावसान सन् १८२१ में, शेली का सन् १८२२ में, तथा बायरन का सन् १९२४ में हुआ। विक्टर ह्यूगो ने सन् १८२७ में अपने 'क्रामवेल' नामक नाटक की वह प्रसिद्ध भूमिका उपस्थित की, जिसे फ्रांस में स्वच्छन्दतावाद का घोषणा-पत्र माना जाता है। जर्मनी में इंग्लैंड की अपेक्षा इस स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का विस्तार कुछ विलम्ब से हुआ। सुविख्यात जर्मन कवि हाइने की मृत्यु पेरिस में सन् १८५६ में हुई। किन्तु जीवन के पिछले ८-१० वर्षों में वह अत्यन्त रुग्णावस्था में होने के कारण रचना करने में असमर्थ था। इस भाँति हम देखते हैं कि यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद का विस्तार-काल अधिक-से-अधिक ५० वर्षों का है, यद्यपि १८५० से ८-१० वर्ष पूर्व ही उसकी शक्ति बहुत-कुछ क्षीण हो चुकी थी।

स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि यद्यपि वह अनेक देशों में कुछ आगे या कुछ पीछे सक्रिय और सशक्त रूप में प्रकट हुआ, तथापि उसमें सर्वत्र आश्चर्यजनक एकरूपता थी। कल्पना और भावना की तीव्रता, गीत-काव्य के प्रति आकर्षण, प्रकृति-प्रेम, मानव के प्रति सहानुभूति, स्वाभाविक प्रेरणा इत्यादि लक्षण सभी देशों की स्वच्छन्दतावादी रचनाओं में विद्यमान थे। इसीलिए इस व्यापक आन्दोलन का रूप सरलतापूर्वक ग्रहण किया जाता है। इस एकरूपता के अनेक कारण थे, किन्तु उनमें सबसे प्रमुख कारण यह था कि इस समस्त आन्दोलन के मूल में कुछ सुनिश्चित दार्शनिक विचार थे। इन विचारों को सभी देशों में स्वीकृति मिली। कान्ट से लेकर हेगल तक जिस आदर्शवादी दर्शन का जर्मनी में चमत्कारपूर्ण विकास हुआ, उसका प्रभाव यूरोप के सभी सभ्य देशों की विचार-पद्धति पर पड़ा। इंग्लैंड में यह प्रभाव कोलरिज़ तथा कुछ अन्य कवियों और विद्वानों के मतों में परिलक्षित हुआ। इस जर्मन दर्शन के साथ-ही-साथ १८वीं शताब्दी के अँग्रेज़ दार्शनिकों के विचारों का सम्मिश्रण भी हुआ; कान्ट ने स्वयं १७७० में प्रोफेसर

पद पर आरूढ़ होने के पूर्व इन अँग्रेज़ दार्शनिकों की रचनाओं का गहन अध्ययन किया था और कोलरिज़ के सिद्धान्तों पर अंशतः उनकी छाप है। इसी भाँति फ्रांस और इटली में भी कान्ट, शेलिंग, हेगल प्रभृति जर्मन विद्वानों और आंशिक रूप में अँग्रेज़ विचारकों से प्रेरणा मिली। फलतः हमें विरोधी स्वर बहुत कम सुनाई पड़ते हैं।

सन् १८५० को हमने स्वच्छन्दतावाद की अन्तिम सीमा मानी है। उसी वर्ष बूढ़े वर्ड्सवर्थ की मृत्यु हुई, किन्तु प्रायः १० वर्ष पहले से ही विघटन एवं तज्जनित परिवर्त्तन के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे थे। रूसी विचारक बालिन्सकी ने सन् १८४८ में जो पत्र गोगल को लिखा, उसमें स्वच्छन्दतावाद को खुली चुनौती दी गई। बालिन्सकी के अन्य लेखों में भी हेगल के आदर्शवादी विचारों के साथ एक नवीन यथार्थवादी दृष्टिकोण का समन्वय है। फ्रांसीसी उपन्यासकार बालज़ाक ने सन् १८४२ में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कामिडी ह्यूमाइन' की भूमिका में यथार्थ निरूपण की परिपाटी का उल्लेख किया। उसके पत्रों, निबन्धों और भूमिकाओं से उसके यथार्थवादी दृष्टिकोण का पता चलता है और उसके उपन्यासों में उसी शैली को कार्यान्वित किया गया, यद्यपि यत्र-तत्र रूमानी प्रभाव भी सन्निविष्ट है। किन्तु परिवर्तन का सबसे दृढ़ आधार था एक नवीन यथार्थवादी और भौतिकवादी दर्शन, जिसकी सृष्टि काम्टे द्वारा हुई। काम्टे ने गोचर-प्रत्यक्ष को यथार्थ माना और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि सभी तथ्य और व्यापार पूर्व निश्चित नियमों से बँधे हुए हैं। अतः सृष्टि में एक विशिष्ट निश्चयात्मकता है। पारमार्थिक तत्त्वों और उनके प्रभाव को काम्टे ने एकदम अस्वीकार किया है। इस प्रकार उसका मत वस्तुपरक यथार्थवादी एवं वैज्ञानिक था।

सन् १८५० से आज तक के एक सौ से कुछ अधिक वर्षों में, साहित्यिक विचारों के क्षेत्र में परिस्थिति अपेक्षाकृत उलझी हुई प्रतीत होती है। अतः इस आधुनिक युग में क्रिया-शील रहने वाले प्रभावों का सम्यक् निरूपण सरल नहीं है। तब भी सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि दो विरोधी धाराएँ साथ-साथ चलती आ रही हैं। इस काल के प्रारम्भ में भौतिकवादी यथार्थनिष्ठ वैज्ञानिक प्रभाव का ही प्राधान्य था। काम्टे का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। उसका मत २०वीं शती के पहले दशक तक सबल था। इसी प्रकार डार्विन के विकासवाद ने निरन्तर साहित्यिक चिन्तन और सृजन को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। इंग्लैंड में हर्बर्ट स्पेंसर के दार्शनिक विचारों पर उसकी सुस्पष्ट छाया है तथा अनेक अंग्रेजी और फ्रांसीसी उपन्यासों में मूलभूत रूप में डार्विन के विचार विद्यमान हैं। फ्रांस में टेन, रिनान प्रभृति चिन्तकों ने नवीन वैज्ञानिक प्रभाव को अपनाया। इस सम्बन्ध में टेन रचित अँग्रेजी साहित्य का इतिहास स्मरणीय है। इसमें अँग्रेजी साहित्य का मूल्यांकन जाति, परिवेश और काल के सम्मिलित प्रभाव के आधार पर किया गया है। इस पुस्तक के लिखने के कुछ वर्षों बाद टेन ने इसी विशेष दृष्टि से फ्रांसीसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या भी प्रस्तुत की। जब बालज़ाक और फ़्लाबर्ट का यथार्थवाद आगे चलकर, ज़ोला और उसके अनुयायियों द्वारा समर्थित, प्रकृतिवाद में परिवर्तित हुआ, तब साहित्य पर वैज्ञानिकता की निश्चित विजय हुई। ज़ोला ने इस मत का प्रतिपादन किया कि उपन्यासकार अपना कार्य उसी भाँति करता है जैसे वैज्ञानिक; उसी तरह सामग्री एकत्र करता है और निरपेक्ष होकर उसका वर्गीकरण और प्रयोग करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब इंग्लैंड, फ्रांस

आदि में भौतिकवादी एवं वैज्ञानिक प्रभाव प्रबल हो रहे थे, उसी समय रूस में भी किसी अंश में स्वतन्त्र चिन्तन के फलस्वरूप और किसी सीमा तक कुछ जर्मन विचारकों के प्रभाव से यथार्थवादी साहित्य-चिन्तन सशक्त हो उठा। चित्र-कला के क्षेत्र में भी इसी युग में यथार्थ निरूपण की पद्धति अधिकाधिक अपनाई गई।

भौतिकवादी दर्शन और साहित्यिक यथार्थवाद का चरम उत्कर्ष फ्रांस में हुआ। इसके विपरीत दूसरी धारा, जिसमें आदर्श और अध्यात्म की प्रमुखता थी, जर्मनी में अबाध गति से बहती रही। हम यह नहीं कह सकते कि जर्मनी में नवीन वैज्ञानिक विचारकों ने अपना प्रभाव उत्पन्न नहीं किया। किन्तु अधिकांश जर्मन विचारक आदर्शवादी दर्शन की ओर ही उन्मुख रहे। कान्ट और हेगल के विचारों की परम्परा १९वीं शताब्दी के अन्त तक बनी रही। अनेक सम्प्रदाय थे, कान्टियन, हेगेलियन, नवकान्टियन, नव हेगेलियन, नव आदर्शवादी इत्यादि। किन्तु सबका दृष्टिकोण सामान्यतः एक ही था। प्रमुख आग्रह मन और विचारों पर था, भौतिक तत्त्वों और नियमों पर नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी का यह जर्मन आदर्शवादी-दर्शन इतनी उत्कृष्ट कोटि का तथा इतने गहन चिन्तन पर आधारित था कि उसका प्रभाव यूरोप के सभी देशों में फैला और उसने भौतिकवाद के बढ़ते हुए वेग को रोका। इसी सम्बन्ध में वैगनर का नाम भी लेना आवश्यक है। उसके संगीत में नाट्य-तत्त्व भी सूक्ष्म रूप में निहित थे और भावना-प्रधान होने के कारण यथार्थ निरूपण की नवीन शैली के वह विपरीत सिद्ध हुआ। फ्रांसीसी प्रतीकवाद, यथार्थवाद और प्रकृतिवाद की प्रतिक्रिया के रूप में अवतरित हुआ। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में उसको पो, ह्विटमैन आदि अमरीकी कवियों से प्रेरणा मिली। साथ-ही-साथ अनेक पारमार्थिक तत्त्वों और अनुभवों को आत्मसात् करते हुए रिम्बो, वर्लेन, मलार्मे प्रभृति कवियों ने एक नवीन रचना-शैली और काव्य-सम्प्रदाय की सृष्टि की। इन कवियों के मन में अदृश्य आध्यात्मिक तत्त्वों तथा अलौकिक अनुभवों के प्रति विशेष आकर्षण था, अतः बार-बार वे हमें सूफी अथवा रहस्यवादी सन्तों का स्मरण दिलाते हैं। १९वीं शती के अन्त तक पश्चिमी यूरोप के प्रगतिशील देशों में प्रायः सर्वत्र ये दोनों विरोधी धाराएँ समानान्तर बहती रहीं, यद्यपि कहीं एक की प्रमुखता थी, तो कहीं दूसरी की। तब भी सब मिलाकर यह कह कहना अनुचित न होगा कि आदर्शवादी आध्यात्मिक धारा की अपेक्षा भौतिकवादी वैज्ञानिक धारा अधिक विस्तृत और सशक्त थी।

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोपीय साहित्यिक चिन्तन का विवेचन करते हुए एक अमरीकी विद्वान् ने लिखा है कि सामान्यतः उस समय पाँच कोटि के विचार तथा उनसे सम्बन्धित आलोचना की पाँच प्रकार की प्रणालियाँ प्रचलित थीं। सर्वप्रथम कुछ अध्येता साहित्य का निरीक्षण विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से कर रहे थे। लेखक तथा उसकी रचना से सम्बन्ध रखने वाले सभी तथ्यों और तिथियों को संकलित करना, उनका काल-क्रम से वर्गीकरण करना तथा उनसे कतिपय निष्कर्ष निकालना यही उनका उद्देश्य था। दूसरी श्रेणी प्रभाववादी आलोचकों की थी, जो अपनी सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को ही कलात्मक आलोचना का अन्तिम प्रतिमान मानते थे। लान्जिनस से लेकर आज तक इस प्रकार के अनगिनत सौन्दर्य-पारखी कलाप्रेमी हो गए हैं, किन्तु सम्प्रदाय के रूप में उनका अस्तित्व फ्रांस में

१६वीं शताब्दी में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अनातोले फ्रांस इस सम्प्रदाय के एक विशिष्ट लेखक और विचारक थे। अँग्रेज कवि हाउसमन ने लिखा है कि अच्छी कविता की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसको पढ़ने अथवा सुनने से रोमांच हो जाय। तीसरी कोटि उन लोगों की थी जो साहित्य के अध्ययन और मूल्यांकन में सामान्य वैज्ञानिक विचार और परिपाटी को काम में लाते थे। वे किसी विशेष सिद्धान्त से बद्ध नहीं थे, किन्तु चिन्तन-शैली और तर्क की परिपाटी उन्होंने वैज्ञानिकों से प्राप्त की। उनसे आगे बढ़कर कुछ अन्य लोग भौतिक-विज्ञान के स्वीकृत मतों को साहित्यिक अध्ययन के निमित्त उपयोग में लाते थे। उदाहरणार्थ कार्य-कारण के नियम को वे सर्वमान्य रूप में स्वीकार करते थे और उसका अतिक्रमण उनके लिए जीवन और साहित्य में अग्राह्य था। अन्तिम प्रकार के आलोचक और विचारक जीव-विज्ञान तथा विकासवाद के सिद्धान्तों पर साहित्यिक वैशिष्ट्य का विवेचन करने में संलग्न थे। फ्रांसीसी विचारक ब्रूनेटियर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि काव्य-रूपों का विकास ठीक उसी प्रकार होता है जैसे जीवित प्राणियों का। सन् १६०० के लगभग साहित्यिक अध्ययन और आलोचना की यही अवस्था थी। हम आलोचना और रचना को पृथक् नहीं कर सकते; क्योंकि आलोचना द्वारा ही साहित्यिक सृजन के लिए आवश्यक वातावरण उत्पन्न होता है और प्रेरक आदर्श भी प्राप्त होते हैं। अतएव तत्कालीन साहित्य का रूप भी बहुत-कुछ आलोचना के समान ही था। यह बात वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के यूरोपीय साहित्य के निरीक्षण से सहज ही सिद्ध हो जाती है।

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से ही वैज्ञानिक एवं भौतिक विचार-धारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया बलवती होने लगी, यद्यपि इस प्रतिक्रिया का पूर्ण विकसित रूप प्रथम महा समर के उपरान्त देखने में आया। वैज्ञानिक निश्चयवाद अथवा नियतिवाद के विरोध में कई प्रसिद्ध दार्शनिकों ने अपने नवीन मत प्रस्तुत किये। फ्रांसीसी दार्शनिक वर्गसाँ और इटैलियन दार्शनिक क्रोचे इनमें अग्रगण्य थे। वर्गसाँ ने अपने दार्शनिक विचारों में सहज ज्ञान को सबसे अधिक महत्त्व दिया। वस्तुतः सहज ज्ञान की ही आधार-शिला पर उसके समस्त आदर्शवादी दर्शन का ढाँचा खड़ा किया गया है। उसके दार्शनिक विचारों का व्यापक प्रभाव न केवल फ्रांस में वरन् योरप के अन्य देशों में भी पड़ा। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग में लिखे जाने वाले बहुसंख्यक नाटकों और उपन्यासों का उत्स न केवल मनोविज्ञान के नवीन अनुसन्धानों में था वरन् उतना ही वर्गसाँ के अध्यात्म दर्शन में भी। बाद में प्रकट और पल्लवित होने वाले अनेक साहित्यिक आन्दोलनों की गहरी तह में वर्गसाँ के दार्शनिक विचार विद्यमान मिलेंगे। क्रोचे का प्रभाव कदाचित् उससे भी अधिक पड़ा। उसने भी सहज ज्ञान को ही महत्त्व दिया और उसके अभिव्यंजनावाद के सिद्धान्त ने सौन्दर्य-बोध के लिए बाह्य तत्त्वों की आवश्यकता को प्रायः पूर्णरूपेण अस्वीकार किया। यद्यपि कला के क्षेत्र में परिलक्षित होने वाले अभिव्यंजनावाद का सीधा सम्बन्ध क्रोचे के मत से जोड़ना कठिन है फिर भी यह निश्चित है कि इन दार्शनिक तत्त्वों का प्रभाव अभिव्यंजनावादी नवीन कृतियों पर अवश्य पड़ा। क्रोचे के सिद्धान्त-निरूपण तथा उसकी व्यावहारिक आलोचना ने वर्तमान शती में साहित्य और सौन्दर्य-दर्शन को एक नवीन दिशा प्रदान की। जर्मनी में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में नव-

आदर्शवादी सम्प्रदाय का अभ्युदय हो चुका था। इस मत के अनुयायी दार्शनिकों ने विज्ञान तथा इतिहास के तात्त्विक भेद को स्पष्ट करते हुए बताया कि विज्ञान में तथ्यों की केवल पुनरावृत्ति होती है, किन्तु इतिहास तथ्यों और उनके क्रम को निरन्तर नवीन दृष्टि से आँकता रहता है। यहाँ नीत्से के सम्बन्ध में भी कुछ कह देना आवश्यक है। उसका दर्शन घोर व्यक्तिवादी था। अतः वैज्ञानिक नियमों के कठोर बंधन की सम्भावना उसमें बहुत कम रह जाती है। उसका प्रिय सिद्धान्त था कि मानव-जीवन में शक्ति की आकांक्षा निहित है और इसी मत को केन्द्र बनाकर उसने अपने विशद दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत किया। इंग्लैंड में भी आदर्शवादी दर्शन की एक आधुनिक विचार-धारा है। इस सम्बन्ध में टी० एच० ग्रीन, एफ० एच० ब्रैडले, बी० बोसाँके आदि का उल्लेख-मात्र पर्याप्त होगा।

आज के सौंदर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र पर आधुनिक मनोविज्ञान का गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसलिए भौतिक तत्त्वों से हटकर मानसिक-व्यापारों पर हमारा ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित हो गया है। पिछले ५०-६० वर्षों में मनोवैज्ञानिक खोज की विशेष प्रगति हुई तथा अनेक अन्वेषकों और विद्वानों ने विभिन्न मतों की स्थापना की। इन सिद्धान्तों में पर्याप्त भेद है, किन्तु यह बात तो सामान्यतः सबके लिए सत्य है कि प्रमुख आग्रह मन की आंतरिक शक्तियों और अवस्थाओं पर है, बाह्य पदार्थों पर नहीं। अतः मनोविज्ञान की उन्नति से उन्नीसवीं शती की भौतिकवादी यथार्थवादी परम्परा को धक्का लगा है। डॉ० शूमेकर ने आज के प्रचलित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को आठ कोटियों में विभाजित किया है। उन सभीका सम्बन्ध हमारे सौन्दर्य-बोध और कलात्मक प्रवृत्तियों से है, किन्तु विस्तार के भय से उन सबकी चर्चा हम नहीं कर सकते। केवल दो-तीन प्रधान आचार्यों के मतों का उल्लेख किया जा सकता है। व्यवहारवादी तथा प्रयोगवादी मनोविज्ञान का विशेष प्रचलन है, किन्तु कला और आलोचना में अभी उसका प्रभाव उतना विस्तृत नहीं प्रतीत होता जितना अन्य मतों का। मैकडूगल तथा उसके सहकर्मियों और अनुयायियों ने अपने विवेचन के आधारभूत अंतर्जात प्रवृत्तियों की तालिका प्रस्तुत की और अनेक उपन्यासों और कहानियों में इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर चरित्र-चित्रण किया गया है तथा कथावस्तु का विकास हुआ है। गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान ने सृजनात्मक और आलोचनात्मक दोनों को ही प्रभावित किया है। यूरोप और अमरीका में काव्य में 'पैटर्न्स' अर्थात् चित्राकृति ढूँढ़ने की जो चेष्टा आज दिखाई दे रही है, उसके मूल में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का ही प्रभाव निहित है। अंग्रेजी के कतिपय सुविख्यात आलोचकों ने इसी मत को मानकर अपने प्रतिमान निर्धारित किये हैं। हर्बर्ट रीड ने बार-बार गेस्टाल्ट-मनोविज्ञान की चर्चा की है और आई० ए० रिचर्ड्स की मानसिक आवेग विषयक स्थापना कुछ अंशों में गेस्टाल्ट मनोविज्ञान पर निर्भर है, किन्तु साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव मनोविश्लेषण-सम्बन्धी सिद्धान्तों का पड़ा है। फ्रॉयड से प्रभावित होकर अनेक लेखकों ने अवचेतन मन को चित्रित करने का प्रयास किया है तथा इस बात का निरूपण किया है कि मानव-क्रिया की प्रेरणा-शक्ति के रूप में काम-वासना सदैव छिपी रहती है। फ्रायड के विचारों का प्रभाव कथा-साहित्य, नाट्य-साहित्य, कविता आदि सभी पर पड़ा है और उसको लेकर आलोचना का एक नया मानदण्ड तैयार किया गया है। युग का प्रभाव फ्रॉयड से कम नहीं पड़ा है।

उससे अहं, चेतन, व्यक्तिगत अचेतन, सामूहिक अचेतन आदि के विचार लेकर कला और साहित्य का नई रीति से अध्ययन हो रहा है। 'मिथ' अथवा पुराकथा एवं आरकीटाइप अर्थात् मूल रूप की चर्चा आज चारों ओर सुनाई पड़ती है। यह युग के अनुसन्धान का ही फल है। वर्तमान शती के अनेक साहित्यिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में नवीन मनोवैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों को हम देख सकते हैं।

यहाँ हम आधुनिक युग के कतिपय यूरोपीय कला-सिद्धान्तों का उल्लेख भी करेंगे, क्योंकि उनका प्रभाव भी मूलतः यथार्थवादी परम्परा के विरोध में ही पड़ा है। चित्र-कला में १९वीं शती में प्रचलित यथार्थवाद के उपरान्त प्रभाववाद और उत्तर-प्रभाववाद ने बल प्राप्त किया। आधुनिक शती के प्रारम्भिक वर्षों में यथार्थ निरूपण की पद्धति को छोड़कर निग्रो चित्र-कला और सेज़ाने आदि की प्रेरणा से डाडाइज़्म, क्यूबिज़्म, फ्यूचरिज़्म, इक्सप्रेशनिज़्म आदि अनेक मत प्रचलित हो गए। सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि इन सबमें यथार्थ चित्रण का परित्याग किया गया था और मन की अवस्थाओं का सांकेतिक निरूपण करने का प्रयास किया गया था। मन में जो आवेग उठे, उनकी सीधी और तात्कालिक अभिव्यक्ति हो जाय, यही उद्देश्य प्रायः सभी कला-सम्प्रदायों का था। आगे चलकर सूररियलिज़्म में मार्क्स के सामाजिक उद्देश्यों के साथ फ्रॉयड के स्वप्न-दर्शन का सम्मिश्रण हुआ और अस्तित्ववाद ने एक नैराश्यपूर्ण दर्शन और दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

आधुनिक युग में साहित्यिक आलोचना की अवस्था अत्यन्त अनिश्चित और उलझी हुई है।—टी० एस० इलियट ने इसकी तुलना रविवार के दिन इंगलैंड के पार्कों में दिये जाने वाले भाषणों से की है। प्रत्येक वक्ता कुछ कहता है बिना यह जानने की चेष्टा किये हुए कि दूसरे क्या कह रहे हैं। तब भी उसका सामान्य विवेचन यहाँ अपेक्षित है। सर्वप्रथम उल्लेखनीय है वह परम्परागत आलोचनात्मक विचार, जो अरस्तू और होरेस के काल से आज तक बिना किसी व्यवधान के चला आया है। १९ वीं शताब्दी में सांबो, मैथ्यू आर्नल्ड आदि पर उसकी छाप थी। और वर्तमान शताब्दी में अमरीकी विचारक मार्टिमर एडलर ने अरस्तू के सिद्धान्तों की फिर से नवीन ढंग से स्थापना करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। एफ० एल० लूकस और सी० एस० लीविस का क्लासिकी दृष्टिकोण उसी प्राचीन परम्परा के प्रभाव का द्योतक है तथा टी० एस० इलियट और आई० ए० रिचर्डस् ने साहित्य के प्रभाव की व्याख्या जिस ढंग से की है, उसमें प्राचीन विचारों का कुछ-न-कुछ सम्मिश्रण अवश्य है। रूमानी आलोचना की परम्परा भी अक्षुण्ण बनी हुई है। कोलरिज का प्रभाव अनेक विद्वानों के मतों में परिलक्षित हुआ है। ए० सी० ब्रैडले कोलरिज के अनुयायी थे और डी० जी० जेम्स तथा आई०ए० रिचर्डस् के सिद्धान्तों की तह में कोलरिज के विचार निश्चित रूप से विद्यमान हैं। रूमानी आलोचना का प्रभाववादी पक्ष मिडिल्टन मरी के लेखों में सबसे अधिक स्पष्ट हुआ है, यद्यपि हाउसमन, गैराड इत्यादि का नाम भी हम इस सम्बन्ध में ले सकते हैं। इंग्लैंड में क्रोचे और स्पिनगर्न की नवीन आलोचना से प्रभावित होने वाले विद्वानों में ओलिवर एल्टन अग्रगण्य थे।

वर्तमान शताब्दी के सबसे बड़े अंग्रेज साहित्य-शास्त्री आई० ए० रिचर्डस् के सिद्धान्तों में अनेक प्रवृत्तियों और प्रभावों का समावेश हुआ है। अरस्तू के प्राचीन मत

तथा कोलरिज की स्थापनाओं के प्रभाव की चर्चा हम ऊपर कर आए हैं। इनके अतिरिक्त रिचर्डस् महोदय ने अपने नवीन सिद्धान्त का निर्माण करने के लिए गेस्टाल्ट मनोविज्ञान तथा स्नायु-शास्त्र की नई खोजों से अत्यधिक सहायता ली है। भाषा-शास्त्र तथा शब्दों के स्वभाव का उनका ज्ञान अत्यन्त गम्भीर है तथा विश्लेषण की वैज्ञानिक और व्यावहारिक शैली का उन्होंने काव्य के मूल्यांकन के निमित्त स्तुत्य प्रयोग किया है। उनकी आलोचना-पद्धति में प्राचीन और नवीन, आदर्शवादी और वैज्ञानिक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का चमत्कारपूर्ण सामञ्जस्य हुआ है। इसी विशेषता के कारण इंग्लैंड और अमरीका में आलोचना के जगत् में उनको युग-प्रवर्त्तक माना जाता है और उनका अनुकरण अनेक विद्वानों ने किया है। टी० एस० इलियट पर आई० ए० रिचर्डस् का आंशिक प्रभाव पड़ा है, किन्तु कुछ बातों में वह प्रोफेसर रिचर्डस् से भिन्न हैं। उनमें अपेक्षाकृत वैज्ञानिकता कम है; और इस कमी के कारण रस ग्रहण की क्षमता अधिक है। उनका दृष्टि-कोण अधिक परम्परामूलक और अध्यात्मप्रवण है। हम यहाँ आलोचना के उन अन्य प्रकारों की चर्चा नहीं करेंगे जिनका सीधा सम्बन्ध चिन्तन अथवा निश्चित सिद्धान्तों से नहीं है। यूरोप के सभी देशों में ग्रन्थों की खोज और पाठ-भेद निर्धारित करने में विद्वान् संलग्न हैं इसी भाँति अनेक विद्वान् सफलतापूर्वक उच्चस्तरीय अध्यापन का कार्य करने में लगे हुए हैं। बहुत-कुछ तो वे लोग स्वीकृत मतों और विचारों की व्याख्या-मात्र करते हैं। किन्तु उनमें कुछ ऐसे मनीषी भी हैं जो अध्यापन के साथ-साथ नवीन काव्य को नवीन अर्थ और एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। यह देखने में आया है कि वर्तमान काल में अत्यधिक संख्या में ऐसे लोग मिलते हैं जो सफल आलोचक के साथ-साथ सफल अध्यापक भी हैं। हम यहाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले सामान्य कोटि के लेखों की चर्चा भी नहीं करेंगे, यद्यपि जनसाधारण के लिए उनका विशेष मूल्य है।

२०वीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार से और कई ओर से भौतिकवादी-यथार्थवादी परम्परा का विरोध हुआ। किन्तु यह कहना ठीक न होगा कि इस विरोध के कारण उसका अन्त हो गया। विरोधी शक्तियों के होते हुए भी वह आज भी सजीव है और कई विभिन्न रूपों में अपना कार्य कर रही है। आज की समाजवादी आलोचना उसका सबसे बड़ा महत्त्व-पूर्ण प्रदर्शन है। टेन और ब्रूनेटियर ने साहित्य के इतिहास लिखने का जो नया ढंग अपनाया था, उसीको कार्यान्वित करके वर्तमान शताब्दी में, फ्रांस में साहित्य के विशिष्ट इतिहास लिखे गए हैं। इंग्लैंड में भी कतिपय पंडितों ने विशिष्ट कवियों, लेखकों की रचनाओं को उनके सामाजिक और राजनीतिक परिवेश में रखकर समझने की चेष्टा की है। इस भाँति शेक्सपियर, मिल्टन, पोप, जान्सन इत्यादि के काल की छान-बीन की गई है और यह सिद्ध किया गया है कि ये सभी कवि अपने युग की प्रवृत्तियों से सामान्यता प्रभावित थे। इस सामान्य प्रभाव से सन्तुष्ट न होकर कुछ लोगों ने यह प्रमाणित किया है कि युग और काव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थात् काव्य का रूप युग की शक्तियों के आग्रह से ही निर्धारित होता है। टानी ने यह बात १७वीं शताब्दी के लिए, और लेसली स्टीफिन्स ने १८वीं शताब्दी के लिए, सिद्ध की। इसी दृष्टि से १९वीं, शताब्दी के बारे में भी पुस्तकें लिखी गई हैं। किन्तु इस श्रेणी के विचारकों में सबसे अधिक महत्त्व है मार्क्सवादी दृष्टिकोण के विचारकों का।

क्योंकि उनका मत सुस्पष्ट और वैज्ञानिक है। भौतिक और ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के स्वीकृत सिद्धान्तों को आलोचना का आधार बनाया गया। जैक्सन, रैल्फफाक्स तथा अनेक अन्य लेखकों ने साहित्यिक विशेषताओं की छान-बीन इसी आधार पर की है। रूसी साहित्य और आलोचना से इस मत को निरन्तर प्रेरणा मिलती रही है।

यथार्थवाद केवल आलोचना में ही नहीं, सृजनात्मक साहित्य के क्षेत्र में भी द्रष्टव्य है। २०वीं शताब्दी के प्रायः २० वर्षों में यथार्थ निरूपण की परिपाटी विस्तृत रूप में प्रचलित थी। बाल्ज़क और जोला के प्रभाव से और कुछ रूसी कथाकारों के प्रभाव से उपन्यासों में यही यथार्थ निरूपण की शैली व्यवहृत हुई। इब्सन के प्रभाव से नाटकों में इसका समावेश हुआ। लगभग १९२० के बाद यथार्थ निरूपण का प्रचलन कम होने लगा तब भी उसका नितान्त अभाव नहीं है।

प्रतीकवादियों के विषय में हम लिख आए हैं। इन लोगों ने अपने असाधारण विश्वासों तथा काव्य-प्रणाली की व्याख्या में बार-बार लिखा है, कभी घोषणा-पत्र के रूप में और कभी निबन्धों, भूमिकाओं और पत्रों के रूप में। इस प्रकार रिम्बो और वर्लेन से लेकर रिल्के और टी० एस० इलियट तक प्रतीकवादी काव्य के पीछे चिन्तन की अविच्छिन्न परम्परा चली है। इसी परम्परा से मिलती-जुलती रहस्यवादी परम्परा भी है, जिसके सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिख देना आवश्यक है। यूरोप में पहले रहस्यवाद केवल एक आध्यात्मिक प्रक्रिया था, किन्तु मध्ययुग के अवसान काल में सन्तों ने रहस्य-भावना के साथ सौंदर्य-भावना को मिला दिया और तब से रहस्यवाद की परिगणना साहित्यिक आंदोलनों में होने लगी। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने अनेक स्थलों पर रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति की है, यद्यपि हम उनको विशुद्ध रहस्यवादी नहीं कहते। जिस काल की विवेचना हम कर रहे हैं, उसमें रहस्यवादी काव्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। फ्रांस में हेनरी ब्रिमांड ने अपनी एक सुविख्यात पुस्तक में इस मत की स्थापना की, कि उच्चकोटि के काव्य में रहस्य-भावना सदा निहित रहती है। ब्रिमांड महोदय ने विशुद्ध कविता की कल्पना भी प्रस्तुत की, जिसकी चर्चा अभी तक समाप्त नहीं हुई है। पाल क्लाडेल एक दूसरे विख्यात फ्रांसीसी रहस्यवादी विचारक हैं। जिनकी कविता में उनके विश्वासों की अच्छी झलक मिलती है। ये दोनों ही फ्रांसीसी विद्वान् रोमन कैथोलिक थे। इसी भाँति इंग्लैंड के रहस्यवादी जिराल्ड मैनली हापकिन्स और फ्रांसिस टामसन भी रोमन कैथोलिक मत के अनुयायी थे। इस काल में आयरलैण्ड में रहस्यवादी काव्य का उत्तम विकास हुआ और ए० ई०, यीट्स आदि रहस्यवादी काव्य-रचना में अत्यन्त सफल सिद्ध हुए हैं। डाइलान टामस के काव्य में भी रहस्यवादी विश्वासों का पुट मिलता है। इन रहस्यवादियों ने भी स्थान-स्थान पर अपने मत की व्याख्या प्रस्तुत की है और उनके कथनों तथा कृतियों के सहारे हम उनका सम्बन्ध प्राचीन रहस्यवादी परम्परा से जोड़ सकते हैं।

इस संक्षिप्त निबन्ध में हमने लगभग पिछले एक सौ वर्षों में यूरोपीय काव्य की पृष्ठभूमि में होने वाले चिन्तन का उल्लेख किया है। जिस भाँति काव्य पर सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार सामयिक विचारों तथा परम्परागत विश्वासों का भी। प्रत्येक युग में पुराने विश्वास नवीन चिन्तन के आधार पर

कुछ-न-कुछ बदलते रहते हैं और इस परिवर्तन की झलक काव्य में दिखाई देती है। साथ-ही-साथ कभी-कभी विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित हो जाती है और चिन्तन की शैली बहुत अंशों में बदलती दिखाई पड़ती है। इसका भी गहरा प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। आधुनिक युग में यूरोपीय चिन्तन और यूरोपीय साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करना ही हमारा उद्देश्य है।

●

राजेन्द्रप्रसादसिंह

मार्क्सवाद की काव्य-विषयक प्रतिपत्तियाँ

"For the question of questions, which no political philosophy can escape, and by the right answer to which all political thinking must in the end be judged is simply this : What is man ? What are his limitations ? What is his misery and what his greatness ? And what finally his destiny ?"

—*T. S. Eliot* : *The liteature of Politics*

मानवीय विकास-बोध की आधुनिक अवस्था, जब बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक पहुँचकर, मूल्यों के 'विश्लेषण-युग' (Age of Analysis) की परिणति और आयामित मूल्यों (Dimentional Values) के नये संक्रमण-काल (Transit Period) की समग्रात्मक प्रक्रिया (Unitary Process) में संघटित हो रही है; तब मार्क्सवाद और उसके द्वारा विकसित साम्यवाद, जनवाद और प्रगतिवाद में ही एक ऐसे दृष्टिकोण की परिधि बच गई है, जो राजनीति, विज्ञान, समाज-दर्शन और संस्कृति के क्षेत्रों में प्रश्न-चिह्न बन गया है। निश्चय ही, मार्क्सवादी विचार-धारा में, आरम्भिक दृष्टि, आग्रह, मान्यता और सीमाओं का अब अधिक परिष्कार उदात्तीकरण और परिव्यापन किया गया है; किन्तु चेतना की विशिष्टता, व्यक्तित्व की प्राणवत्ता और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अभी तक मार्क्सवाद के पूर्वाग्रह नहीं घटे हैं, फलतः रचनात्मक श्रेय, रुचि-स्वातन्त्र्य और विचार-स्वच्छन्दता को भी सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल ही औचित्य मिलता है। स्पष्ट है कि आधुनिक मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियाँ राष्ट्रों के राजनीतिक सम्बन्धों से जन्म लेती हैं, व्यवस्था की योजना और नीति से संचालित होती हैं। समकालीन मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुसार, किसी भी रचनात्मक चेष्टा का औचित्य तो राजनीतिक सम्बन्ध, व्यवस्था-नीति, योजना और राष्ट्र-निर्माण के प्रति उसकी सक्रिय अनुकूलता में है, अन्यथा नहीं। यों तो, सभी देशों में, मार्क्सवादी विचार-धारा, प्रत्येक समस्या और क्षेत्र के प्रति उदारतापूर्ण, मानवतावादी और शान्तिमूलक नवनिर्माण के तात्पर्य की व्याख्याएँ प्रसारित कर रही है, किन्तु कला और साहित्य के प्रति, उसमें सर्वाधिक सहिष्णुता आ गई है। संभवतः यह परिवर्तन एक गहरा अर्थ लेकर आया है कि सामाजिक नवनिर्माण और शक्ति-संगठन की साम्यवादी

भूमिका में, कला और साहित्य की रचनात्मक चेष्टा सैद्धान्तिक रूप से नहीं, व्यावहारिक रूप से नियन्त्रित की जाय और सैद्धान्तिक उदारता बरतकर, उसे व्यावहारिक रूप से सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल योजनाबद्ध कर लिया जाय। यदि यह सचाई नहीं है, तो मार्क्सवादी दृष्टिकोण की नींव पर शासन-व्यवस्था और निर्माण-योजना चलाने वाले देशों का समकालीन साहित्य, आधुनिक जीवन के संक्रमणशील मूल्यों की अभिव्यक्ति और परिणत उपलब्धियों की गहरी समीक्षा क्यों नहीं कर पाता; मात्र राष्ट्रीय निर्माण-योजना, शान्ति-भावना, दैनिक जीवन, घटना-प्रभाव और स्थूल उत्साह की अभिव्यक्ति ही कर पाता है ? मार्क्सवादी देशों के साहित्य में विशेषतः कविता तो सबसे अधिक निष्प्रभ, महत्त्वहीन और यान्त्रिक होती जा रही है। इसका उत्तरदायित्व मार्क्सवाद की, कला और काव्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिपत्तियों पर है, जिनकी स्थापना और व्याख्या, विचारों की लम्बी परम्परा के द्वारा निर्देशित हुई है।

कार्लमार्क्स ने मनुष्य की रचनात्मक प्रेरणा और विचार-धारा के सम्बन्ध में, चेतना, दर्शन और सौन्दर्य-बोध की सीमाएँ भी निर्दिष्ट की हैं,—"मानव, यथार्थतः क्रियाशील मानव, जिस रूप में वे, अपनी उत्पादन-शक्तियों के निश्चित विकास और उनसे सम्बन्धित घनिष्ठ पारस्परिकता से फलीभूत अवस्था में हैं, अन्तिम रूपों में भी, वे ही मानव अपनी धारणाओं, विचार आदि के निर्माता हैं। चेतना तो चेतन अस्तित्व, और वही अस्तित्व, जो मनुष्य की अपनी वास्तविक जीवन-प्रक्रिया में निरत रहता है, के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकती।"[1]

"चेतना के सम्बन्ध में खोखली व्याख्या समाप्त होती है और यथार्थ ज्ञान को उसका स्थान ले लेना है ! जब यथार्थ का चित्रण होता है; दर्शन—क्रियाशीलता की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में, अपने अस्तित्व का माध्यम ही खो देता है। अधिक-से-अधिक, उसका स्थान ले सकता है—सर्वसाधारण निष्कर्षों का समाहार, मानव के ऐतिहासिक विकास के अनुशीलन से प्राप्त निष्कर्ष। वास्तविक इतिहास से विलगकर जाँचने पर, इन निष्कर्षों का अपने तई कुछ भी मूल्य नहीं दीखता।"[2]

"मानव-अस्तित्व की वस्तुनिष्ठा का, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों अर्थों में, तात्पर्य है,—मनुष्य की ऐन्द्रिक संवेदनाओं को सर्वमानवीय बनाना, साथ ही सर्वमानवीय संवेदनाओं को मानव-जीवन और प्रकृति-जीवन के विशाल वैभव से सम्बन्धित कर देना।"[3]

इन्हीं विचारों की राह से मार्क्स और एंगिल्स ने मानव की कला-चेष्टा के प्रश्न पर पहुँचने की और अपनी मान्यताएँ निरूपित करने की सफलता पाई। मार्क्स ने स्वीकार किया कि सामाजिक प्रगति, भौतिकवादी आधार और सामाजिक संगठन की रूप-रेखा से साक्षात् सम्बन्ध के अभाव में भी कला की श्रेष्ठतम कृतियों का युग आ जाता है और शायद ऐसा युग अधिकतर तभी आया है; क्योंकि सामाजिक जीवन की असन्तोषप्रद अवस्था में ही, महत् की प्रेरणा से, महाकाव्यों की रचना होती है। फिर भी प्राचीन संस्कृति

१. **कार्लमार्क्स और फ्रेडरिक एंगिल्स : 'द जर्मन आइडियोलॉजी', पष्ठ १३।**

२. **वही, पृष्ठ** १६।

३. **कार्लमार्क्स** : Mega Part I, vol. 3.

की अभिव्यक्ति करने वाली कला या महाकाव्य-कृतियों में आधुनिक मनुष्य भी आनन्द पाता है, कलात्मक तल्लीनता से डूबता है और उनकी श्रेणी, स्तर तथा उनकी मूल्य-मर्यादा को दुर्लभ मान लेता है। ऐसा सम्भवतः इसलिए होता है कि जिन अपरिपक्व सामाजिक अवस्थाओं में उक्त कृतियों का निर्माण हुआ, वे कभी न लौटेंगी,—यही भाव उनके प्रति आकर्षण को सुरक्षित रखता है। मार्क्स ने इस भाव को एक प्रकार का बचपना माना है।[1] मार्क्स का विचार है कि पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में कला और काव्य को नियन्त्रित स्वीकृति ही मिल पाती है, क्योंकि वह पाने के लिए कलाकार या कवि, अपनी रचना में पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का परोक्ष समर्थन, यथार्थ-सम्बन्धी अन्तर्विरोधों और विषमताओं की उपेक्षा के लिए आदर्शवाद का आडम्बर और पूँजीवाद की हित-रक्षा के अतिरिक्त पूँजीवादियों को भौतिक सम्पत्ति के अधिकारी और उत्पादक के रूप में प्रत्यक्षतः चित्रित करते हैं।[2] इसीलिए कहा जा सकता है कि पूँजीवाद ने, बुर्जुआ-समाज ने, इस एक वर्ग ने ही चिकित्सक, वकील, धर्मोपदेशक, कवि और वैज्ञानिकों को भी रोज़ी देकर अपना मज़दूर बना लिया। सर्वहारा वर्ग के अभ्युदय की साम्यवादी योजना से मार्क्स ने कल्पना की कि राष्ट्रों की स्वायत्त बौद्धिक सम्पत्ति भी सामान्य जनता की सम्पत्ति हो सकेगी और धीरे-धीरे राष्ट्रीय एकांगिता तथा मानसिक संकीर्णता के निराकरण के साथ ही राष्ट्रीय आंचलिकता के खण्डित साहित्य-प्रवाहों के बदले एक अखण्ड विश्व-साहित्य का महानद फूट चलेगा।[3] साम्यवादी समाज-व्यवस्था के फलस्वरूप साहित्यिक या सांस्कृतिक रचनाओं में सहज विश्वजनीनता प्रकट हो सकेगी,—यह विश्वास इसलिए भी पुष्ट हुआ कि साम्यवादी व्यवस्था में सम्पत्ति के विकेन्द्रीकरण और सत्ता के साधारणीकरण के फलस्वरूप व्यक्तित्व की सहजता के सुरक्षित रहने की आशा की गई। सम्पत्ति या धन की लालसा और विषमता-पूर्ण अर्जन की लिप्सा में, सारे व्यक्तित्व को असहज और अन्तर्विरोधी वृत्तियों से संलग्न कर देने की क्षमता है,—ऐसा मार्क्स का विश्वास था,[4] इसीलिए वह रचनात्मक व्यक्तित्व की अभिव्यक्तियों में; पेशे, प्रतिपादन और कला-कृतियों में भी; सामाजिक अर्थ-व्यवस्था, उत्पादन-प्रणाली, अर्जन की समस्या और परिस्थिति की अनिवार्यताओं को व्यक्तिगत दृष्टि, रुचि, मान्यता, आदर्श और शैली के व्यावहारिक और यथार्थगत अन्तर्विरोध या असमर्थता का कारण मानता था। उसने धन (Money) की शक्ति को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिए गेटे के 'फाउस्ट' और शेक्सपीयर के 'टिमॉन ऑफ एथेन्स' की पंक्तियों का भी उपयोग किया है[5] यद्यपि दोनों के काव्य-सन्दर्भों में व्यक्त भाव और विचार मध्ययुगीन मान्यताओं से सम्बद्ध और परिसीमित दृष्टिकोण से, भावुकता की शैली में अभिव्यक्त हैं, जिनका नाटकीय महत्त्व अधिक है।

मार्क्सवाद का आग्रह कला और साहित्य के सम्बन्ध में, यथार्थ परिस्थितियों और

१. मार्क्स : 'लिटरेचर एण्ड आर्ट', पृ० १७।
२. वही, पृ० २७।
३. मार्क्स : एंगिल्स : 'कम्यु० मेनिफेस्टो', पृ० १३।
४. 'लिटरेचर एण्ड आर्ट', पृ० ३१।
५. वही, पृ० २८-२९।

यथार्थ चरित्रों की सामाजिक विशिष्टताओं के निर्वैयक्तिक चित्रण पर था; यानी परिस्थिति-जन्य, यथार्थमूलक, निर्वैयक्तिक और चारित्रिक विशिष्टता का निष्कर्ष देने वाले अनुभवों की अभिव्यक्ति पर था। कला में यथार्थवाद की बाबत, एंजिल्स ने स्पष्ट लिखा है कि उसके विचारानुसार यथार्थवाद का तात्पर्य विस्तृत विवरण की सचाई, विशिष्ट चरित्रों के सच्चे प्रतिफलन और विशिष्ट परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण में निहित है। साथ ही—रचनाकार की व्यक्तिगत धारणाएँ जितनी दूरी तक अव्यक्त रहेंगी कला-कृति उतनी ही श्रेष्ठ होगी।[१] किसी भी कृति की निर्वैयक्तिक रचना-प्रणाली में,—स्थितियाँ, क्रियाशीलता और स्वाभाविक यथार्थ चित्रण ही उचित माध्यम माने गये हैं, जिनके द्वारा कृतिकार के विचार और ऐतिहासिक समाधान व्यक्त हो सकते हैं। इन माध्यमों के अतिरिक्त, विलग या तटस्थ रूप से, कृतिकार अपने पूर्वाग्रह, चिन्तन या समाधान को असंगत रूप से किसी चरित्र पर लाद दे या विवेचित करे—यह किसी कला या रचनात्मक साहित्य में उचित नहीं। इसी मान्यता के साथ एंगिल्स ने एचिलस, एरिस्टोफेन्स और दाँते आदि के काव्य, नाटक तथा आधुनिक (तत्कालीन) रूसी, नार्वेजियन और जर्मन उपन्यासों की सोद्देश्य (Tendentious) रचना की सराहना की[२] और मार्क्स ने शेक्सपीयर की निर्वैयक्तिक रचना-प्रणाली का समर्थन तथा शिलर की उस प्रणाली का विरोध किया, जिसमें वह व्यक्तियों को काल की गतिविधि का संदेश-वाहक मात्र बना देता था।[३] एंगिल्स का निश्चित मत था कि बौद्धिक तत्त्वों को ग्रहण करने के नाम पर यथार्थवादी वस्तुनिष्ठता की उपेक्षा नहीं की जा सकती और शिलर के लिए शेक्सपीयर को भुलाया नहीं जा सकता।[४] फिर भी, यथार्थवादी चिन्तन की प्रणाली, यदि ऐतिहासिक वास्तविकता की खोज में, सच्ची व्याख्या करने वाले निर्देशक का काम न कर सकी और उसका प्रयोग पूर्वाग्रह से भरे हुए निकष के रूप में, या पूर्व-स्वीकृत साँचे के रूप में, ऐतिहासिक तथ्यों को प्रस्तुत कर देने के लिए किया गया, तो उसका दुरुपयोग और प्रतिकूल निष्कर्ष होगा; एंगिल्स ने इस ख़तरे को महसूस किया था।[५] पूँजीवादी शासन-व्यवस्था के साहित्यकारों की बाबत मार्क्स की धारणा थी कि जीविका और व्यवस्था के सम्बन्धों की अनुकूलता उनके लिए आवश्यक हुई होगी; तो साम्यवादी व्यवस्था से उसके साहित्यकारों की जीविका का सम्बन्ध भी शासन के अनुकूल ही रह सकता है,—ऐसी शंका हो सकती थी। तो मार्क्स ने स्पष्ट लिखा है कि अस्तित्व-रक्षा और लेखन के लिए लेखक की कोई जीविका उचित है; पर जीविका के लिए अस्तित्व और लेखन अनुचित।[६] मार्क्स की धारणा थी कि लेखक की कृतियाँ किसी अन्य क्षेत्रीय फल के लिए माध्यम के रूप में लिखित नहीं होनी चाहिएँ, बल्कि वे अपना लक्ष्य स्वयं हों, यहाँ तक कि लेखक से भी आत्म-दान लेकर यथार्थ का तटस्थ और कलात्मक

१. 'लिटरेचर एण्ड आर्ट', पृ० ३६-३८।
२. एंगिल्स : मिन्ना कॉतस्की को पत्र।
३. मार्क्स : फर्डिनन्ड लेज़ली को पत्र।
४. एंगिल्स : फ० लेज़ली को पत्र।
५. एंगिल्स : पॉल अर्न्स्ट को पत्र।
६. मार्क्स : 'लिटरेचर एण्ड आर्ट', पृ० ५५।

प्रतिफलन कर सकें, यही यथेष्ट है। लेखन और प्रकाशन की स्वतन्त्रता यदि व्यापारिक दृष्टिकोण या अन्य क्षेत्रीय लाभ का माध्यम बनकर रह जाती है, तो ऐसा दुरुपयोग करने वालों पर प्रतिबन्ध होना आवश्यक है, ऐसा मार्क्स का विचार था।[1]

उपरिलिखित विचार मार्क्सवाद के वैसे विचार हैं, जिनसे परिचित होकर अनेक देशों के साहित्यकारों ने साहित्यिक जीवन, दृष्टिकोण और रचनात्मक मान्यताओं का नये सिरे से मार्क्सवादी संगठन किया, या पूर्वागत दृष्टि, मूल्य तथा रूढ़ियों के प्रति मोहबद्ध होकर मार्क्सवादी साहित्य-निकाय का नितान्त विरोध किया। सबसे कम संख्या उन साहित्यकारों की रही है, जो इस निकाय का परीक्षण, अनुशीलन और परिव्यापन कर सके। मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन के प्रति तटस्थ रह जाने वाले आधुनिक साहित्यकार नगण्य हैं।

उचित और उन्मुक्त दृष्टिकोण से, मार्क्सवाद की संस्कृति, कला, साहित्य और विशेषतः काव्य-रचना के सम्बन्ध में स्थापित प्रतिपत्तियों का विकास रेखांकित करने के लिए मार्क्सवाद की चेतना-सम्बन्धी स्थापनाओं का विकास समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि सभी रचनात्मक अभिव्यक्तियों में क्रियाशील व्यक्ति की मौलिक समस्या का समाधान उसमें निहित है। अधिकांश रचनात्मक व्यक्ति अपनी चेतना को नैसर्गिक और अर्जित संस्कारों से संयुक्त एक ऐसी शक्ति समझते हैं, जो उनके व्यक्तित्व के जागरूक और अवचेतन आयामों में परिव्याप्त रहकर भी, सहज रूप से उनकी वैयक्तिक प्रवृत्तियों के अधीन है, अन्तरंग, अभिन्न और स्वेच्छित है, बहिर्जगत् की अधीनता में निर्देशित नहीं। इस सम्बन्ध में मार्क्स-वाद की स्थापना 'सामाजिक उत्पादन' के विश्लेषण पर आश्रित है। मार्क्स ने जब 'सामाजिक उत्पादन' (social production) शब्द का प्रयोग किया, तो तात्पर्य रखा वस्तु-जगत् के साधनों से, जिनका निर्माण मनुष्य की रचनात्मक क्रियाशीलता से होता है, जिनके प्रभाव से समाज के उत्पादन-सम्बन्धों में गति आती है और जिनसे प्रभावित सम्बन्धों के आधार पर समाज का आर्थिक ढाँचा खड़ा होता है। मार्क्स ने तो स्पष्ट कहा कि आर्थिक ढाँचा ही वह वास्तविक धरातल है, जिस पर न्याय और राजनीति के महल खड़े हैं, निर्भर हैं, जिनसे सामाजिक चेतना के विभिन्न और निश्चित रूपों का मौलिक सम्बन्ध है।[2] यहाँ ध्यान देने के योग्य एक बात है कि मार्क्स के द्वारा व्यवहृत 'सामाजिक उत्पादन' का तात्पर्य उतना व्यापक नहीं था कि अपनी परिधि में भौतिक, वैचारिक, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक प्रवृत्तियों को समाविष्ट करते, जिनकी अनेकविध अभिव्यक्ति अनेक प्रकार की रचनाओं में होती है। इसलिए तथाकथित सामाजिक उत्पादन के सम्बन्धों से समाज के आर्थिक ढाँचे का निर्माण स्वाभाविक है और राजनीतिक तथा न्यायगत ढाँचों का उस पर अवलम्बित रहना भी बहुत-कुछ संगत है, साथ ही सामाजिक यथार्थ, राजनीति, न्याय और व्यापार आदि कुछ व्यावहारिक तथा भौतिक जीवन-प्रक्रियाएँ मूलतः आर्थिक ढाँचे की व्यवस्था से नियमित और निर्देशित हो सकती हैं, पर वैचारिक, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक प्रक्रियाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनके तत्त्व अधिकांशतः वस्तु-जगत् से सम्बद्ध नहीं, भाव-जगत् से सम्बद्ध होते हैं। भाव-जगत् से सम्बद्ध ये कुछ जीवन-प्रक्रियाएँ सामाजिक चेतना के कुछ

१. **मार्क्स** : Mega, P. I, Vol. 1, P. 223.

२. **मार्क्स** : **'सेलेक्टेड वर्क्स'**, वॉ०१, पृ० ३५६।

ऐसे रूपों में रचनात्मक अभिव्यक्ति पाती हैं कि उनकी असाधारणता, अपूर्वता और विशिष्टता को राजनीति या न्याय के ढाँचों से व्युत्पन्न या आर्थिक ढाँचे से उद्भूत नहीं माना जा सकता, नियमित या निर्देशित भी नहीं। हाँ, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक ढाँचे के पूरक के रूप में, सापेक्ष महत्त्व और स्वतन्त्र संगठन रखने वाला सांस्कृतिक ढाँचा ही भाव-जगत् से सम्बद्ध जीवन-प्रक्रियाओं का आधार है।

मार्क्सवादी विचारक इस धारणा का विरोध करते हैं, क्योंकि वे जब मान लेते हैं कि मानवीय चेतना उत्पादन के सम्बन्धों पर आश्रित समाज के बहिर्जीवन से संचालित होती है; तो वे अधिक गहरे और मौलिक प्रश्न का भी उत्तर देते हैं कि वस्तु-जगत् ही भाव-जगत् की सृष्टि और उसका नियमन करता है।[1] मार्क्सवादी कवि-लेखकों पर चेतना-सम्बन्धी उपर्युक्त स्थापना और असंगति का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा है और उनकी रचनाएँ अपने आग्रह की रक्षा में चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व को दूर तक झुठलाकर अतिवादी भी बन गई हैं, साथ ही उनके विरोधी साहित्यकारों ने चेतना की निरपेक्ष सत्ता के समर्थन में, अपनी रचना-शक्ति का बहुत दूर तक उपयोग किया है। भाव-जगत् और वस्तु-जगत् का कारण-फल-सम्बन्ध भी बीज और फल की पूर्वापरता के सम्बन्ध की तरह कई पीढ़ियों के विवाद का विषय बन गया है। आश्चर्य की बात है कि मार्सल प्रेनेण्ट-जैसे वैज्ञानिक विचारक भी मार्क्स की इस धारणा का समर्थन करते हैं कि आदिम सत्ता वस्तुगत, इन्द्रियगम्य और जड़ रही है, जिसके अन्तर्गत क्रियाशील द्वन्द्व के फलस्वरूप ही उसका कुछ अनुपात चेतन सत्ता में परिणत हो सका।[2] यहाँ, ध्यातव्य है कि प्रकृति-विज्ञान की आधुनिक उपलब्धियों के आधार पर एडिंगटन ने सिद्ध कर दिया है कि वस्तु और तेज अथवा जड़ और चेतन में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं, प्रक्रियागत अन्तर है।[3] साथ ही, आइन्स्टीन ने घोषणा की है कि वस्तु का निर्माण करने वाला मूल 'भौतिक पदार्थ' किसी सर्वोपरि विश्व-पदार्थ का अंश नहीं, वरन् संयोगों (Events) के पुञ्ज का सहज संकलन है। ये संयोग भी वैसे तत्त्वांश (Particles) हैं, जो अत्यन्त लघु और सम्पूर्ण काल के प्रवाह में क्रियाशील हैं।[4] आइन्स्टीन के द्वारा निर्दिष्ट और एडिंगटन के द्वारा निश्चित 'भौतिक पदार्थ' के तत्त्वांश जड़ और चेतन के मौलिक समन्वय माने जा सकते हैं, क्योंकि उसके लघुतम स्वरूप भी काल-प्रवाह में स्वचालित और क्रियाशील हैं। मार्क्सवादी विचार के साहित्यकारों ने भाव और वस्तु तथा जड़ता और चेतना के मौलिक या तात्त्विक यथार्थ को आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के आधार पर नहीं समझा और दोनों तत्त्वों की आदिम अभिन्नता के बदले पूर्वापरता का समर्थन किया, कारण और फल का सम्बन्ध माना, वस्तु और जड़ता को प्राथमिक सिद्ध किया। ऐसा सम्भवतः इसलिए हुआ कि हीगेल के द्वारा स्थापित सिद्धान्त में जिस निरपेक्ष 'भाव' (Absolute Idea) को आदिम शक्ति के रूप में मानकर उसकी प्रतिकृति को विश्व-वस्तु मान लिया गया था; मार्क्सवाद को उसका खंडन करना था।

---

१. मार्क्स : 'सेलेक्टेड वर्क्स', वॉ० १, पृ० ३५७।
२. Marcel Prennant : Biology and Marxism.
३. एडिंगटन : 'द नेचर ऑफ द फीजिकल वर्ल्ड'।
४. बर्ट्रेन्ड रसल : 'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासफी'।

"अपने इतिहास का निर्माण तो हम लोग करते हैं, पर उन पूर्व स्वीकृतियों और अवस्थाओं के अधीन रहकर जो अच्छी तरह निर्दिष्ट हैं। उन सभी अवस्थाओं में अर्थनीतिक अवस्थाएँ ही निष्कर्ष में निर्णायक होती हैं निर्णायक न भी होने पर, राजनीति और अन्य पहलुओं की अवस्थाएँ, बल्कि मनुष्य की मनोगत परम्पराएँ (Traditions) निर्णय में हिस्सा लेती हैं।"[1] "राजनीतिक, व्यवहार-शास्त्रीय, धार्मिक, साहित्य-कला-सम्बन्धी और दूसरे प्रकार के विकास अर्थनीतिक विकास पर निर्भर हैं। पर ये सब पारस्परिक और अर्थनीतिक 'धरातल' पर भी प्रतिक्रियाएँ पैदा करते हैं और एक-मात्र अर्थनीतिक अवस्था रचनात्मक और कारणभूत क्रियाएँ करती हैं, यह बात नहीं है।"......"राजनीतिक और भावात्मक सम्बन्धों से वे अर्थनीतिक सम्बन्ध चाहे जितने प्रभावित हों, पर अर्थनीतिक सम्बन्ध ही परिणाम में निर्णायक का काम करते और उन सम्बन्धों के भीतर लाल ग्रन्थ-सूत्र की तरह समाविष्ट रहते हैं, यथार्थ ज्ञान देते हैं।"[2] "सांस्कृतिक या भावात्मक, किसी क्षेत्र में परम्परा को, उसकी भावनाओं को पूर्णतः त्यागकर केवल वर्तमान समाज की अर्थ-दशा को प्रतिच्छायित करना असम्भव है। पर सांस्कृतिक परम्परा तटस्थ होकर भी अपरिवर्तित नहीं रह सकती, अर्थनीतिक परिवर्तन के साथ वर्ग-सम्बन्धों में भी परिवर्तन होते हैं और फलतः परम्परार्जित भाव-सम्पदा भी रूपान्तरित होती है।"[3] इन असंगतिपूर्ण धारणाओं की तार्किक परीक्षा से सिद्ध होगा कि अर्थनीतिक ढाँचे से सांस्कृतिक ढाँचे का पारस्परिक सम्बन्ध वैज्ञानिक ढंग से निर्दिष्ट और निश्चित करने में मार्क्सवाद के आरम्भिक ऋषि ही पूर्ण सफल न हुए। उन्होंने दोनों सामाजिक ढाँचों की सापेक्ष स्वतन्त्रता या पूरकता भी नहीं मानी, यद्यपि मार्क्स ने अनिश्चय में ही, विस्तार में न सोचकर लिख दिया—"रूपान्तर के सम्बन्ध में सोचने के समय, उत्पादन-जन्य अर्थनीतिक अवस्था के वास्तविक रूपान्तर और कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, कलागत या दार्शनिक रूप—संक्षेप में वे सब भाव-रूप (Ideological forms), जिनके उपयोग से लोग इस 'संघर्ष' की बाबत जागरूक होकर इसके विरुद्ध लोहा लेते हैं—इन दोनों में बराबर पृथक्ता का बोध रखना चाहिए।[4] यह पृथक्ता का बोध संभवतः इसलिए वांछित है कि एंगिल्स स्वीकार करता है—"धर्म, दर्शन, इत्यादि भाव-जगत् के उन क्षेत्रों की बाबत, जो अधिकतर उच्च कल्पना के आकाश में उड़ने वाले-जैसे हैं, उनके भीतर ऐसी प्रागैतिहासिक धारणाएँ संचित हैं, जिन्हें हम आधुनिक बिलकुल व्यर्थ मान लेंगे, जो पहले से ही सुरक्षित थीं और ऐतिहासिक युग में उन्हें ले लिया गया है।"[5] "आदिम मानव-समाज के सारे क्रिया-कलाप अर्थनीतिक कारणों के द्वारा नहीं समझे जा सकते। इसलिए मानव-संस्कृति के सम्बन्ध में विवेचना करने के समय हमें आदिम मनुष्य के मन से प्रवाहित अतीत की भाव-धारा को भूलना नहीं चाहिए, क्योंकि 'मृतक अतीत' की परम्परा जीवित के मानस में प्रेत-बाधा-सी घिरी

१. Salected works of Marx, Vol. I, p. 381-83.
२. वही, Vol. I, p. 319-93.
३. वही, पृ० ४६८।
४. वही, पृ० ३५०।
५. वही, पृ० ३८५।

रहती है और उसका उपयोग करने के बिना, रूपान्तर के बिना मनुष्य की मुक्ति का उपाय नहीं है।"[1] मनुष्य की मुक्ति की कल्पना वर्ग-हीन समाज की समाजवादी स्थापना में निहित है, जिसके फलस्वरूप मानव-इतिहास को नियन्त्रित रखने वाली बाह्य जगत् की वस्तुगत शक्तियाँ मनुष्य के अधीन रहकर उसके इच्छित फल का अवदान करेंगी और आवश्यकता (Necessity) के धरातल से स्वतन्त्रता (Freedom) के धरातल पर सभ्यता का उदय होगा।[2]

मनुष्य की सामाजिक 'मुक्ति की यही कल्पना' मार्क्सवाद की मुख्य प्रेरणा है, जिसमें शोषक और शोषित के वर्ग-संघर्ष से प्रतिफलित सभ्यता, संस्कृति और व्यवस्था का अन्त और पूर्वपरम्पराओं तथा कुसंस्कारों का मूल्यांकन करके नवीन समाजवादी अर्थ-नीति और साम्यवादी व्यवस्था के परिवेश में सार्वजनिक जीवन का प्रतिष्ठापन होगा। इस लक्ष्य तक सामाजिक जीवन को पहुँचाने के लिए जिस सर्वमुखी विप्लव की आवश्यकता है और जिसकी तैयारी अनिवार्य रही है, उसकी सफलता के मार्ग में परम्परागत संस्कार, मनोग्रन्थियाँ, मान्यताएँ और रूढ़िग्रस्त अनुभूतियाँ आचार और विचार में व्यक्त होकर असाधारण बाधा उत्पन्न करती हैं। अतः सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रचलित इन भाव-धाराओं का परिष्कार, रूपान्तर और विप्लवीकरण करने के लिए अतिरिक्त जागरूकता और निश्चित योजना से इनका पुनर्संगठन करने की जरूरत है। यों तो बार-बार स्वीकार किया गया है कि धर्म, दर्शन, नीति-शास्त्र, न्याय-विज्ञान और साहित्य आदि सांस्कृतिक क्षेत्रों पर अर्थ-व्यवस्था की प्रभाव-मुख्यता के बावजूद, उन्हें अपनी मर्यादा, परम्परा और मूल्य-रक्षा से संगत होकर ही रूपान्तरित होना चाहिए, सामाजिक विप्लव में सहायता और निर्देशन करना चाहिए; पर ऐसे रूपान्तर के प्रस्ताव के साथ ही जागरूकता से आयोजित पुनर्संगठन की गतिविधि भी अनिवार्य कर दी गई है। साहित्य और विशेषतः काव्य के सम्बन्ध में इस आयोजित प्रयास का फल देखना चाहिए, जो मार्क्सवाद की बौद्धिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि पर तार्किक प्रतिपत्तियों के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

मार्क्सवादी चिन्तक भाषा की उत्पत्ति और उसके विकास को ही साहित्य का आदिम स्वरूप और स्वभाव मानते हैं। चेतना के किसी भी क्षेत्र के मूल में सामाजिक या बाह्य, वस्तुगत परिवेश को कारणभूत सिद्ध करने के लिए, वे मानते हैं कि आदिम मानव-समाज के व्यक्तियों ने, अपने आस-पास की प्राकृतिक और पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रभाव से भय, आनन्द आदि जो अनुभव प्राप्त किये, उनके आवेग से ही सहज रूप में भाषा का जन्म हुआ; वैयक्तिक मनोभाव को किसी के सम्मुख मात्र प्रकट कर देने के लिए या अनुकूल या प्रतिकूल व्यावहारिक सम्बन्ध बनाने के लिए नहीं। इस धारणा से ज्ञात होता है कि आदिम मानव-व्यक्ति ने सहज सामाजिक भावावेगों की अभिव्यक्ति के लिए ही भाषा की खोज की और वैयक्तिक मनोभाव को उपेक्षित कर दबाया; किन्तु आदिम सहजता की अवस्था में सामाजिक और वैयक्तिक का यह अन्तर और तत्सम्बन्धी विवेक अस्वाभाविक

---

१. 'Selected works of Marx', Vol. II, p. 315.
२. Anti Duhring, p. 421.

है, क्योंकि आदिम चेतना उतनी विभक्त नहीं हो सकती।[1] हाँ, भाषा पारस्परिक अभिव्यक्ति के माध्यम से स्वतः सामाजिक भाव-विनिमय का सामान्य माध्यम हो गई, यह तथ्य है। इसी प्रकार, आदिम भावावेग, जिनकी अभिव्यक्ति के प्रयासों से भाषा की उत्पत्ति हुई, उनके प्रेरणाप्रद स्पन्दनों को मार्क्सवादियों ने निश्चित रूप भौतिक माना है, जब कि आदिम भावावेग की स्थिति में भौतिक और अभौतिक आयामों का अन्तर कल्पनातीत है। भाषा की आदिम अवस्था में ध्वनि, लय और छन्द के तत्त्व पर्याप्त पाये जाते हैं, अतः भाषा का साहित्यिक प्रयास सबसे पहले पद्यात्मक हुआ। यही साहित्य अथवा काव्य की उत्पत्ति का कारण है। पद्य की, अथवा काव्य की उत्पत्ति के साथ ही भाषा, धीरे-धीरे मनोगत भावना और वस्तुगत प्रतीति, दोनों को व्यक्त करने का उभयनिष्ठ माध्यम बन गई। वह भावना समाज-प्रेरित हो या प्रतीति बहिर्फलित, पर भाषा का, साहित्य का क्षेत्र तभी से बहिरन्तर का क्षेत्र हो गया। प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक 'क्रिस्टोफर' कॉडवेल की मान्यता है कि भाषा बहिर्जगत् और अन्तर्जत् को, वस्तुगत सत्य और भावसत्य—दोनों को प्रकट करती है।[2] इस विचार से संगत यह आशा होती है कि साहित्य या काव्य को भी बाह्य, आन्तरिक, वास्तविक और भावात्मक अनुभवों को व्यक्त करने का द्वाद्वात्मक अधिकार मिलना चाहिए। परन्तु, सामाजिक विप्लव का साधन बना देने के क्रम में मार्क्सवाद साहित्य को संगतिपूर्ण रूपान्तर में नहीं, राजनीतिक क्रान्ति में नियोजित करता रहा है।

मार्क्सवादी विचारकों ने कविता या सम्पूर्ण साहित्य या कला अथवा सभी सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को, सामाजिक यथार्थ की समस्याओं से संघर्ष का उसके अर्थनीतिक ढाँचे को बदलने के लिए, अन्य सभी ढाँचों में फलस्वरूप वर्गहीन सहजता लाने के लिए और सर्वगत माध्यम के रूप में विप्लव-जन्य साम्यवाद की स्थापना के लिए सापेक्ष मर्यादा के साथ सक्रिय रहने वाला साधन बनने का सन्देश दिया है। व्यक्तिगत जीवन की प्रवृत्तियों और अनुभूतियों से प्राप्त वैयक्तिक विशिष्टताओं को सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण में स्थान नहीं मिल सकता, यदि वे प्रत्यक्षतः समाज-निरपेक्ष हैं; क्योंकि परोक्षत: कोई भी विशिष्टता समाज-निरपेक्ष नहीं सिद्ध की जा सकती। इस दृष्टि से, यदि काव्य के सम्बन्ध में सोचें तो वह चेतन मन की सोद्देश्य अभिव्यक्ति का एक प्रकार है, जो भावावेग के सामाजिक दाय को कलात्मक रूप से प्रतिपादित करता है। सामाजिक दाय से उसका जो सम्बन्ध है, उसकी बाबत कॉडवेल की धारणा है कि कला या कविता की उपमा मोती से दें, तो हमें मान लेना होगा कि सामाजिक स्थिति उस सीप की-सी है, जो मोती को चारों ओर से आवृत्त करके, अपने अन्तःकोष में उसका विकास करती है।[3] अतः जिस युग-समाज के परिवेश में काव्य का जन्म होता है, उसकी बहिरन्तर-स्थितियों का प्रभाव ही उसकी सार्थकता है। कॉडवेल मानता है कि वस्तुगत परिस्थिति के अनुसार कार्य में प्रवृत्त होने से, मनुष्य के मन में विचित्र भावों का उद्रेक होता रहा और कि एक वैसी परिस्थिति की आवृत्ति न हो सकने के कारण, प्राप्त अनुभवों के रागात्मक प्रसार से भावात्मक जगत् की सृष्टि होती

१. कॉडवेल, 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी', पृ० २०७।
२. वही, पृ० २०५।
३. Illusion and Reality, Birth of poetry, Sic. 4.

रही; किन्तु वह भावात्मक जगत् भी समाज-निरपेक्ष नहीं, समान स्थितियों में घिरे अनेक व्यक्तियों की सामूहिक अनुभूति के विनिमय से समंजस हो उठा। निश्चय ही, एक परिस्थितिगत वास्तविक अनुभव के नवीन आस्वादन की प्रेरणा ही कला की जननी रही है। यह नवीन आस्वादन, परिस्थिति के अभाव और उसकी प्राप्यता, दोनों में संभव है और उसकी अभिव्यक्ति भी। कलात्मक निर्माण की पूँजी के रूप में, जो रागात्मक संस्कार बढ़ता जाता है, वह मनुष्य के वस्तुगत कर्मक्षेत्र पर भी दूर तक प्रभाव डालता है। कॉडवेल अनिश्चय में ही रह गया है कि व्यावहारिक जीवन के क्रिया-कलाप में भी जब रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति हो ही जाती हैं, तब मानव ने स्वच्छन्द भावात्मक जगत् के अभिव्यंजन से कला या काव्य के स्वप्न-जगत का निर्माण क्यों किया - क्यों आवश्यक समझा? आदिम मानव-समाज में व्यक्तिगत और सामूहिक महत्त्व की चेष्टाओं में भले ही अधिक अन्तर न रहा हो, पर कला-जगत् की प्रेरणाएँ व्यक्ति-मानस की उपज होकर ही सामूहिक मानस का प्रतिफलन कर सकती थीं; अतः कॉडवेल के अनिश्चय का उत्तर समाज-विज्ञान में नहीं, मनोविज्ञान के उस पहलू में मिल सकता है, जिसमें व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए संघर्ष करने वाले विशिष्ट चरित्रों की रचनात्मक प्रक्रिया निर्दिष्ट होती है। आश्चर्य है कि कॉडवेल ने भी इस ओर ध्यान न देकर, एक और धारणा बना ली कि आरम्भिक समाज के काव्य में संबद्ध मानव की सामूहिक अनुभूति प्रतीत होती है, जिसकी उत्पत्ति संघ की अर्थ-सम्बन्धी अवस्था के प्रयोजनों से हुई है; और दूसरी ओर उसने कह दिया कि श्रम के प्रयोजन से जन्म लेने के फलस्वरूप और क्रियाशीलता में सरसता भरने के कारण संघ-पर्वों में कला के द्वारा सुनियोजित सामूहिक भावोल्लास श्रम का प्रभाव हल्का कर देने के लिए आयोजित हुआ।[1] कॉडवेल की इस मान्यता का मूल उसके प्रसिद्ध सिद्धान्त में है कि जब प्रत्यक्ष कारणों के अभाव और परोक्ष संभावना के रूप में, कारण की विद्यमानता रहती है, तो सामाजिक रूप से कला-साधनों का प्रयोग होता है और अर्थनीतिक ढाँचे से कविता का, तथा वस्तु-सत्य के भीतर से भाव-जगत् का उद्‌भव होता है। कॉडवेल जिस भाव-जगत् को काल्पनिक या 'इल्यूजन' मानता है, उसीके सम्बन्ध में अधिक संगत विचार देकर वह अपनी विचार-धारा की असंगति प्रकट करता है—"कला भाव-जगत् में मानवीय स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है, जैसे विज्ञान ऐन्द्रिक अनुभव के जगत् में मानवीय स्वतन्त्रता का अभिव्यंजन; क्योंकि दोनों अपने-अपने जगत् की आवश्यकताओं के प्रति सचेतन रहते हैं और उनमें परिवर्तन ला सकते हैं—कला, आन्तरिक यथार्थ की दुनिया, विज्ञान, बाह्य यथार्थ या प्रकृत तत्त्वों की दुनिया।"[2] शायद इसीलिए, कला को छूट देते हुए लेनिन ने पिसरेव का समर्थन किया है कि स्वप्न के साथ जीवन का कुछ सम्बन्ध रहे, तो सब ठीक है।[3]

मार्क्सवाद जिस तरह राजनीतिक कार्यक्रम और समाज-शास्त्रीय सिद्धान्तों में एक प्रकार के भविष्यवाद की धारणा का उपयोग करता है, उसी तरह कला-साहित्य की मान्यताओं में भी। यद्यपि मार्क्स ने अनुभव किया कि वर्ग-संघटन में विप्लव आने के बाद

१. Illusion and reality, Birth of Property, Sec. 4.
२. वही, वर्ल्ड एण्ड आई।
३. लेनिन : 'वॉट इज टु बी डन।'

शोषक वर्ग या शासक वर्ग के भावात्मक दायों की प्रमुखता समाप्त की जा सकती है, पर सामाजिक भाव-जगत् से वे दाय मिट नहीं जाते और दीर्घव्यापी संस्कार बनकर सामूहिक अवचेतन में भाव-धारा का पूर्वागत संघर्ष संचालित रखते हैं; फिर भी मार्क्स ने स्पष्ट कहा कि उन्नीसवीं सदी में सामाजिक क्रान्ति को अपने काव्य-निर्माण की प्रेरणा, अतीत से नहीं, भविष्य से ही प्राप्त करनी है। यह क्रान्ति अपने कार्यक्रम का आरम्भ तब तक नहीं कर सकती, जब तक कि वह अतीत के कुसंस्कारों से छुटकारा न पा ले। पहले की क्रान्ति को अपनी वैषयिक तल्लीनता के लिए विश्व के इतिहास की स्मरण-चेष्टाएँ आवश्यक प्रतीत हुईं, पर उन्नीसवीं सदी की क्रान्ति को अपने लक्ष्य तक जाने के लिए, मृत अतीत को उसकी समाधि में छोड़ देना होगा। पूर्वतः वाक्य ने (Phrase) वस्तु (Content) का अतिक्रमण किया था, सम्प्रति वस्तु ही वाक्य का अतिक्रमण कर रहा है।"[१]—यहाँ एक महत्त्वपूर्ण शंका जग जाती है, कि मार्क्स ने कला और साहित्य के माध्यम से अर्थनीतिक क्रान्ति की सफलता चाही या विशद रूप में जीवन की समकालीन अर्थ-निर्भर वास्तविकताओं का प्रतिबिम्ब, अतः अर्थशास्त्रीय या समाजशास्त्रीय चिन्तन और मानव-कर्म जिन जीवनोपयोगी दृष्टियों और स्थापनाओं का विरस प्रयोग करते हैं; उन्हींका प्रयोग सरसता के साथ, भावात्मकता के साथ करने के लिए, वस्तु के द्वारा शैली का अतिक्रमण करने के लिए, मार्क्स ने साहित्य को बहाल करना चाहा। तब वह साहित्य का अन्य उपयोगी चिन्तन-शास्त्रों के प्रयोग से, मात्र सरसता का, शैली का, भावुकता का अन्तर मानता है; यानी साहित्य की प्राविधिक विशेषता 'रूप' (Form) को ही समझता है, जिसका विरोध मार्क्सवाद का नारा है। इस परोक्ष निष्कर्ष के अतिरिक्त, मार्क्स की उपर्युक्त मान्यता के आधार पर ही मार्क्सवादी कला-दृष्टि की साम्यवादी परिणति हुई; जिसके अनुसार साम्यवादी पार्टी ने साहित्य रचना को भी सामाजिक क्रान्ति और साम्यवादी संघटन की सफलता के लिए परम्परा-विमुख करके अग्रगामी शक्तियों की घोषणा बना देने की चेष्टा की; साथ ही उन अग्रगामी शक्तियों के तत्त्वों का निर्णय भी राजनीतिक धरातल पर अपनी मुट्ठी में बन्द रखा और लेनिन से स्टालिन के युग तक सोवियत साहित्यकार साम्यवादी पार्टी की सांस्कृतिक सेना के सिपाही-जैसे हो गए। वे समाज-निर्माण के उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के नाम पर, नेतृत्व-सम्बन्धी स्वार्थों से नियन्त्रित, राजनीतिक पार्टी की शक्ति बन गए। किसी भी देश में ऐसा कुसंयोग हो जाने की सम्भावना है, जो रचनात्मक बुद्धिजीवियों की स्वेच्छित या सदेच्छित विचार-स्वतन्त्रता पर छापा मार दे। ऐसे कुसंयोग में एंगिल्स की दुहाई देने का भी कोई फल नहीं होगा, कि उसने लिखा था—**"लेखक का अपना मत जितना छिपा रहे, कला की दृष्टि से उतना ही अपेक्षणीय है।"**[२]

उपर्युक्त आधार पर, मार्क्सवादी कविता को यदि वर्तमान से संश्लिष्ट और भविष्य के प्रति उन्मुख होना चाहिए, तो उसकी रचना सोद्देश्य ही नहीं, प्रभावशालिता के लिए समाज-शास्त्रीय उद्देश्य से प्रगतिशील और प्रत्यक्षवादी शैली से संवलित होनी चाहिए; जिसके फलस्वरूप रूपवाद के अतीतोन्मुख दाय से मुक्त होकर वह भविष्य के समाज-निर्माण

१. Eighteenth Brumaire, Vol. II P. 318.
२. **एंगिल्स : लिटरेचर एण्ड आर्ट : पृ० ३७।**

में तत्काल वैषयिक योग दे सके। प्रश्न उठता है कि तब अतीत के दाय के प्रति उसका क्या सम्बन्ध होगा—क्या मार्क्स के अनुसार विच्छिन्न प्रतिकूलता का, या एंगिल्स के अनुसार मर्यादित रूपान्तर के सन्तुलन का, या कॉडवेल के अनुसार मूल्यांकन का सम्बन्ध होगा? इन निर्दिष्ट सम्बन्धों से उत्तरोत्तर उदारता का आभास मिलता है, क्योंकि मार्क्सवाद धीरे-धीरे अपनी कट्टरता से मुक्त होकर काफी उदार हो चला है। पर इस समस्या का विशिष्ट समाधान रॉल्फ फॉक्स ने किया है। रचयिता के लिए अपने देश और काल के जन-जीवन से अभिन्नता का बोध आवश्यक है, साथ ही इतिहास और राष्ट्रीय संस्कृति के दाय का उपयोग भी, किन्तु वर्तमान जीवन की व्याख्या के लिए, अतीत की अधीनता के लिए नहीं।[1] रॉल्फ फॉक्स के ऐसी धारणा के प्रतिपादन में टी० एस० इलियट की चर्चा भी की है कि उसने लिखा—"**किसी कवि, किसी कला के कलाकार की पूर्ण सार्थकता उसीके एकाकी अस्तित्व तक सीमित नहीं है। उसकी विशिष्टता, उसका विवेचन, मृत कवि और कलाओं के साथ उसके सम्बन्ध का विवेचन है। आप उसका एकान्त मूल्यांकन नहीं कर सकते, आपको उसे अन्तर और तुलना का निष्कर्ष लेने के लिए मृत समानधर्मियों से सापेक्ष करके देखना होगा।**"[2] रॉल्फ फॉक्स ने विचार रखा है कि सचमुच किसी कवि की समीक्षा 'समग्र' के एक अंश की तरह की जाती है, किन्तु उस अंश की हैसियत से नहीं, जो अपने परम्परित दाय का एक निष्क्रिय फल हो। कवि या उपन्यासकार मृत वैभव का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। वह अतीत का उपयोग, मात्र अतीत के रूपान्तर (अपने व्यक्तिगत अभिमान के द्वारा) के लिए नहीं, प्रत्युत वर्तमान के रूपान्तर के लिए भी करता है। संस्कृति वह वस्तु है, जिसका उपयोग हमें जीवन के क्रम में ही करना चाहिए, वह मात्र कलात्मक अनुशीलन का विषय नहीं है।[3] तो, यह निश्चित है कि वर्तमान जीवन के सामाजिक रूपान्तर के लिए साहित्य या कविता में अतीत और परम्परा के दायों का मूल्यांकित उपयोग हो सकता है; पर सामाजिक रूपान्तर का प्रमुख माध्यम राजनीतिक कार्यक्रम है। इसलिए वर्तमान की व्याख्या या भावी समाज की तैयारी की अभिव्यक्ति करने के लिए, राजनीतिक विचार-कार्यों के प्रति उचित प्रतिक्रियाएँ प्रकट करके ही, अर्थनीतिक, सांस्कृतिक या नैतिक यथार्थ का समावेश किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कवि-कलाकार की विचार-स्वतन्त्रता बाधित हो जाने का दोष साम्यवादी देश पूँजीवादी देशों पर लगाते हैं और पूँजीवाद देश साम्यवादी देशों पर।[4] इस सम्बन्ध में रॉज़र गारोदी और लुई अरागाँ तथा पीयर हर्वे के प्रत्यालोचन-सम्बन्धी निबन्धों में सामयिक परिवेश के प्रति दायित्व और कलाकार की निरपेक्ष सत्य-साधना की बाबत काफी बहसें उठाई गई हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा गारोदी ने जो निष्कर्ष लिया है, वह नवीन साहित्य के लिए उदार यथार्थवादिता की स्वीकृति है—"**एक नये मानव का जन्म हो रहा है। उसके आनन की बाह्य रेखाओं को भी निर्दिष्ट करने में जो असमर्थ हैं, वे निम्न कोटि के कलाकार हैं।.......उत्कृष्ट रचना वही कही जा सकती**

१. रॉल्फ फॉक्स : 'द नॉवेल एण्ड द पीपुल', पृ० १६८।
२. टी० एस० इलियट : 'सेक्रेड वुड'।
३. रॉल्फ फॉक्स : 'द नॉवेल एन्ड द पीपुल', पृ० १६८।
४. वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ इन्टेलेक्चुअल्स का मेनिफेस्टो, १९४८।

है, जो शिक्षा दे कि हमारी पीढ़ी को किस प्रकार जीना और मरना है।"[1] अब, विचार-स्वतन्त्रता और साहित्यिक मर्यादा की दृष्टि से ऐसी कला-रचना के राजनीतिक औचित्य के सम्बन्ध में कोई सीमान्त होना चाहिए, यह उचित है। मार्क्सवादी साहित्य की मान्यताएँ यथार्थ से परोक्ष सम्बन्ध की उदारता बरतकर बेलिन्स्की, शनीशेवस्की, या पुश्किन, चेखव और टाल्सटॉय तक, पूर्व बीज से मार्क्सोत्तर फल तक सामाजिक यथार्थ से साहित्य की अभिन्नता का आग्रह नहीं प्रकट कर सकीं, बल्कि यथार्थ की रूपान्तरित प्रतिच्छाया को साहित्य का श्रेय निर्दिष्ट करती रहीं। प्लेखनाव ने सामाजिक अर्थनीति और राजनीतिक यथार्थ से घिरी हुई उत्पादक शक्तियों के साथ कला और साहित्य के विकास का कार्य-कारण सम्बन्ध, सीधा सम्बन्ध ही मान लिया। मार्क्सवादी साहित्य-दृष्टि के उदारतापरक विकास में यह एक दुर्घटना हो गई कि उसने कहा—**"जिस प्रकार सेब के वृक्ष से सेब ही उत्पन्न होगा और नाशपाती के वृक्ष से नाशपाती ही, उसी प्रकार मध्यवर्गीय दृष्टिकोण का कलाकार अनिवार्य रूप से श्रमिक आन्दोलन के विरुद्ध होगा।"**[2] ऐसी स्थिति में मार्क्सवादी चिन्तन का साम्यवादी उत्थान साहित्य-रचना की प्रतिपत्तियों के लिए बड़ा अहितकर हुआ है। आलोचना, उपन्यास, नाटक और कहानियों की एकरसतापूर्ण रचना तो बड़ी संख्या में हुई है, क्योंकि उनके सर्वेन्द्रिय-प्रभावों से सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर मार्क्सवाद की कसम खाकर ही, कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व के अनुसार अतीत, वर्तमान और भविष्य को एकांगी प्रतिच्छवि और व्याख्या आँकी जा सकती थी, प्रचारित की जा सकती थी; साथ ही अर्थनीति, संस्कृति और साम्यवादी नव-निर्माण के मनमाने तत्वों का नियोजन करके जनता पर इच्छित प्रभाव डाला जा सकता था; पर साम्यवादी देशों में काव्य-प्रेरणा बहुत कुछ कुण्ठित, नीरस और यान्त्रिक हो चली, फलतः मायकावस्की और पाब्लोनेरूदा के अतिरिक्त कोई महत्त्वपूर्ण कवि अपनी रचनाओं की व्याप्ति न पा सका; क्योंकि वर्ग-संघर्ष का प्रतिबिम्ब, मजदूर वर्ग की अभिन्न अभिव्यक्ति, साम्यवादी दल का निर्देश आदि श्रेय काव्य-रचना की प्रक्रिया के प्रतिकूल ही सिद्ध हुए। भले ही हॉवर्ड फास्ट-जैसे कम्युनिस्ट साहित्यकार एक ओर आश्वासन दें कि 'महान् कविताएँ महान् काव्य-गायकों को आमन्त्रित कर रही हैं और यह काल महानता का काल है'; किन्तु महान् लेखक होने के लिए जो शर्त एक फन्दे की तरह हॉवर्ड फास्ट ने रखी है, वह काव्य-रचना की महत् सम्भावनाओं के विरुद्ध है—"आजकल महान् लेखक बन सकने के लिए कम्युनिस्ट होना आवश्यक न हो, पर कम्युनिज्म के यथार्थ के समक्ष प्रस्तुत रहना आवश्यक है।........कभी पहले साहित्य-निर्माण के लिए ऐसी विषय-वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई थी।"[3] मार्क्सवाद की गौरव-भूमि रूस में ही साम्यवाद की ओर से साहित्य-निर्माण पर ऐसा उल्लंग निर्देश लादा जा रहा है—"सोवियत लेखक रचनात्मक कला द्वारा जनता को आधुनिक युग के सबसे प्रगतिशील विचारों की भावना—कम्युनिज्म की भावना में शिक्षित करने में सहायता करते हैं।" तथाकथित कम्युनिज्म में मार्क्सवादी समाजवाद से मानसिक श्रम करने वाले इन बौद्धिकों के लिए क्या

१. **'लिटरेचर ऑफ द ग्रेव यार्ड', पृ० ६४।**
२. **प्लेखनाव : 'कला और सामाजिक जीवन'।**
३. **'लिटरेचर एण्ड रियलिटी' : हॉवर्ड फास्ट।**

अन्तर लाना अभीष्ट है—"समाजवाद में मानसिक और शारीरिक श्रम में एक बुनियादी अन्तर बाकी रहता ही है, क्योंकि मजदूरों और किसानों का सांस्कृतिक और कौशल-सम्बन्धी स्तर काफी ऊँचा नहीं हो पाता। कम्युनिज़्म में यह अन्तर मिट जायगा, क्योंकि सभी लोगों का सांस्कृतिक और कौशल-सम्बन्धी स्तर इंजीनियरों और टेक्नीशियनों के स्तर तक पहुँच जायगा।"[1] कमिस्सारों के ऐसे नियन्त्रण का समर्थन चीन के नये साहित्यकारों की दशा से भी होता है, जहाँ मार्क्सवाद और साम्यवाद की नींव पर काव्य-साहित्य की रचना का गौरव-प्रासाद उठाया जा रहा है। 'द पीपुल्स न्यू लिटरेचर' की भूमिका में एमीसिओ ने लिखा है—**"चीन में सभी जनतन्त्रवादी और प्रगतिवादी लेखक तथा कलाकार अब भरसक प्रयत्न कर रहे हैं कि वे नई, महान्, बहादुर और उद्योगी चीनी जनता का चित्रण सही-सही करें। सारे राष्ट्र के साथ वे प्रखरता से, चेयरमैन माओ के द्वारा निर्दिष्ट दिशा में कार्य-निरत हैं।"**

इस परिस्थिति में कोई साहित्यकार मार्क्सवाद की काव्य-विषयक प्रतिपत्तियों की खोज करे, तो उसे प्रतिपत्तियों के 'पतत्प्रकर्ष' या पूर्वापर अवमूल्यन के ही प्रमाण मिलेंगे और सम्प्रति मार्क्सवाद की उस उदार और मौलिक मान्यता पर विश्वास न होगा, जो मार्क्स ने सांस्कृतिक विकास के सातत्य में पाई थी—"श्रेणी-विभक्त समाज का खंडित और विकृत सांस्कृतिक प्रगति के भीतर भी शाश्वत मानवता की प्रगति का उद्योग निश्चित रहा है और इस मानवता के आधार पर ही संस्कृतियों का मूल्यांकन करना योग्य है।"[2] फिर मार्क्सवादी चिन्तक और नेता ट्राट्स्की की भी घोषणा का कोई चिह्न शेष नहीं दीखता, जिसमें उसने आग्रह किया था—**"कला का क्षेत्र वह नहीं है, जिसमें पार्टी को आज्ञा देने की जरूरत पड़े। कला की सुरक्षा और सहायता पार्टी का काम है, किन्तु नेतृत्व केवल अव्यक्त रूप से हो सकता है।"**[3] या—**"वह नवीन समाजवादी कला कॉमेडी को जीवित करेगी, क्योंकि भविष्य का मानव हँसना चाहेगा। वह उपन्यास को नवजीवन प्रदान करेगी। वह गीतों को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान करेगी, क्योंकि नवीन मनुष्य प्राचीन लोगों से श्रेष्ठतर और प्रबलतर ढंग से प्रेम करेगा, वह जीवन और मरण के प्रश्नों पर विचार करेगा।"**[4] ये धारणाएँ अस्त हो चुकी हैं और मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन, जिसमें शेक्सपीयर को निरपेक्ष महान् मानव-शिल्पी, गेटे को धर्म-निरपेक्ष मानवतावादी, दान्ते को विराट् और व्यापक महाकवि, और शेली को क्रान्तिकारीम ानकर अभिनन्दित किया गया; वही खर्व होकर अपनी वैषयिक प्रतिपत्तियाँ साम्यवादी अतिवाद में खो चुका है और अपने दाय के रूप में कुछ शैली-सम्बन्धी सामान्य धारणाएँ उसे सौंप गया है, जिन पर विचार करने में समय नष्ट करना साम्यवादी साहित्यकारों ने कभी सीखा नहीं। फिर भी कथनीय है कि वे धारणाएँ मुख्य रूप से ये हैं—**"स्वीकृत अभिव्यक्तियों के प्रयोग का अर्थ है, बुरी परिस्थिति**

---

१. जी० एफीभाव : सो० सं० के बारे में १०० सवाल और जवाब।
२. मार्क्स : 'लिटरेचर एण्ड आर्ट'।
३. ट्राट्स्की : 'साहित्य और विप्लव'।
४. वही।

को अच्छा चेहरा लगा देना।"[1] "अश्लीलता में न पड़ना, अविकसित पाठक के स्तर तक न उतरना, बल्कि उसके विकास-स्तर को धैर्य से ऊँचा उठाते रहना उचित है।"[2] ये धारणाएँ मार्क्सवादी, प्रगतिवादी और साम्यवादी कविता की शैली कहाँ तक निर्मित कर सकी हैं—विवादास्पद है, क्योंकि प्रत्यक्षतः अधिक कविताएँ इनके विरुद्ध घिसी-पिटी, एकरस शैली और प्रचारवादी निम्न स्तर का प्रदर्शन करती रही हैं।

समष्टि रूप से कहा जा सकता है कि समग्रात्मक मानव-संस्कृति के निर्माण की इस सदी के उत्तरार्द्ध तक मार्क्सवादी काव्य-रचना ने अपनी सार्थकता खो दी है और वह विषय तथा शैली की संकीर्ण और छिछली सीमाओं में श्रीहीन हो चुकी है। अस्तु!

●

गंगाधर झा

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और काव्य

अपने क्षेत्र में नई उपलब्धियों के साथ आधुनिक मनोविज्ञान ने उनका प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी किया है। समाज-शास्त्र, संस्कृति, धर्म, दर्शन, नीति—सर्वत्र अन्य दृष्टिकोणों के साथ एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी आज उपस्थित मिलता है। साहित्य के प्रति तो उसका आकर्षण कुछ विशेष ही रहा है। इस आकर्षण में जितना स्थान मनोवैज्ञानिकों की रुचि और सुविधा का है, उतना ही नव्यतम ज्ञान का उपयोग करने के प्रति आधुनिक लेखक की रुझान का भी है। साहित्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान की चर्चा यद्यपि स्वाभाविक हो गई है, किन्तु साहित्यिकारों ने उसके समक्ष पूर्ण समर्पण नहीं किया है। उसकी स्वीकृति में जितनी दूर जाना सम्भव है, वहाँ तक वे निस्संकोच गए हैं, किन्तु उसके साथ कलाकार की कलाकारिता और उसके विशिष्ट दायित्व का ध्वज भी उन्होंने ऊँचा रखा है। समस्त विश्व में जहाँ-जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान गया है, वहाँ उसने साहित्य की रूपरेखा एकदम बदल दी है, किन्तु इस प्रकार बदले हुए साहित्य का रचयिता, स्रष्टा के पद से अच्युत है। वह कहीं मनोविज्ञानवेत्ता की परछाईं बनकर नहीं रह गया है। ऐसे लेखकों और उनके साहित्य में प्राप्त दृष्टिकोण यद्यपि मनोवैज्ञानिक है, तथापि वह साहित्यकों के चिन्तन का प्रतिफल है। इसके विपरीत विपुल परिमाण में ऐसी सामग्री भी प्राप्त है, जिसे हम साहित्य के विषय में मनोवैज्ञानिकों का चिन्तन कह सकते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में इस द्वितीय का ही परिचय देने का प्रयास किया जायगा।

आधुनिक युग में मनोविज्ञान के प्रमुख चार सम्प्रदाय हैं, जिनके सम्मिलित अध्ययन के बिना आधुनिक मनोविज्ञान की पूर्ण रूपरेखा नहीं बनती। ये सम्प्रदाय क्रमशः मनोविश्लेषण (Psychoanalysis), प्रयोजनवाद (Hormic psychology), व्यवहारवाद

---

१. मार्क्स : 'ऑन स्टाइल'।

२. लेनिन : सोवियत लिट० ३, १९४९।

(Behaviourism), और आकृतिवाद (Gestalt psychology) हैं। जहाँ तक व्यापक रूप से साहित्य और उसके अध्ययन पर प्रभाव का प्रश्न है, मनोविज्ञान के इन चारों सम्प्रदायों ने अपना-अपना कार्य किया है, किन्तु साहित्य के सभी विभागों में मनोविश्लेषण की क्रियाशीलता अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। उसका उपयोग साहित्य-सृष्टि में भी किया गया है और साहित्य की समीक्षा में भी। साहित्य एवं कला के सम्बन्ध में मनोविश्लेषण की मूल प्रतिपत्तियाँ फ्रॉयड से आरम्भ होती हैं, किन्तु उनके बहुसंख्यक अनुयायियों के द्वारा भी यह कार्य बहुत आगे बढ़ाया गया है। फ्रॉयड ने कला की मूल प्रकृति के विषय में पर्याप्त लिखा है तथा अपनी प्रतिपत्तियों का प्रयोग करते हुए उन्होंने अनेक कृतियों और कृतिकारों की व्याख्या भी प्रस्तुत की है। इस प्रकार के स्वतन्त्र लेखों के अतिरिक्त साहित्य और कला के विषय में अनेक ध्यान देने योग्य वक्तव्य फ्रॉयड की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। इस संक्षिप्त उपस्थापन में हम उन सभी पर ध्यान रखेंगे। फ्रॉयड के अतिरिक्त कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों के कला विषयक विचारों को भी यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमें ऑटोरान्क, हॉन्स-ज़ाक्स, डा० ए० ए० ब्रिल, एडमंड बर्गलर और ओबेर्न डार्फ उनके प्रमुख अनुयायी हैं। इनके अतिरिक्त एडलर और युंग की विरोधी स्थापनाओं को भी इस निबन्ध में सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया है। अत्यधिक विस्तार से बचने और एक अपेक्षातर स्पष्ट स्वरूप उपस्थित करने के लिए इस निबन्ध की रूपरेखा को यथा सम्भव उल्लिखित मनोवैज्ञानिकों के प्रदेय तक ही सीमित रखने का प्रयास किया गया है।

एडमंड बर्गलर ने लेखक और कृतियों में मनोविश्लेषण की अभिरुचि के प्रमुख दो कारण बताए हैं। प्रथम कारण इस विषय में स्वयं मनोविश्लेषण के प्रतिष्ठाता की वैयक्तिक अभिरुचि है। साहित्य में फ्रायड का स्वाभाविक अनुराग था। और उनका नया-विज्ञान उसके विषय में जो आलोक दे सकता था, उसकी दृष्टि से यह अनुराग सविशेष था। दूसरा कारण मनोविश्लेषण द्वारा उन प्रहारों के विरुद्ध आत्म-रक्षा के प्रयत्न में सन्निहित है, जो तथा कथित 'व्यवहारकुशल' लोगों द्वारा उस पर किये गए थे। इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण ने अनेक युक्तियों का सहारा लिया। उदाहरण के लिए उसने यह प्रदर्शित किया कि जो तथ्य मनोविश्लेषण के द्वारा अन्वेषित और प्रयोगसिद्ध हैं, वे महान् लेखकों को हैं। अन्तः प्रज्ञा के द्वारा पहले ही ज्ञात थे। अतएव लेखकों के अन्तर्जात ज्ञान को मनोविश्लेषण के एक समर्थक तर्क के रूप में उपस्थित किया गया।

कई बार कहा गया है कि अपनी सृजन-शक्ति के रहस्य को स्वयं कलाकार नहीं जानता। मनोविश्लेषण की भाषा में इसका अर्थ यह हुआ, कि सृजन-प्रक्रिया अचेतन मन का व्यापार है, चेतन मन का नहीं। मनोविश्लेषण का दावा है कि मनुष्य के समस्त कार्य-कलापों के पीछे अचेतन प्रेरणाएँ विद्यमान रहती हैं। अतएव आवश्यक यह है कि कला सृष्टि का अध्ययन अचेतन की एक विशेष प्रक्रिया के रूप में किया जाय। स्वप्न, दिवा-स्वप्न इत्यादि मनोरथ-सृष्टियाँ इस विशेष प्रक्रिया का संकेत देती हैं। ये निर्माण मनोमय हैं और इस नाते काव्य-कल्पना भी उन्हींकी श्रेणी में आती है। इस साम्य एवं उसमें सन्निहित सम्भावना को ही फ्रॉयड ने साहित्य और कला के अध्ययन का आधार बनाया है। इस

विषय में उनकी मुख्य प्रेरणा और सुविधा उनकी स्वप्न-सम्बन्धी व्याख्या से इस क्षेत्र में अपने द्वारा उद्घाटित तथ्यों से उन्हें एक नवीन बल प्राप्त हुआ। स्वप्न का आविर्भाव अत्यन्त स्वाभाविक रूप से सभी मनुष्यों में होता है और वे केवल रुग्ण मानस की उपज नहीं है। इसलिए फ्रॉयड ने निर्णय किया कि मनोविश्लेषण की खोजों का सम्बन्ध केवल रुग्ण-मानस से न होकर मानस की सामान्य प्रकृति से है तथा मनोविश्लेषण का महत्त्व और उपयोगिता केवल उपचार से सम्बद्ध न होकर वह विशुद्ध रूप से मनोविज्ञान है। इस निर्णय के पश्चात् उनके लिए यह सरल हो गया कि अपनी विधियों का प्रयोग वे ऐसी मानस-प्रक्रियाओं के अध्ययन में भी करेंगे, जो साधारण और स्वाभाविक समझी जाती हैं। फ्रॉयड के स्वप्न-सिद्धान्त का प्रकाशन प्रथम बार जर्मन भाषा में सन् १८९९ में हुआ। **'कवि का दिवा-स्वप्न के साथ सम्बन्ध'** शीर्षक देकर एक निबंध उन्होंने सन् १९०८ में प्रकाशित किया। इसमें उनकी मुख्य प्रतिपत्ति यह है कि कलाकार अपनी कृतियों में अपनी अचेतन मनःसृष्टियों और दिवा-स्वप्नों की अभिव्यक्ति करता है। इसके तत्त्वों का कुछ विस्तारपूर्वक निरूपण आवश्यक है।

फ्रॉयड यह आशा करते हैं कि यदि कोई ऐसी मानस-प्रक्रिया खोजी जा सके, जो एक साथ मनुष्यों में सामान्य रूप से प्राप्त होती है और जो काव्य-कल्पना की सजातीय भी है, तो उसके द्वारा सृजन-शक्ति के रहस्य को समझा जा सकता है। तुरन्त वे निश्चित कर लेते हैं कि ऐसी प्रक्रिया की खोज हमें बालक में करनी चाहिए। उनके मनोविज्ञान में शैशव-कालीन विकास के विशेष महत्त्व को देखते हुए यह निर्णय अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होता है। खेलते हुए बच्चों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए वे कहते हैं कि **"खेलता हुआ बालक ठीक कल्पना लेखक की भाँति व्यवहार करता है।......वह एक अपना जगत् बनाता है या 'अधिक सत्य रूप में' अपने जगत् की वस्तुओं को पुनः व्यवस्थित करता है। और उनकी ऐसी अभिनव सज्जा करता है जो उसे अधिक आनंद प्रदान करे......अपने खेल को वह बहुत गम्भीर रूप में लेता है और बहुत-सी भावना उसमें व्यय करता है।......यथार्थ और अपने क्रीड़ा-जगत् में वह पूर्ण प्रभेद करता है......।"** फ्रॉयड के अनुसार कवि भी ठीक यही करता है: **"वह भी एक मनः सृष्टि करता है और उसे बहुत गंभीरता पूर्वक स्वीकार करता है, अर्थात् तीव्र रूप से उसे यथार्थ से वियुक्त करते हुए वह बहुत-सी भावना उसमें संजो देता है।"**

बालकों के लिए क्रीड़ा का जो महत्त्व है वही विकसित और प्रौढ़ मनुष्यों के लिए दिवा-स्वप्न का है। **"मनुष्य वास्तव में कभी कुछ नहीं त्याग सकता; वह केवल एक वस्तु से अन्य का विनिमय कर सकता है।"** इस नियम के अनुसार बड़ा होने पर मनुष्य **"मनः-सृष्टि करने लगता है। वह हवाई किले बनाता है और दिवा-स्वप्नों की सृष्टि करता है।"** किन्तु बाल-क्रीड़ा और दिवा-स्वप्न में महत्त्वपूर्ण अन्तर भी है। क्रीड़ा-रत बालक अपनी कल्पना की वस्तुएँ और स्थितियाँ यथार्थ जगत् की स्पृश्य और दृश्य वस्तुओं से लेता है। यथार्थ की वस्तुओं के साथ जो यह सम्बन्ध खेल में बना रहता है, वह दिवा-स्वप्न में नहीं रहता। इसके अतिरिक्त बच्चे खुले आम खेलते हैं, अपना खेल वे किसी से छिपाते नहीं। किन्तु प्रौढ़ मनुष्य अपने दिवा-स्वप्नों को लज्जाजनक समझता है और दूसरों से उन्हें

छिपाता है। इस भिन्नता के दो कारण हैं। प्रथम सामाजिक है; अर्थात् समाज में बच्चों का खेलना स्वाभाविक समझा जाता है। किन्तु जो बढ़ गए हैं उनसे यह आशा की जाती है कि वे संसार में अपना जीवन सफल करें। द्वितीय कारण स्वयं खेल और दिवा-स्वप्न की अन्तरंग प्रकृति से उत्पन्न है एवं वह अधिक गहरे रूप में सामाजिक है। खेल और दिवा-स्वप्न दोनों इच्छा-प्रेरित प्रक्रियाएँ हैं। बालक की एक-मात्र इच्छा यह होती है कि वह बढ़ जाय। स्पष्ट ही छिपाने की उसे कोई आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत दिवा-स्वप्नों की उत्पत्ति कुछ ऐसी इच्छाओं से होती है कि उन्हें सम्पूर्णतः गोपन रखना आवश्यक हो जाता है।

दिवा-स्वप्न के कतिपय लक्षणों का निर्देश करते हुए फ्रायड कहते हैं : "...... सुखी मनुष्य **मनःसृष्टि नहीं करते; ऐसा केवल अतृप्त करते हैं। अतृप्त इच्छाएं मनःसृष्टियों की पृष्ठवर्ती प्रेरक शक्ति हैं। प्रत्येक मनःसृष्टि में किसी इच्छा की तुष्टि सन्निहित रहती है और वह असंतोषजनक यथार्थ पर उन्नति करती है। प्रवर्त्तक इच्छाओं में सृष्टा के यौन-भेद, चरित्र और परिस्थितियों के अनुसार विविधता रहती, किन्तु फिर भी उन्हें सरलता पूर्वक दो प्रधान वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। वे या तो महत्वाकांक्षा से सम्बद्ध इच्छाएँ होती हैं, जिनका प्रयोजन उनके सृष्टा को ऊँचा उठाना होता है अथवा वे कामज होती हैं।**" मनःसृष्टियाँ जब अत्यधिक प्रबल हो जाती हैं तब मनोव्याधियों की उद्भव-भूमि निर्मित हो जाती है। स्वप्न दिवा-स्वप्न के समान ही होते हैं। अन्तर यह है कि उसमें वे गहरी असामाजिक कुण्ठाएँ भी सक्रिय होती हैं जो दिवा-स्वप्न में प्रत्यक्ष नहीं हो पातीं।

फ्रायड पूछते हैं कि "**क्या कवियों की तुलना हम दिन के उज्ज्वल प्रकाश में सपनाने वाले तथा उसकी कृतियों की तुलना दिवास्वप्नों से करने का साहस कर सकते हैं?**" उत्तर में उदाहरणस्वरूप वे ऐसे प्रेमाख्यान और उपन्यास आदि लेते हैं जो पूर्णतया कपोल-कल्पित, सामान्य कोटि के और अधिक-से-अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़े जाने वाले होते हैं। उनमें सबसे विलक्षण बात यह होती है कि......"सबमें एक नायक (Hero) रहता है; जो रुचि का केन्द्र होता है उसके प्रति हमारी सहानुभूति जीतने के लिए लेखक सब प्रकार की युक्तियाँ काम में लाता है। और उसे एक विशेष दैवी शक्ति का संरक्षण प्रदान करता है। फ्रायड के अनुसार यह नायक लेखक के 'इगो' के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं। निरन्तर संकट में पड़ते हुए नायक का सदा उनसे बचते जाना इसका प्रथम प्रमाण है। दूसरा प्रमाण यह है कि बहुत-सी कृतियों में सभी स्त्रियाँ नायक से प्रेम करती पाई जाती हैं, जिसे यथार्थ चित्रण नहीं केवल दिवा-स्वप्न का एक मूल तत्त्व कहा जा सकता है। इगो की यह केन्द्रीय स्थिति तथाकथित मनोवैज्ञानिक उपन्यासों और ऐसी कृतियों में भी सिद्ध की जा सकती है जिनमें नायक आदि से अन्त तक निष्क्रिय रहकर केवल 'दर्शक' बना रहा है। जो कृतियाँ दिवा-स्वप्न से बहुत दूर चली गई हैं, उन पर भी यही लागू होता है। जो कलाकार अपनी कृतियों की वस्तु स्वयं कल्पित न करके बनी बनाई वस्तु का उपयोग करता है, वह कम-से-कम उसके चुनाव और पुनर्निर्माण में एक सीमा तक स्वच्छन्दता बरतता है। इसके अतिरिक्त वह बनी-बनाई वस्तु बहुधा पौराणिक कथाओं और अनुश्रुतियों तथा परियों की कहानियों के रूप में होती है। फ्रायड इसे अत्यन्त संभव मानते हैं कि ये कहानियाँ सम्पूर्ण राष्ट्रों की इच्छा-सृष्टियों

के विकृत अवशेष—बाल्य मानवता के अतीत से चले आने वाले स्वप्न—हैं। संक्षेप में, कृति कैसी भी क्यों न हो, उसके केन्द्र में सदा कृतिकार के इगो की अवस्थिति रहती है और उसमें वह अपनी इच्छा-सृष्टियों की अभिव्यंजना करता है। दूसरे शब्दों में कृतियों में उनके स्रष्टा की आत्म-कथा रहती है।

दिवा-स्वप्न से उपर्युक्त साम्य के साथ कलाकृतियाँ उनसे भिन्न भी होती हैं। दिवा-स्वप्न को उसका द्रष्टा लज्जाजनक समझता है और दूसरों से उसे छिपाता है। यदि वह उसे प्रकाशित भी कर दे तो सुनने वालों को उससे कोई आनन्द प्राप्त न होगा। उन्हें वह बीभत्स और विकर्षक लगेगा। किन्तु कलाकार अपने दिवा-स्वप्नों को अभिव्यक्त कर लेता है और अन्य बड़े चाव से उसकी कृतियों का आस्वादन करते हैं। जो वस्तु अत्यन्त लज्जाजनक और असामाजिक थीं, कलाकार उसे उतनी ही गौरवमय और सामाजिक बना देता है। इस विस्मयकारी रूपान्तर का स्पष्टीकरण ही कला के रहस्य की कुञ्जी है। इस विषय में फ्रायड का सुझाव निम्नलिखित है :

"कलाकार कैसे यह सम्पन्न करता है यह उसका अन्ततम रहस्य है। काव्य-कला का मूल सत्त्व उस विधि में सन्निहित है जिसके द्वारा हमारे विकर्षण-भाव पर विजय प्राप्त की जाती है। उसका सम्बन्ध निश्चय ही व्यक्ति और अन्यान्य के बीच में उठाये गए व्यवधानों से है। इस विधि में प्रयुक्त होने वाली दो युक्तियों का अनुमान हम लगा सकते हैं। लेखक परिवर्तनों और छद्म वेशों के द्वारा दिवा-स्वप्न की अहंमूलक प्रकृति को कोमल बना देता है और अपनी सृष्टियों को प्रस्तुत करते हुए वह विशुद्ध रूपगत अर्थात् सौन्दर्यगत आनन्द प्रदान करके हमें उत्कोच देता है। यह अतिरिक्त आनन्द, जो मन के गहनतर स्रोतों से प्रवाहित होने वाले अधिक गहरे आनन्द का द्वार खोलने के लिए हमें प्रदान किया जाता है, पारिभाषिक रूप में 'उत्तेजक अग्रदान' (Incitement premium) या 'पूर्वानन्द' (Fore pleasure) कहलाता है। मेरा यह मत है कि कल्पनाशील लेखकों की कृतियों से प्राप्त होने वाला समस्त सौन्दर्य-जनित आनन्द इस पूर्वानन्द की ही जाति का होता है, और साहित्य का वास्तविक आनन्द का उद्रेक मानसिक खिचावों की उन्मुक्ति से होता है। जिस प्रक्रिया द्वारा यह सम्पन्न होता है वह मुख्यतः इसमें सन्निहित है कि लेखक एक ऐसी स्थिति में हमें पहुँचा देता है जिसमें निंदित या लज्जित हुए बिना हम अपने दिवा-स्वप्नों का आनन्द भोग सकते हैं।"

उपर्युक्त तथ्य एक साहित्य-सिद्धान्त की रूपरेखा उपस्थित कर देते हैं। सृजन पक्ष में हम पाते हैं कि सृष्टि स्वतः प्रवर्त्तित होती है और दिवा-स्वप्न में सम्पन्न होती है। दिवा-स्वप्न का प्रारम्भिक हेतु, उसकी मूल अन्तःप्रेरणा और उसका लक्ष्य क्रमशः कोई प्रबल वर्तमान अनुभव, कोई अचेतन बाल्य-स्मृति और किसी अचेतन इच्छा की काल्पनिक परितृप्ति है। ये इच्छाएँ प्रधानतः कामज और महत्त्वाकांक्षाजन्य होती हैं। दिवा-स्वप्न का प्रवर्त्तन बाह्य यथार्थ से सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति में होता है। अभिव्यंजना और भाव-विनियोग ये दोनों व्यापार 'रूप' के द्वारा सम्पन्न होते हैं। रूप-सृष्टि की योग्यता ही कलाकार की विशिष्ट शक्ति है, और वही वास्तविक काव्य-कला है। रूप ही यह सम्भव बनाता है कि कवि अपने सामान्यतः लज्जाजनक दिवा-स्वप्नों का अप्रतिहत प्रकाशन कर सके

और उनसे विकर्षित होने के बदले अन्य व्यक्ति उनके प्रति आकृष्ट हों। काव्य का आस्वाद आनन्दमय होता है। रूपगत आनन्द विशुद्ध सौन्दर्यगत आनन्द है। इसका मूल प्रयोजन कृति से निसृत होने वाले एक अधिक गहरे आनन्द का द्वार खोल देता है। वस्तुगत आनन्द ही यह गहरा आनन्द है, जो दिवा-स्वप्नों से निसृत होता है। रूप ही काव्यगत सौन्दर्य है और मानसिक खिंचावों का उन्मोचन कला का मूल्य है। यह कार्य काल्पनिक इच्छा-तृप्ति के द्वारा सम्पन्न होता है।

इस विवरण में दिवा-स्वप्नों की केन्द्रीय स्थिति यह संकेत देती है कि अधिक गहराई में जाने के लिए उस पर और ध्यान देना आवश्यक है। दिवा-स्वप्न भी अन्तःवर्ती आकांक्षाओं से प्रेरित होते हैं। उनके परिचय की समस्या वास्तव में कलाकार के व्यक्तित्व की समस्या है। व्यक्तित्व के अध्ययन में फ्रायड ने बाल-विकास को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। फ्रायड कहते भी हैं कि **"विश्लेषण ने प्रदर्शित कर दिया है कि व्याधिग्रस्त मनुष्य के साथ स्वप्न-द्रष्टा और कलाकार में भी किस प्रकार बालक की सत्ता बनी रहती है।"** इस विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण ईडिपस ग्रंथि है। माता से प्रेम और पितृ-घात की आकांक्षा इस ग्रन्थि के दो मूल तत्त्व हैं, किन्तु मानस की जटिल कार्य-व्यवस्था के कारण उनकी क्रियाशीलता विविध रूप धारण करती है: **"इडिपस ग्रन्थि के समस्त रूप-वैचित्र्य और परिणाम महत्त्वपूर्ण होते हैं; और मनुष्य की मूलभूत उभय यौन-वृत्ति (Bisexuality) अपने प्रभाव से क्रियाशील होने वाली प्रवृत्तियों की संख्या बढ़ा देती है।"** बाल्य-काल में ही जननेन्द्रियोच्छेद के आतंक से ईडिपस ग्रंथि की दोनों मूल इच्छाएँ दमित होकर अचेतन में आश्रय ग्रहण करती हैं। बालक में पुरुष-वृत्ति निर्बल और नारी-वृत्ति प्रबल होने लगती है। माँ का स्थान ग्रहण करके वह पिता का प्रेम जीतना चाहता है। उभय यौन-वृत्ति की प्रबलता से इस चेष्टा को अतिरिक्त शक्ति मिलती है। किन्तु इस आकांक्षा की पूर्ति जननेन्द्रिय-नाश के बिना संभव नहीं है, और इसे बालक कभी स्वीकार नहीं कर सकता; अतएव यह इच्छा भी दमित होती है।

पिता के आतंक से बालक उससे घृणा नहीं कर सकता। उसे आदर्श मानकर वह उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है। फलतः सुपर इगो की उत्पत्ति होती है। वह पैतृक शासन का आंतरिक प्रतिनिधि बनकर इगो पर कठिन नियन्त्रण रखता है। इडिपस की दमित वृत्तियाँ किशोरावस्था के उद्रेक के समय अतिरिक्त शक्ति पाकर पुनः जाग उठती हैं। पिता के प्रति वैर भाव उभरता है और दण्ड स्वरूप इगो सुपर इगो द्वारा प्रताड़ित होता है। पिता को हानि पहुँचाने में अक्षम होने के कारण वैर-वृत्ति अन्तर्मुख होकर स्वयं इगो की ओर हो जाती है और पाप-ग्रन्थि (Guilt complex) को जन्म देती है। इस प्रकार इगो और सुपर इगो में वही सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो पुत्र और पिता में था। सुपर इगो की मूल वृत्ति परपीड़न-रति होती है: वह इगो को प्रताड़ित करके सुख-लाभ करता है। इगो निष्क्रिय नारी-वृत्ति को अपनाकर स्वपीड़न-रति का पथ ग्रहण करता है: उसे सुपर इगो द्वारा उत्पीड़ित और दण्डित होने में सुख मिलता है। दण्डित होकर इगो अपनी पाप-भावना का प्रायश्चित्त करता है। ईडिपस ग्रन्थि के जटिल और विशाल क्षेत्र का यह संक्षिप्त और स्थूल चित्र है। इसका महत्त्व केवल कलात्मक निर्माण में नहीं, किन्तु मनुष्य के समस्त

कार्य-कलाप में है। फ्रायड ने उसे मनुष्य की पाशविक विरासत कहा है, "**उसमें उन समस्त शक्तियों का समावेश है जो व्यक्ति के परवर्ती सांस्कृतिक विकास के लिए अनिवार्य है। किन्तु पहले यह आवश्यक है कि उनका चयन और परिष्कार किया जाय। अतीत का यह उत्तराधिकारी जिस रूप में व्यक्ति को प्राप्त होता है उसी रूप में सभ्य और सामाजिक जीवन के प्रयोजनों के लिए उपयोग योग्य नहीं।**" अतएव फ्रायड जब यह कहते हैं कि अपनी कृतियों में कलाकार ईडिपस ग्रन्थि से संबद्ध अपनी कुण्ठाओं की तृप्ति करता है तब उसे इस गम्भीर भूमिका में समझना चाहिए। कलाकार में ईडिपस ग्रंथि खोज निकालने से ही किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उसका अस्तित्व सभ्य मनुष्यों में है। कलाकार इस अतीत पाशविक विरासत के विरुद्ध कैसी प्रतिक्रिया करता है, महत्त्व की बात यह है। मूल प्रश्न यह है कि अपनी बर्बर और वैयक्तिक इच्छाओं को सभ्य और सामाजिक स्वरूप देने में कलाकार समर्थ कैसे होता है, इसकी व्याख्या फ्रायड ने उदात्तीकरण की प्रतिक्रिया के द्वारा की है।

कला में ईडिपस ग्रंथि का महत्त्व दिखलाते हुए फ्रायड ने तीन युगों की तीन प्रसिद्ध कृतियों का दृष्टांत लिया है। वे कहते हैं : "**समस्त काल की तीन महान् साहित्यिक कृतियाँ —सोफोक्लीज रचित 'ईडिपस रेक्स', शेक्सपीयर-रचित 'हेमलेट' और दास्तोएव्स्की-रचित 'द ब्रदर्स कॉरामॉजोव' सभी—एक ही विषय अर्थात् पितृ-घात को अपना विषय बनाकर चलती है, इसे केवल संयोग की बात मान लेना अत्यन्त कठिन है। यही नहीं इन तीनों में इस कर्म की आन्तरिक प्रेरणा को अर्थात् एक स्त्री के लिए काममूलक प्रतिद्वन्द्विता को निरावरण किया गया है।**" अधिक प्रकाश के लिए हम यहाँ संक्षेप में 'ईडिपस रेक्स' और 'हेमलेट' की फ्रायड-कृत व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

'ईडिपस रेक्स' में ईडिपस अभिशापवश अपने पिता का वध करके अपनी माँ से विवाह कर लेता है। दोनों कार्य उससे अनजाने में होते हैं। अपराध का ज्ञान होते ही उसकी गुरुता से शोकाहत होकर वह अपनी आँखें फोड़कर स्वयं को दण्डित करता है। फ्रायड के अनुसार नायक द्वारा पिता की हत्या और माँ से विवाह करने में ईडिपस ग्रन्थि की दोनों मूल आकांक्षाएँ तृप्त होती हैं। नायक अपनी इन आकांक्षाओं से अनभिज्ञ है, क्योंकि वे अचेतन हैं। अवश्यंभावी नियति का रूप देकर कलाकार ने अचेतन इच्छाओं का यथार्थ में प्रक्षेप किया है। इस कार्य के द्वारा वह इन भयानक इच्छाओं को सुन्दर और कलात्मक छद्म वेश देने में समर्थ होता है। नियति की दुर्निवारता इन इच्छाओं की दुर्निवारता है : "**अपने अपराध का ज्ञान होने पर स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए नायक यह नहीं कहता कि वह नियति के वशीभूत था। उसका अपराध उसी प्रकार स्वीकृत और दण्डित होता है मानो वह पूर्णतया सचेतन रहा हो। तर्क-बुद्धि से अवश्य यह हमें अन्यायपूर्ण प्रतीत होगा, किन्तु मनोवैज्ञानिक नियम के पूर्णतया अनुकूल है।........स्वप्न साक्ष्य के अनुसार आँखें फोड़ना जननेन्द्रियोच्छेद का प्रतीकात्मक स्थानापन्न है।**" इस प्रकार इस नाटक में मूल इच्छाएँ, उनकी तृप्ति, तृप्ति से उत्पन्न पापानुभूति और अन्तिम दण्ड-विधान इडियस ग्रंथि की व्याप्ति प्रदर्शित करते हैं।

हेमलेट का कार्य अपने उस चाचा से प्रतिशोध लेना है; जिसने उसके पिता का वध

और उसकी माँ से विवाह कर लिया है। किन्तु एक विचित्र द्विविधा से ग्रस्त होकर वह अन्त तक प्रतिशोध नहीं ले पाता। इस द्विविधा की व्याख्या फ्रायड ने इस प्रकार की है : "हेमलेट और सब कर सकता है, बस उस व्यक्ति से प्रतिशोध नहीं ले सकता जिसने उसके पिता का अन्त करके उसकी माँ के साथ इस मृत-पिता का स्थान ग्रहण कर लिया है जिसने खुद उसकी बाल्यकालीन दमित इच्छाओं की पूर्ति कर दी है। घृणा की जो प्रेरणा उससे प्रतिहिंसा कराती वह इस प्रकार आत्म-भर्त्सना, अन्तःकरण-जात द्विधा के द्वारा स्थानापन्न हो जाती है। उसका अन्तर्मन कहता है कि उस हत्यारे से वह स्वयं किसी प्रकार अच्छा नहीं जिसे दण्ड देने का भार उसे मिला है। नायक में जो बात अचेतन ही रह सकती थी उसे मैंने चेतना में अनूदित कर दिया है; और यदि कोई हेमलेट को हिस्टीरिया-ग्रस्त कहना चाहे तो मुझे मानना होगा कि इस व्याख्या का निष्कर्ष यही होना चाहिए।"

साहित्य की वस्तु इस प्रकार इडिपस-ग्रन्थि के गतिक्षेत्र से प्राप्त होती है। तब क्या कलाकार की कृति न्यूराटिक मनःसृष्टियों के समान होती है? अपने अनुभवों का स्मरण करते हुए फ्रायड लिखते हैं : "यह स्पष्ट था कि जो रूप विभिन्न मनोव्याधियाँ धारण करती हैं उनमें हमारी चरम श्लाघनीय सांस्कृतिक सृष्टियों की प्रतिध्वनि मिलती थी। इस प्रकार हिस्टीरिया-पीड़ित व्यक्ति निस्संदेह कल्पनाशील कलाकार हैं, चाहे अपनी मनःसृष्टियों की अभिव्यंजना वे मूलतः अनुकृति द्वारा और उनको सामाजिक बोधगम्यता पर ध्यान दिये बिना ही करें, ग्रस्त-मन न्यूराटिकों के कर्मकाण्ड और निषेध हमें यह मानने के लिए प्रेरित करते हैं कि उन्होंने अपने में एक वैयक्तिक धर्म की सृष्टि कर ली है; और पेरानोइया के रोगियों की भ्रान्तियाँ हमारे दार्शनिकों की सिद्धान्त-व्यवस्थाओं के साथ बाह्य साम्य और आंतरिक बंधुत्व रखती हैं। इस निष्कर्ष पर न पहुँचना असंभव है कि एक असामाजिक रूप में ये रोगी भी अपने द्वन्द्वों के समाधान तथा प्रबल अन्तःवृत्तियों के प्रशासन के लिए ठीक वही प्रयत्न कर रहे हैं जो बहुमत द्वारा मान्य रूप में सम्पन्न होने पर कविता, धर्म और दर्शन के नाम से अभिहित होते हैं।"

अतएव समस्त कल्पना-निर्माणों की जन्मभूमि एक ही है और कला-सृष्टि इस नियम की अपवाद नहीं; व्याधि-ग्रस्त और कलाकार दोनों एक ही प्रकार की आन्तरिक परिस्थिति से उस पर विजय पाने के लिए संघर्ष करते हैं। भेद यह है कि एक विफल होता है और दूसरा सफल। व्याधिग्रस्त की मनःसृष्टियाँ व्यक्ति की सीमा को पार नहीं कर पातीं और कलाकार की सृष्टियाँ उस सीमा को पार करके सामाजिक बन जाती हैं। यह भेद ही एक व्यापार को असाधारण बना देता है और द्वितीय को साधारण। प्रथम स्थिति विक्षेप की है और द्वितीय उदात्तीकरण की। विक्षेप और अन्य मनोव्याधियों के मूल में व्यक्ति का यथार्थ से सम्बन्ध-विच्छेद सन्निहित है, उदात्तीकरण में यह सम्बन्ध बना रहता है। कलाकार अपनी कृतियों में यदि अपने दिवा-स्वप्न अभिव्यक्त करता है तो उस सीमा तक अनिवार्यतः उसका भी यथार्थ से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। वह असाधारण न बने इसके लिए आवश्यक है कि वह यथार्थ के साथ पुनः सम्बन्ध स्थापित करे। यदि वह यह कर लेता है तो इससे उसकी प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण की सूचना मिलती है : कलाकार मूलतः एक ऐसा व्यक्ति है जो प्रवृत्तिक तृप्ति की माँग से सहमत न हो सकने के कारण यथार्थ से मुँह मोड़

लेता है और फिर कल्पना-जगत् में वह अपनी काम और महत्त्व की आकांक्षाओं को खुलकर क्रीड़ा करने देता है। किन्तु वह इस कल्पना-लोक से यथार्थ में लौट आने का मार्ग ढूँढ़ लेता है। अपनी विशेष योग्यताओं के द्वारा अपनी मनःसृष्टियों को वह एक नये प्रकार के यथार्थ में रूपान्तरित कर देता है, जिन्हें मनुष्य वास्तविक जीवन पर किये गए बहुमूल्य चिन्तन के रूप में एक न्यायसिद्ध महत्त्व प्रदान करते हैं। इस प्रकार बाह्य जगत् में वास्तविक परिवर्तन के चक्करदार पथ का अनुसरण किये बिना ही कलाकार एक विशेष मार्ग से सचमुच नायक, राजा, सृष्टा या वह बनने में सफल हो जाता है जो उसका आकांक्षित आदर्श था।"

कला उदात्तीकरण के रूप में सभ्यता और संस्कृति के मूल्यों की एक प्रगतिशील उपलब्धि है। उदात्तीकरण से ही वह ऐकान्तिक से अखिल मानवीय और बर्बर से सांस्कृतिक में परिणत हो जाती है, अतएव यद्यपि कुण्ठाओं की काल्पनिक परितृप्ति कलाजन्य मुख्य आनन्द है तथापि उदात्तीकरण से यह संकेत भी मिलता है, कि यह तृप्ति मूल बर्बर रूप में न होकर उच्चतर विषयों और लक्ष्यों की सिद्धि से प्रवाहित होती है। उच्छृंखल दुर्दान्त लालसा की अबाध परितृप्ति से उत्पन्न आनन्द नियन्त्रित आकांक्षा की तुष्टि से प्राप्त होने वाले आनन्द की अपेक्षा अतुलनीय रूप से तीव्र होता है। कलाकृति से प्राप्त होने वाली तृप्ति इस द्वितीय कोटि की होती है, उससे संतोष तो मिलता है, पर मौलिक तृप्ति के समान नहीं : "उसका प्रभाव हमारे ऊपर केवल एक हल्के उन्मादक के समान पड़ता है और जीवन की कठोरताओं से बचने के लिए वह एक अस्थायी आश्रय से अधिक हमें कुछ नहीं दे सकती; उसके प्रभाव में इतनी शक्ति नहीं होती कि हम अपना वास्तविक दुःख-दैन्य भूल सकें।" फ्रायड यह भी कहते हैं कि : "चाहे उन्हें हम मानव-मन की चरम उपलब्धि के रूप में देखें या छलना कहकर उनका तिरस्कार करें, किन्तु यह मानना ही होगा कि जहाँ उनका अस्तित्व है और विशेषतः जहाँ वे ऊर्ध्वगतिक हैं वहाँ वे उच्च सभ्यता के उच्च धरातल का साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।"

फ्रॉयड की कला-सम्बन्धी धारणा का संक्षेप में यही रूप है। कला-कृति की रूप-रचना के विषय में स्वप्न की रूप-रचना से संकेत मिलता है। जिस प्रकार स्वप्न में मूलवस्तु छद्मवेश धारण करके उपस्थित होती है उसी प्रकार कृति का व्यक्त रूप एक छद्मवेश का वर्णन करता है। वास्तविक वस्तु अन्तर्निहित रहती है, उस तक पहुँचने के लिए विश्लेषण आवश्यक है। स्वप्न की दो विशेषताएँ—स्वच्छन्द संगतियाँ और प्रतीक-विधान कला-कृति में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, किन्तु समस्त के ऊपर सुनियोजित रूप का शासन विद्यमान रहता है। इस रूप के अन्दर मूल तत्त्व में बैठने के लिए प्रतीक-व्याख्या वैसी ही उपयोगी होती है, जैसी स्वप्न में। 'द मर्चेंएट आफ वेनिस' और 'किंग लीयर' की फ्रॉयड-कृत व्याख्या में प्रतीक व्याख्या का अच्छा उदाहरण मिलता है। 'मर्चेंएट आफ वेनिस' में एक मनुष्य तीन सम्पुटों में से एक का चुनाव करता है। फ्रायड कहते हैं कि यदि यही बात स्वप्न में भी होती तो हमें तुरन्त यह सूझता कि तीनों सम्पुट स्त्रियाँ भी हैं। छोटे-बड़े संदूकों और डालियों इत्यादि के समान ही स्त्रियों में मूलभूत वस्तु के, और इस प्रकार स्वयं स्त्री के प्रतीक हैं। तृतीय सम्पुट चुना जाता है अर्थात् तीन बहनों में से सबसे छोटी चुनी जाती

है। फ्रायड यहाँ तीन बहनों से सम्बद्ध पौराणिक कथाओं और किंवदन्तियों का उल्लेख करते हैं और बतलाते हैं कि तृतीय सरल स्वभाव की होती है, प्रेम करती है और चुप रहती है, अथवा स्वयं को इस प्रकार छिपा लेती है कि कोई खोजने पर भी उसे न पा सके। उनके अनुसार मूकता और आत्मगोपन में समीकरण किया जा सकता है और **"यदि हम तृतीय की विशेषताओं को मूकता में घनीभूत मानने का निर्णय कर लें तो मनोविश्लेषण को यह कहना है कि स्वप्नों में मूकता मृत्यु का एक सुपरिचित प्रतिरूप है।"** अतएव तृतीय कुमारी एक मृत नारी है। मृत्यु-गुण के स्थानान्तरण के द्वारा वह वास्तव में मृत्यु की देवी है। इस प्रकार तृतीय कन्या का चुनाव मृत्यु का वरण है।

मृत्यु कोई नहीं चाहता, फिर क्यों उसका अनिवार्य वरण होता है? इसे समझाने के लिए फ्रॉयड दो बातें प्रस्तुत करते हैं। प्रथम मनुष्य में मनःसृष्टि की शक्ति है, **"जिसके द्वारा वह उन इच्छाओं की तृप्ति करता है जो यथार्थ के द्वारा तृप्त होतीं।"** अपनी मनःसृष्टियों में वह मृत्यु की देवी के स्थान पर प्रेम की देवी को प्रतिष्ठित करता है। दूसरी बात का सम्बन्ध एक पुरानी उभय वृत्ति (Ambivalence) से है। एक समय मृत्यु की देवी और प्रेम की देवी में तादात्म्य था, वे एक थीं। इस मौलिक ऐक्य और तादात्म्य के कारण यह सम्भव है कि काल्पनिक परितृप्ति के लिए मनःसृष्टि में मौत की देवी का स्थान प्रेम की देवी ग्रहण कर ले। परिणामतः **"आवश्यकता और नियति के स्थान पर वरण प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार मनुष्य भाव रूप में स्वीकृत मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है। इच्छा-पूर्ति की इससे बढ़कर और किसी विजय की कल्पना नहीं की जा सकती। यथार्थ में जहाँ पर वह अनिवार्यतः अनुगमन करता है ठीक वहीं वरण की स्वतन्त्रता बरतता है, और जिसे वह चुनता है, वह भीषण वस्तु नहीं, प्रत्युत जीवन की सुन्दरतम और चरम इच्छित वस्तु है।"** प्रतीक व्याख्या के संक्षिप्त दृष्टांत के बाद हम कतिपय अन्य मनोवैज्ञानिकों के विचारों पर ध्यान देंगे।

आटोरान्क के विचार पूर्णतः फ्रॉयड के विचारों के अनुकूल हैं, वे कलाकार को स्वप्न-द्रष्टा और न्यूराटिक के मध्य में रखते हैं। वह दूसरों के द्वारा अपनी स्वीकृति चाहता है, क्योंकि इस प्रकार उसे अपने विश्वासों का समर्थन मिलता है और फलस्वरूप अपने भ्रम को दवा वह आप कर लेता है। वह असह्य यथार्थ से पलायन नहीं करता, **"प्रत्युत विश्व की जय-जयकार जीतने के उद्देश्य से उसकी ओर उन्मुख होता है।"** अपनी प्रबल आत्म-रति को कृतियों में स्थानान्तरित करके वह उनका अतिमूल्यन करता है, किसी बाह्य विषय से प्रेम करने की शक्ति का उसमें पूर्ण अभाव होता है। यही नहीं अपनी आन्तरिक बातों के प्रकाशन के द्वारा **"आत्मोद्घाटन की निर्लज्ज वृत्ति"** भी उसमें रहती है। अतएव कलाकार के तीन मूल गुण हैं—महत्त्वाकांक्षा, आत्म-रति और प्रदर्शन-काम।

कला का जन्म अचेतन मनःसृष्टियों से होता है और कलाकार के चेतन नियंत्रण से वह स्वतन्त्र रहती है। वह पीड़ा में उपजती है, पर कलाकार उसे ऐसा रूप प्रदान करता है कि दूसरे भी उसमें रस ले सकें। यह कार्य वह रूप-सृष्टि, रूप-विकृति, छद्मवेश और स्थानान्तरण की सहायता से सम्पन्न करता है किन्तु अचेतन मूल भाव इसके बाद भी किसी-न-किसी रूप में अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट हो ही जाता है। रान्क कहते हैं कि

"न्यूरॉटिक एक ऐसा कलाकार है जो स्त्रैण हो गया है, और कलाकार एक ऐसा न्यूरॉटिक, जो अधिक पौरुष सम्पन्न हो गया है, और अचेतन रूप से जिसने अपना उपचार स्वयं कर लिया है।" उनका मन्तव्य कलाकार की निष्क्रियता और यथार्थ से पुनः सम्बन्ध स्थापित करने की उसकी योग्यता से है।

हान्स जाक्स के अनुसार सृजन की प्रत्येक संभावना उस द्रव्य में निहित रहती है जिससे स्वप्न निर्मित होते हैं। दिवा-स्वप्न से कला तक पहुँचने के लिए वे ऐसे दिवा-स्वप्न खोजते हैं, जो कलात्मक हुए बिना भी पूर्णतया ऐकान्तिक नहीं रह गए हैं। इस कोटि में पारस्परिक दिवा-स्वप्न आते हैं। उनमें एकाधिक व्यक्ति भाग लेते हैं। इस प्रकार भाग लेने वाले व्यक्तियों की दमित इच्छाएँ उन सबमें सामान्य होनी चाहिएँ। पृथक्तः इन इच्छाओं की काल्पनिक परितृप्ति में वे समर्थ नहीं होते : **"भाग्य की यह देन दोनों के लिए यह संभव बनाती है कि अपने एकाकीपन से बाहर निकलकर वे आपस में गठबंधन करें। दोनों ही जो स्वयं के लिए नहीं कर सकते थे वह प्रत्येक दोनों के लिए करता है। एकाकीपन से यह निवृत्ति उनकी पापानुभूति का भार बहुत हल्का कर देती है। समाज से बहिष्कृत एकमात्र पापी होना असह्य होता है;......हम यहाँ लघुतम सामाजिक इकाई—दो व्यक्तियों के समाज—का निर्माण प्रकट होते देखते हैं 'तुम्हारी इच्छाएँ मेरी इच्छाएँ हैं, तुम्हारा पाप मेरा पाप है'—जब तक यह बात बनी रहती है तब तक दोनों शपथबद्ध मित्र और भाई हैं।"** कवि भाव विनियोग के द्वारा यही करता है। उसके लिए सबसे अधिक बहुमूल्य यह प्रमाण है कि : **"भावात्मक प्रतिवेदन के द्वारा उसकी कृति पाप और वासना में उसके भाइयों से वह स्वीकार कराने में सफल हुई जो अन्य रूप से अकथ्य था।"** कलाकार कृति में अपनी पापानुभूति का उद्घाटन करके, दूसरों को उसमें सहयोगी बनाकर, उसके असह्य दबाव से छुटकारा पाता है; पापियों के बन्धुमण्डल का निर्माण करके वह अपनी पीडामय निर्जनता को घनिष्ठ सामाजिकता में बदल देता है।

साधारणीकरण के लिए कवि को आत्म-विलय करना पड़ता है। किन्तु आत्म-रति को त्यागना अत्यन्त कठिन है। कलाकार स्वयं से हटाकर उसे कृति में स्थानान्तरित कर देता है। इस प्रकार कृति उसके व्यक्तित्व का एक मूलभूत अंश बन जाती है, किन्तु जिस आत्म-रति का वह त्याग करता है उसकी कृति उसे पुनः जीत लेती है।

उपर्युक्त तीनों मनोवैज्ञानिकों ने कलाकार के व्यक्तित्व विकास में इडिपस दशा को सबसे महत्त्वपूर्ण माना है। डॉक्टर ए० ए० ब्रिल भिन्न मत रखते हैं और यह स्थान विकास की मौखिक दशा को प्रदान करते हैं माँ का स्तन न पाकर बालक का रोना और स्तन-पान के द्वारा तुष्टि लाभ करना इस दशा की मुख्य विशेषता है। ब्रिल के अनुसार कवि के व्यक्तित्व का विकास इसी दशा में अवरुद्ध हो जाता है और यही तत्त्व उसकी सृजनशीलता का अनुशासन करता है। रुदन और फिर स्तन-पान द्वारा तोष लाभ—**"कवि बाध्य रूप से इस सम्पूर्ण प्रक्रिया की पुनरावृत्ति करता है; और उसकी भाव दशा का शमन शिशु के समान ही केवल सुखद शब्दों की लयशील अभिव्यंजना द्वारा संभव है।"** इसी प्रकार काव्य एक मौखिक विकास के अतिरिक्त और कुछ नहीं; वह शब्दों और शब्द-समूहों के द्वारा वास्तविक भाव की अभिव्यंजना का मार्ग है। वह मानो सुन्दर शब्दों और पदों

के चर्वण और चोषण द्वारा, एक संवेदनात्मक या रहस्यमय निकास है कवि निरपवाद रूप से विचार के ऊपर भाव को प्राधान्य देता है। भाव सदा पहले आता है तथा शब्द और विचार बाद में। एक अचानक फँस जाने वाले पक्षी के समान कवि, किसी भाव से अभिभूत होकर, स्वर के लिए विचार को, लय के लिए तर्क को और कवि की निरंकुशता के लिए रीति के नियमों को त्यागने के लिए स्वयं को बाध्य पाता है।

एडमण्ड वर्गलर डॉ० ब्रिल का समर्थन करते हैं। वे यह नहीं मानते कि कलाकार कृति में अपनी अचेतन इच्छाओं और मनःसृष्टियों की अभिव्यंजना करता है। वह तो अपनी अचेतन पापानुभूति के भार से दबकर इन इच्छाओं और मनःसृष्टियों के विरुद्ध अपनी अचेतन आत्मरक्षात्मक प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देता है। वह आत्मोद्घाटन की निर्लज्ज अन्तःप्रेरणा से पीड़ित नहीं रहता, प्रत्युत आत्मसत्ता की अन्तरंगतम सतह पर दर्शन-कामशील (Voyeur) होता है। प्रदर्शन-वृत्तियों का उपयोग वह इन दर्शन-वृत्तियों के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए करता है। ईडिपस-ग्रन्थि उसकी कृतियों में अवश्य प्राप्त होती है, किन्तु वह केवल एक छद्मवेश है: **"उसका उपयोग अन्तर्मन में और गहरी धँसी हुई 'मौखिक' सामग्री के विरुद्ध रक्षात्मक प्रतिक्रिया के रूप में किया जाता है। यही कारण है कि कलाकार में 'मौखिकता' मूलभूत तत्त्व होते हुए भी, उसकी कृतियों में व्यापक रूप से ईडिपस-ग्रन्थि के दर्शन होते हैं।"**

लेखक वस्तुमूलक नहीं होता। बाह्य यथार्थ उसकी सर्जना का केन्द्र नहीं। उसका कल्पना-जगत् ही उसकी वास्तविकता है। बाह्य यथार्थ उसके लिए ईडिपस दशा के पूर्व की माँ का स्थानापन्न है। उस स्थिति में शिशु को माँ निर्दय और क्रूर लगती है इसलिए लेखक को भी बाह्य जगत् निर्दय और क्रूर प्रतीत होता है। अतएव उसकी अवहेलना करके वह आत्मतुष्टि के साधन स्वयं उत्पन्न करके स्वयं सम्पूर्ण और स्वतन्त्र बन जाने का प्रयास करता है। फलस्वरूप कृतियों का जन्म होता है। अखिल बाह्यजगत् के विरुद्ध अपने प्रखर हिंसा भाव को लेखक इस प्रकार तृप्त करता है। सृष्टि द्वारा उसके प्रखर अन्तर्द्वन्द्व और पापानुभूति को क्षणिक सान्त्वना मिलती है। यह सान्त्वना उसके तप्त अन्तस् की न्यूरॉटिक वेदना पर शीतल अनुलेप का कार्य करती है। किन्तु यह समाधान क्षणभंगुर होता है, और उसके द्वारा उसकी आन्तरिक समस्या सदा के लिए हल नहीं हो जाती। अतएव वह बार-बार नवीन सृष्टि करता है। वह ऐसा न्यूरॉटिक है जो अपने उपचार का स्वयं प्रयत्न करता है। किन्तु इसमें सफल कभी नहीं होता। पाठकगण उसकी कृतियाँ विशुद्ध मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं। सामान्य पाठक **"तादात्म्य द्वारा अन्य व्यक्तियों के कष्टों का आनन्द लेता है और इस प्रकार बहुधा यह सन्तोष प्राप्त कर सकता है कि वह दूसरों की अपेक्षा अच्छी अवस्था में है।"**

लेखक दूसरों के लिए सृष्टि नहीं करता, किन्तु वह अपने अन्तर्द्वन्द्व के समाधान के लिए लिखता है, वह सांस्कृतिक नेता अथवा राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिनिधि नहीं, यह एक ऐसा भ्रम है जिसका प्रचार मुख्यतः समीक्षकों द्वारा किया गया है। अपनी विशेषज्ञता, व्यापक अध्ययन, पारिभाषिक शब्दावली और उद्धरणों इत्यादि द्वारा समीक्षक अपनी बातों को ऐसा समृद्ध और गम्भीर रूप देने में समर्थ होता है कि जनता उसे गूढ़ ज्ञान के रूप में

ग्रहण करती है। इस भ्रम-प्रचार में समीक्षक का अपना स्वार्थ भी है, क्योंकि : "लेखकों और समीक्षकों के बीच निरन्तर संघर्ष के बावजूद दोनों को एक ही वस्तु का विक्रय करना पड़ता है, दोनों के स्वार्थ समान हैं।"

इन पंक्तियों को लेखक के प्रति बर्गलर का आप्त वचन कह सकते हैं : "लेखक के साथ 'साधारण' की उपाधि जमती ही नहीं। यह उसी प्रकार एक स्वयंविरोधी वक्तव्य है जैसे उष्ण हिम अथवा मानव-प्रेमी नाज़ी अपने कार्यालय में, अथवा वैयक्तिक जीवन में, अथवा लेखकों के जीवन-इतिहास का अध्ययन करते हुए मुझे कभी कोई 'साधारण' लेखक नहीं मिला। मुझे सन्देह है कि 'साधारण' लेखक के समान किसी जीवधारी से कभी किसी की भेंट हुई हो। कुछ लिखने की प्रेरणा 'साधारण' लोगों में उठती ही नहीं.......मैंने.......बहुत से न्यूरॉटिक देखे हैं। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उनमें सबसे अधिक उदास और दयनीय लेखक रहे हैं। इस बात में उन्हें कोई दूसरा न्यूरॉटिक मात नहीं दे सकता। लेखकों की गरीबी इस बात का सर्वोत्तम प्रमाण है कि वे अबौद्धिक (Irrational) और अपने अन्तर्द्वन्द्वों द्वारा परिचालित होते हैं।.........सच्चा लेखक सब-कुछ सहन करता है, वह यह नहीं जानता कि दुःख सहने की अपनी अचेतन इच्छा के कारण, स्वपीड़न-रति की तुष्टि के लिए, वह ऐसा धन्धा ही चुनता है जो दारिद्र्य-ग्रस्त हो और जिसमें उसे यश और धन, मान्यता और प्रतिष्ठा की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।"

काव्य की प्रक्रिया वस्तु, स्वरूप, प्रभाव और कवि के विषय में मनोविश्लेषण की मान्यताओं के संक्षिप्त परिचय के बाद इस विषय में एडलर और युंग की मान्यताओं से परिचित हो लेना ही एक सामान्य रूपरेखा के लिए आवश्यक है। ये दोनों पहले फ्रायड के सहयोगी थे; किन्तु बाद में मतभेदों के कारण मनोविश्लेषण से सम्बन्ध-विच्छेद करके उन्होंने 'व्यष्टिमूलक मनोविज्ञान' और 'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान' नामक दो नये सम्प्रदायों की स्थापना की। एडलर के मनोविज्ञान का मूल स्तम्भ संक्षेप में इस प्रकार है : व्यक्ति एक अविभाज्य इकाई है, एवं उसके चरित्र का मूल मन्त्र इस स्वयंसिद्ध एकत्व में ही खोजना चाहिए। व्यक्तित्व के अध्ययन में बाल्यावस्था विकास की सबसे महत्वपूर्ण दशा है। शारीरिक अक्षमताओं तथा अन्य कारणों से प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के अति आरम्भिक काल में ही अपनी हीनता की प्रखर अनुभूति से ग्रस्त हो जाता है। इस वित्रासक हीन भाव के निवारण के लिए वह महत्ता का लक्ष्य स्थापित करता है। उसके समस्त कार्य-कलाप इस लक्ष्य की सिद्धि की ओर अग्रसर होते हैं। इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही उसकी जीवन-योजना और व्यवहार-गठन निर्मित होते हैं। जीवन-योजना, प्राप्तव्य, लक्ष्य और मूलस्थ हीन भाव ये सभी अचेतन रहते हैं और उनका उद्घाटन जीवन-शैली तथा व्यवहार-गठन के विश्लेषण द्वारा सम्पन्न होता है। महत्ता का लक्ष्य और उसकी अनवरत प्राप्ति-चेष्टाएँ व्यक्ति में एक आक्रान्ता, संघर्ष-शील व्यक्ति का उदय करती हैं, किन्तु, हीन-भाव, महत्ता का लक्ष्य, और आक्रान्ता वृत्ति से ठीक विपरीत जाति का एक और तत्त्व मनुष्य में होता है। उसकी उत्पत्ति का हेतु सामाजिक जीवन और तज्जन्य पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता में सन्निहित है। यह आवश्यकता पारस्परिक प्रेम भाव और बन्धुत्व को अनिवार्य बना देती है।

वैयक्तिक जीवन-योजना और सामाजिक मार्गों के बीच प्रायः सदा एक खाई बनी रहती है। परिणामतः व्यक्ति के कार्य सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं हो सकते। यथार्थ के अनुकूल आत्म-परिवर्तन करने में वह विफल होता है। यथार्थ-मूलकता की इस क्षति के साथ उसकी कल्पना-मूलकता में वृद्धि होने लगती है। यथार्थ के अनुकूल बनने में अक्षम बनने के कारण व्यक्ति का विभिन्न मनोव्याधियों से आक्रान्त होना सम्भव है। किन्तु मानवात्मा स्वभावतः सृजनशील होती है, और इस सृजन में वे समस्त व्यापार सम्मिलित हैं जिनके द्वारा व्यक्ति समाज और वातावरण के अनुकूल आत्म-परिवर्तन करता है तथा आत्म के अनुकूल अपने वातावरण का पुनर्निर्माण करता है। इस व्यापक सृजनशीलता के अन्तर्गत स्वप्न, दिवा-स्वप्न और समस्त जाति की मनःसृष्टियाँ भी सम्मिलित हैं। उन कृतियों का भी इसमें समावेश है जिन्हें हम कलाकृतियाँ कहते हैं और जिनका हमारे जीवन में इतना महत्त्व है। एडलर, फ्रायड की इस बात को स्वीकार नहीं करते कि अतृप्त आकांक्षाओं की काल्पनिक परितृप्ति समस्त मनःसृष्टियों का सुनिश्चित प्रयोजन है। उनके अनुसार वे जीवन-शैली के अनुरूप होती हैं और उस स्थायी लक्ष्य का निर्देश करती हैं जिसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति के समस्त कार्य-कलाप प्रवर्तित होते हैं।

स्वयं जीवन-लक्ष्य की स्थापना को एडलर ने एक कलात्मक युक्ति कहा है। मनुष्य की समस्त मनसिज और कलात्मक सृष्टियाँ अन्तिम अर्थ में इस लक्ष्य की ही संकेतिकाएँ होती हैं। हीन-भाव के निवारण और महत्ता की प्राप्ति के प्रयत्नों से व्यक्ति अपनी लड़खड़ाती हुई आस्था को एक नये विश्वास से पुनर्प्राणित करता है। इस कार्य के द्वारा वह अपनी दुर्बलता और अक्षमता को उतनी ही बड़ी शक्ति और क्षमता में बदल देता है। उसके समस्त कल्पित निर्माण एक पूर्व निश्चित विजय की शृंखला प्रस्तुत करते हैं। ऐसी उद्भावनाओं द्वारा वह लक्ष्य-प्राप्ति के विषय में अपने विश्वास को पुष्ट करता है; आसन्न विफलता उसे सफलता के स्वप्न दिखाकर ढाढ़स बँधाती है। कलात्मक सर्जना, महत्ता के कल्पित लक्ष्य की स्थापना द्वारा सम्पन्न, अक्षमता का पूर्ण रूपान्तर है।

मानव-जीवन में तादात्म्य और भावविनियोग की निरन्तर आवश्यकता पड़ती है। इस विषय में मनुष्य की शक्ति इतनी व्यापक है कि "जिस क्षण एक मनुष्य दूसरे से बोलता है उसी क्षण तादात्म्य हो जाता है। नाटक तादात्म्य की कलात्मक अभिव्यक्ति है।........ हमारा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन असम्भव था यदि एक व्यक्ति दूसरे को प्रभावित न कर सकता........प्रभावित होने की इस तत्परता का न्यूनाधिक्य उस सीमा पर निर्भर है जहाँ तक प्रभावित करने वाला व्यक्ति प्रभावित किये जाने वाले व्यक्ति के अधिकारों को ध्यान में रखता है। ऐसे व्यक्ति पर स्थायी प्रभाव डालना असम्भव है जिसे हम हानि पहुँचा रहे हैं।"

कृति लेखक के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, किन्तु "उसका आकर्षण उसके समन्वय से उत्थित होता है; विज्ञान का विश्लेषण इस समन्वय को कलुषित और विनष्ट कर देता है। कृति की वस्तु अनिवार्यतः अहंमूलक और असामाजिक नहीं होती, क्योंकि मनःसृष्टिवर्ती जीवन में सत्ता-प्राप्ति के प्रयत्न के साथ सामाजिक भावना भी महत्त्वपूर्ण भाग लेती है।" कृति के विश्लेषण के विषय में एडलर कहते है—"सर्वप्रथम हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कलात्मक सृजन की कक्षा जीवन-संघर्ष के बाहर गमन करती है।

परिणामतः हम यह मान सकते हैं कि समाज की प्रकृत आशाओं से अभिमुख होते ही प्रत्येक कलाकार एक दिशा-परिवर्तन, एक ठहराव, एक प्रत्यावर्तन प्रदर्शित करता है। कलाकार, जो कि न कुछ से—अथवा कहें कि जीवन के तथ्यों के प्रति अपने व्यग्र दृष्टिकोण के कारण, एक जगत् की सृष्टि करता है, और व्यावहारिक जीवन के आधार पर एक उत्तर के बदले हमें एक पहेली रूप कलाकृति देता है—ऐसा व्यक्ति जीवन और उसकी माँगों से पराङ्मुख हैं।" वह यथार्थ उपकरणों को लेकर वास्तव जगत् के पुनर्निर्माण के लिए नहीं निकलता। इसीलिए व्यावहारिक जीवन के तथ्यों में हम उससे कोई उत्तर नहीं पाते। वह अपने आंतरिक जीवन, अपने जीवन की अचेतन किन्तु प्रचंड प्रेरक शक्तियों से जूझकर उनके अनुशासन द्वारा मनुष्य की मुक्ति का विधान और सिद्धान्त, एक सुयोग्य नियम सूत्र में आत्मा की समस्याओं के समाधान खोजता है। इसीलिए उसकी कृति एक साधना होती है, सिद्धि नहीं; एक पहेली होती है, उत्तर नहीं।

युंग मनोवैज्ञानिक गवेषणा से साहित्य के लिए दो आशाएँ रखते हैं—कृति के निर्माण की व्याख्या और उन तत्वों का उद्घाटन; जो किसी व्यक्ति को कलात्मक रूप से सृजनशील बनाते हैं। कृति और कृतिकार मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए दो स्वतन्त्र विषय बन जाते हैं। फ्रॉयड और एडलर से भिन्न मत रखकर वे कहते हैं: "कृति से कलाकार के विषय में और कलाकार से कृति के विषय में निष्कर्ष निकालना सम्भव है; किन्तु ये निष्कर्ष कभी निर्णयात्मक नहीं होते, वे अधिक-से-अधिक संभाव्य अनुमान हो सकते हैं।" उनकी धारणा है कि "कृति के अन्दर और कलात्मक सृजन की प्रक्रिया में कार्य-कारण-सम्बन्धों को उद्घाटित करने के लिए यदि मनोवैज्ञानिक में विश्वास किया जा सके तो कला के लिए वह खड़े होने के लिए कोई जगह ही न छोड़ेगा और उसे अपने विज्ञान की एक शाखा विशेष बनाकर रख देगा।"

कला उनके लिए सच्चे अर्थ में सृष्टि है; और सृष्टि मात्र प्रक्रिया से सदा भिन्न और अधिक होती है। क्रिया-प्रतिक्रिया की शृंखला में एक यान्त्रिक सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, किन्तु सृजन का अर्थ तो एक नई सत्ता का उदय है जिसके साथ नये गुण भी अस्तित्व में आते हैं इसीलिए सदा नूतन और सविशेष होने के कारण ही सर्जना को एक यंत्रवत् सुनिश्चित कारणवाद में नहीं बाँधा जा सकता।

कलाकार का व्यक्तित्व द्विविध होता है। वह सामान्य मनुष्य होता है इसलिए इस रूप में उसके जीवन की विशेषताएँ उसकी कृति में प्रवेश पा सकती हैं; किन्तु यह सर्जना नहीं है। वह सृष्टा होता है। प्लेटो के समान युंग भी कहते हैं कि "कला एक प्रकार का आदि-जात अन्तर्वेग है जो किसी मनुष्य को ग्रस्त कर लेता है और उसे अपना उपकरण बना लेता है। कलाकार एक ऐसा व्यक्ति नहीं, जो स्वतन्त्र संकल्प से सम्पन्न एवं निजी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए चेष्टावान् हो, वह एक ऐसा व्यक्ति है जो कला को अपनी माध्यमिकता से स्वयं उसके प्रयोजन सिद्ध करने का अवसर देता है।" कला की यह प्रेरणा कहाँ से आती है? निश्चय ही साधारण मनुष्य के रूप में कलाकार के व्यक्तित्व से नहीं। ईडिपस ग्रन्थि से कृति की व्युत्पत्ति करने के लिए युंग फ्रॉयड पर व्यंग्य करते हैं और कहते हैं: "प्रत्येक सृजनशील व्यक्ति पर परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व या समन्वय होता है, एक ओर वह एक वैयक्तिक

जीवन से समन्वित मनुष्य है जब कि दूसरी ओर वह एक निर्वैयक्तिक सृजन-प्रक्रिया है। चूँकि एक मनुष्य की हैसियत से वह निरोग अथवा मनोव्याधिग्रस्त हो सकता है इसलिए उसके व्यक्तित्व के नियोजक तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु हमें उसकी मानसिक निर्मिति देखनी चाहिए। किन्तु कलाकार के रूप में हम उसे केवल उसकी सृजनात्मक उपलब्धि को देखकर ही समझ सकते हैं।" सृजन-प्रेरणा की शक्ति व्यक्त करते हुए वे कहते हैं: "वह गेटे नहीं, जो फाउस्ट की सृष्टि करता है; किन्तु फाउस्ट है जो गेटे की सृष्टि करता है। फिर एक प्रतीक के अतिरिक्त फाउस्ट और क्या है? इसके द्वारा मेरा तात्पर्य किसी सुपरिचित वस्तु का इंगित प्रस्तुत करने वाले दृष्टांत से नहीं, किन्तु एक अभिव्यक्ति से है, जो किसी ऐसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है, जो स्पष्ट ज्ञात न होकर भी सुगभीर रूप में जीवन्त है। यहाँ कुछ ऐसी एक वस्तु है जिसका प्रत्येक जर्मन की आत्मा में विश्वास है और जिसे जन्म देने में गेटे ने सहायता की है।"

कवि एक ऐसी वाणी बोलता है जो उसकी व्यक्तिगत वस्तु नहीं होती; किन्तु किसी ऐसे स्रोत से उसे मिलती है जो व्यापक है। युंग के अनुसार यह स्रोत 'सामूहिक अचेतन' है। सामूहिक अचेतन मन का उससे भी गहरा स्तर है, जो फ्रायड द्वारा गवेषित है। फ्रायड की पहुँच व्यक्तिगत अचेतन से परे नहीं हो सकी है। और उसकी परिसीमा में कला का अध्ययन करके उन्होंने युंग के अनुसार केवल एक भ्रम की सृष्टि की है। सामूहिक अचेतन दुर्बल चेतन मानसिक अवस्था के क्षण में परिपूर्ति का कार्य करता है: "प्रत्येक युग अपने पक्षपातों, अपने विशिष्ट पूर्वग्रह और अपनी मनोव्याधि से समन्वित होता है। एक युग एक व्यक्ति के समान है; उसके चेतन दृष्टिकोण की अपनी सीमाएँ होती हैं और इसीलिए एक क्षतिपूरक संतुलन की आवश्यकता होती है। यह कार्य सामूहिक अचेतन इस प्रकार सम्पन्न करता है, कि कोई कवि, कोई मंत्र-द्रष्टा या कोई जननायक स्वयं को अपने युग की अव्यक्त आकांक्षाओं द्वारा संचालित होने देकर वाणी अथवा कर्म से उसकी प्राप्ति का पथ प्रदर्शित करता है, जिसके लिए प्रत्येक मनुष्य में प्रबल लालसा है और जिसकी वह अंधाकांक्षा रखता है—यह प्राप्ति चाहे शिव में हो या अशिव में, एक युग की व्याधिमुक्ति में हो अथवा उसके विनाश में।"

मनोवैज्ञानिकों के साहित्य-चिन्तन की इस रूपरेखा में जो दुर्बलताएँ हैं उनसे हम परिचित हैं। आशा यह है कि साहित्य-प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों, उसके प्रयोजन और कवि के व्यक्तित्व के विषय में उन्होंने जो नई धारणाएँ प्रस्तुत की हैं उनकी एक झलक यहाँ मिल जायगी। आधुनिक मनोविज्ञान ने केवल साहित्य को प्रभावित ही नहीं किया किन्तु उसके समक्ष कई गम्भीर प्रश्न भी खड़े कर दिए हैं। हमें प्रिय हों या नहीं, इन प्रश्नों का उत्तर दिये बिना मुक्ति पाना साहित्य के लिए प्रायः असंभव है। मनोवैज्ञानिकों के पास एक ओर तो विशेषज्ञता का ब्रह्मास्त्र है और दूसरी ओर नये-नये सिद्धान्त गढ़ने की विलक्षण क्षमता। किन्तु यह मनोविज्ञान भी तो अन्ततः अपने ही युग की उपज है, जिन प्रेरणाओं ने उसे जन्म दिया है और निरूपित किया है उनका अध्ययन भी साहित्यकार के लिए आज अत्यन्त आवश्यक है।

डॉ० रामरतन भटनागर

उपयोगितावाद : मानवतावादी और मनोवैज्ञानिक (तालसताय और रिचर्ड्स)

: १ :

तालसताय (१८२८-१९१०) के काव्य और कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों को हम स्थूल अर्थ में उपयोगितावाद की संज्ञा नहीं दे सकते। उन्हें हम उपयोगितावाद, सौन्दर्यवाद या आनन्दवाद की अपेक्षा से ही कह सकते हैं, क्योंकि तालसताय पश्चिमी कला-पारखियों और सौन्दर्य-शास्त्रियों की उन मान्यताओं के विरोधी हैं जो सौन्दर्य को सौन्दर्य के लिए या कला को कला के लिए आवश्यक मानते हैं। तालसताय के विचार में सुन्दर वह है जो हमें आनन्द प्रदान करता है और पश्चिम का सौन्दर्यवाद निम्न कोटि का आनन्दवाद बनकर रह गया है जिसकी भूमिका भौतिकवादी और इहलौकिक है। इसके विपरीत तालसताय धर्मचेतना के समर्थक हैं। इस धर्मचेतना को उन्होंने 'जीवन-बोध' की संज्ञा दी है, जो एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है और मनुष्य की आध्यात्मिक अन्तर्प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस धर्मचेतना अथवा जीवन-बोध को तालसताय कोई अपरिवर्तनीय, शाश्वत तत्त्व नहीं मानते। प्रत्येक युग के साथ इसमें नये मूल्य समन्वित हो जाते हैं और वह अन्ततः बदल भी सकता है, परन्तु उसमें उच्चतम युगनिष्ठा और नैतिक चेतना का आकलन रहता है। इस प्रकार काव्य और कला ज्ञात या अज्ञात रूप से मनुष्य के श्रेष्ठतम उपार्जन को आत्मसात् करते हैं और उनकी उपयोगिता इसीमें है कि उनके द्वारा मानव-जीवन का उन्नयन हो। यह उन्नयन भौतिक या मानसिक भूमि पर नहीं, नैतिक या आध्यात्मिक भूमि पर होगा, ऐसा तालसताय का विश्वास है और इसीसे उन्होंने युगीन जीवन-बोध को 'धर्म' की संज्ञा दी है। इस प्रकार तालसताय का उपयोगितावाद नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का संवर्द्धन करता है और मनुष्य में देवत्व की स्थापना करता है।

क्या तालसताय की कला-सम्बन्धी विचार-धारा को 'मानवतावादी' कह सकते हैं? या, यदि वह मानवतावादी है, तो किस हद तक? इस सम्बन्ध में विचार करने से पहले हमें मानवतावाद शब्द को परिभाषित करना होगा। 'मानवतावाद' शब्द का प्रयोग किन पर्यायों में होता है और उनमें से कौन पर्याय तालसताय को मान्य है?

मानवतावादी विचार-धारा के कई ऐतिहासिक रूप हमें प्राप्त होते हैं, जैसे रेनेसाँ का मानवतावाद, कैथोलिक या अन्तर्योजित मानवतावाद, व्यक्तिपरक मानवतावाद अथवा प्रकृतवादी मानवतावाद। मानवतावाद का प्रथम स्फुरण रेनेसाँ-युग में मध्ययुगीन ईसाई धर्म की परलोकवादिता के विरुद्ध हुआ। व्यष्टिगत अमरत्व के विपरीत इहलौकिकता को प्रश्रय मिला और तापस के आदर्श के स्थान पर जीवन-रस से ओतप्रोत सदाशयी मानव का आदर्श सामने आया। ल्यूनारडो डा विंसी और माइकेल एंजेलो इस आदर्श के प्रतीक पुरुष थे। कैथोलिक चर्च की सत्ता और ईसाई धर्म के ज्ञानवृत्त के विरोध में यह नया मानवतावादी आदर्श पर्याप्त रूप से विकसित हुआ। उसे पुरातन ग्रीक और लैटिन

क्लासिक ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त हुई और उसने बुद्धि को मापदण्ड माना। कैथोलिक मानवतावाद का समन्वयात्मक रूप टामस एक्विनास की विचार-धारा में मिलता है जिसने नैतिक और सामाजिक लक्ष्यों को मान्यता दी। शिलर और विलियम जेम्स ने व्यक्तिपरक और अनुभूतिप्रवण तत्त्वों को प्रधानता दी और पहली बार मानवता को दर्शन का रूप देना चाहा। परन्तु मानवतावाद का सर्वमान्य रूप कदाचित् वह है जो मनुष्य को अपनी समस्त विचार-धारा के केन्द्र में रखता है और जिसमें उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, धर्मदृष्टि-सम्पन्न महापुरुषों और अर्थ-विशारदों की मान्यताएँ समाहृत हैं। मानवतावाद के इस समाहृत रूप का विशद विवेचन कार्लिस लेमांट की पुस्तक 'ह्यूमिनिज़्म एज़ ए फ़िलासफ़ी' में हुआ है। यह लेखक मानवतावाद को सार्वभौमिक और सार्वदेशिक दर्शन मानता है और प्लेटो-बुद्ध-महावीर-कन्फ्यूशियस के समय से उसकी प्रगति की चर्चा करता है। वास्तव में मानवतावाद देवतावाद और परलोकवाद के विरुद्ध मनुष्य-केन्द्रित बुद्धिवादी-भौतिकवादी-विज्ञानवादी जीवन-दर्शन है; जो सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय का नारा बुलन्द करता है। तालसताय का मानवतावाद मानव-कल्याण का समर्थक होते हुए भी अनीश्वरवादी और भौतिकवादी नहीं है, क्योंकि तालसताय अन्ततः धार्मिक हैं। उन्हें देवत्व के प्रति आस्था है, परन्तु वह इस देवत्व को मानव-मात्र में स्थापित देखते हैं। अपने काव्य और कला-सम्बन्धी चिन्तन में तालसताय ने इस सूक्ष्म आध्यात्मिक धार्मिक मानव-दृष्टि को सामने रखा है। वह सत्य, ईश्वरेच्छा, धर्मचेतना, जीवन-बोध-संभाव्य, शिवं आदि ऐसे शब्दों का अपनी काव्य-व्याख्या में अनिवार्यतः उपयोग करते हैं जो आध्यात्मिक मूल्यों से सम्पन्न हैं। उनकी आध्यात्मिक विचार-धारा में पाप-बोध और तपस् का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह पश्चिमी सौन्दर्यवादियों की तरह कला को ऐन्द्रिय आनन्द से सम्बन्धित नहीं कर सके हैं। फलतः उनका उपयोगितावाद आत्मिक और सूक्ष्म है और उनके मानवतावाद में मनुष्य के भौतिक सुख की अपेक्षा प्रेम, त्याग और तपस्या से प्राप्त आध्यात्मिक सुख का ही प्राधान्य है। तालसताय का कला-चिन्तन समग्र और स्वस्थ जीवन-बोध को महत्त्व देता है और उसमें आत्मोन्नति के लिए उपयोगी मानवीय मूल्यों की संस्थापना करता है। उनके कला-चिन्तन को हमें इसी सूक्ष्म परिवेश में रखकर देखना होगा।

'कला में सत्य' शीर्षक अपने एक निबन्ध में तालसताय 'सत्य' की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार सत्य सामयिकता या 'वर्तमान' की सीमा में बँधा नहीं है। उसमें संभाव्य भी सम्मिलित है। वह कहते हैं : **"सत्य उसके द्वारा नहीं ज्ञातव्य है जो केवल उतना ही जानता है जो कि कुछ समय से है, इस समय है, और वस्तुतः घटित होता है बल्कि उसके द्वारा जो उसे स्वीकार करता है, जो ईश्वरेच्छा के अनुसार होना चाहिए।"**[1] वस्तुवादियों का सत्य-सम्बन्धी सीमित दृष्टिकोण उन्हें मान्य नहीं है, क्योंकि वस्तुवाद धरती से चिपटा रहता है और वह धूलि ही देखता है, ऊपर का प्रकाश उसे नहीं मिलता। तालसताय के शब्दों में : **"जो व्यक्ति अपने पांव की ओर देखता है उसे सत्य का ज्ञान न होगा, बल्कि उसे होगा जो सूर्य के प्रकाश द्वारा तै करता है कि किस मार्ग से जाना**

१. 'कला में सत्य', पृ० २१।

चाहिए।"[१] यथातथ्य-वर्णन के दोष तालसताय ने इस प्रकार स्पष्ट किये : (१) "संसार का यदि यथातथ्य वर्णन करना हो, तो हमें बुराइयों का अधिक वर्णन करना पड़ेगा और इस तरह सत्य दूर रह जायगा।"[२] (२) "जो अस्तित्व में है उसका वर्णन लाभकर नहीं, अपितु ईश्वर के राज्य का, जो हमारे समीप आ तो रहा है पर अभी तक आ नहीं सका है।"[३] (३) "उसमें मनुष्य अपने मनोरागों के लिए जीता है, अतः भले ही उसमें कुछ असंभाव्य न हो, फिर भी वह असत्य और मिथ्या है।"[४]

अतः तालसताय यथार्थ के सत्य को महत्त्व नहीं देते। वह कल्पना, संभाव्य, ईश्वरीय न्याय और त्याग-तप के सत्य को ही सत्य मानते हैं। उनके मत में प्रामाणिकता तथ्य की नहीं, अंतरंगी सत्य की है; जो सूक्ष्म, प्रेममय और 'शिव' है। शिव के साथ ही सत्य ग्रहणीय है, स्वतन्त्र रूप से उसकी कोई भी महार्घता नहीं है, ऐसा उनका विश्वास है। इसीसे तालसताय प्रकृतवाद, प्रकृतिवाद और वस्तुवाद को अस्वीकार कर देते हैं और उनका कला-सिद्धान्त आदर्शवादी और मानवतावादी बन जाता है।

यह स्पष्ट है कि तालसताय कला को 'मानवता' के लिए महत्त्वपूर्ण, आवश्यक और मूल्यवान वस्तु मानते हैं।[५] कला "अपेक्षित, श्रेष्ठ, सम्मानार्ह" है।[६] "कला वही विशिष्ट क्रिया है जिसका लक्ष्य भौतिक उपादेयता नहीं, वरन् जनता को आनन्द देना है, वह आनन्द; जो आत्मा का उत्थान और उन्नयन करे।"[७] "कला का महत्त्व और गुण इसमें है कि वह मनुष्य की दृष्टि-परिधि को विस्तीर्ण करे, मानवता की आध्यात्मिक पूँजी में वृद्धि करे।"[८] इसके लिए तालसताय यह आवश्यक समझते हैं कि कला नव्य का उद्घाटन करे, "जो कुछ पहले अदृष्ट, अननुभूत, अबोध्य" हो, वह भावना की सघनता द्वारा स्पष्टता की उस मात्रा तक ला दिया जाय कि वह सबके लिए स्वीकार्य हो जाय।[९] सघन भावना का परितोष कलाकार को आनन्द प्रदान करता है और सहृदय पाठक या श्रोता के पक्ष में भावना के इसी अनुरोध की अनुभूति और इसकी तुष्टि इस भावना पर समर्पण, इसका अनुकरण और प्रभाव, कुछ भी क्षणों में उसका अनुभव करना; जिसे रचना-निर्माण करते समय कलाकार ने अनुभव किया है, कलाकृति का रसास्वादन कहा जा सकता है।[१०]

ऊपर के विवरण से कला-सम्बन्धी मान्यता का वह स्वरूप स्पष्ट हो जाता है जो तालसताय को मान्य था :

१. 'कला में सत्य', पृ० २२।
२. वही।
३. 'कला क्या है', पृ० २२, कला में सत्य।
४. वही, पृ० २३।
५. कला, पृ० २६।
६. वही, पृ० २८।
७. वही, पृ० २८।
८. वही, पृ० ३१।
९. वही।
१०. वही, पृ० ३१।

(१) कि कला-कृति में नवीनता का समावेश हो।

(२) वह नवीन विचार, कला का वस्तु-तत्त्व मानव-जाति के लिए महत्त्वपूर्ण हो।

(३) वह वस्तु-तत्त्व इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त हो कि लोग उसे समझ सकें।

(४) कलाकार निर्माण की ओर आन्तरिक अनुरोधवश प्रेरित हो, न कि बाह्य प्रलोभनों के कारण।[1]

ताल्सताय कला-कृति के लिए तीन शर्तों का पालन अनिवार्य समझते हैं :

(१) वस्तु-तत्त्व, जो अब तक अज्ञात थी, परन्तु मनुष्य को जिसकी आवश्यकता है।

(२) रूप, सबके लिए सुबोध हो।

(३) निष्ठा, कलाकार की किसी आन्तरिक शंका के समाधान की आवश्यकता से उत्पन्न हो। इनमें से किसी एक के अभाव में भी कृति कला-कृति नहीं रहेगी, परन्तु कृति में इनका योगायोग विभिन्न रह सकता है।[2] वस्तु की नवीनता से ताल्सताय का तात्पर्य नवीन जीवन-बोध से है और यह आवश्यक है कि यह जीवन-बोध महत्त्वपूर्ण, शिव और नैतिक हो। रूप अथवा अभिव्यक्ति की श्रेष्ठतम सीमा यह है कि वस्तु सदैव सभी के लिए बोधगम्य हो। वस्तु-तत्त्व, सौन्दर्य (सुबोध अभिव्यंजना) और ईमानदारी कला-कृति के तीन अपरिहार्य अंग हैं। इन तीनों में भी ताल्सताय नवीन और श्रेष्ठ विषय की स्फुरणा को प्राथमिकता देते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि कलाकार नवीनता और श्रेष्ठता को पहचाने कैसे ? ताल्सताय का समाधान है कि **"कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह देखे और विचार करे तथा अपने को उन तुच्छ बातों में व्यस्त न रखे जो जीवन-रहस्य के चिन्तन और तत्सम्बन्धी उसकी भेदक दृष्टि में बाधक बनें। इसके लिए यह आवश्यक है कि कलाकार स्वयं नैतिक रूप में उन्नत हो।"**[3] नैतिक जीवन के प्रति कलाकार की यह साधना उसकी अन्तरात्मा के अनुरोध की तृप्ति के लिए होगी। इससे उसे नवीन जीवन-दृष्टि प्राप्त होगी और वह युग-धर्म के सच्चे स्वरूप को पहचानकर नये जीवन-बोध से साक्षात्कार प्राप्त कर सकेगा। ताल्सताय का आग्रह है कि नवीन और श्रेष्ठ जीवन-बोध को प्राथमिकता ही नहीं प्राप्त है, अभिव्यक्ति और ईमानदारी के लिए कलाकार को कोई बड़ी साधना नहीं करनी पड़ती। **"यदि वह नवीन और श्रेष्ठ को खोजेगा तो उसे अभिव्यक्त करने के लिए वह अवश्यमेव एक रूप पा जायगा और वह सत्यपरायणता भी उपस्थित रहेगी जो कलात्मक रचना का अनिवार्य अंग है।"**[4] इस प्रकार ताल्सताय की कला-परिभाषा नैतिक जीवन-सम्पन्न अंतर्दृष्टि में सिमट आती है और कलाकार की अन्तरंगी जीवन-साधना या 'शिव' साधना बन जाती है। स्वयं ताल्सताय के शब्दों में : **"सच्ची कला-कृति कलाकार की आत्मा में उठने वाले, जीवन के एक नव्य रूप का उद्घाटन है, जो अभिव्यक्त होने पर उस मार्ग को प्रकाशित कर देता है जिस पर चलकर मानवता प्रगति करती है।"**[5]

---

१. 'कला में सत्य' पृ० ३२।

२. वही पृ० ३६।

३. वही, पृ० ३७।

४. वही।

५. वही, पृ० ३९।

तालसताय के विचार में कला स्वयं लक्ष्य या प्रयोजन नहीं है, न कला का लक्ष्य और प्रयोजन उससे मिलने वाले आनन्द में है। कला मानव-जीवन की एक शर्त है। वह मनुष्य-मनुष्य के बीच सम्पर्क का एक साधन है; क्योंकि उसके द्वारा अतीत, वर्तमान और अनागत पीढ़ियाँ ग्रहीता के रूप में कला-स्रष्टा से अपना अनुभूति का सम्बन्ध जोड़ती हैं। मानवों में ऐक्य स्थापना के अपने लक्ष्य को कला भावना द्वारा सम्पन्न करती है। मानवीय सम्बन्ध-संचार का मूल इस तथ्य पर आधृत है कि मनुष्य अपने नेत्रों या कानों के द्वारा कलाकार की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकने में समर्थ है और मूल मानवीय मनोभाव समान और संवेदनीय हैं। अन्य की भावाभिव्यक्ति को ग्रहण करने और उन भावों को स्वयं भी अनुभव करने की मनुष्य की इस क्षमता पर ही कला की क्रिया आधृत है। इस प्रकार कला मानवीय व्यापार बन जाती है और उसमें रहस्य कुछ भी नहीं रह जाता। तालसताय ईश्वर या सौन्दर्य की किन्हीं भूल-भुलैयों में उलझना नहीं चाहते। इसीसे वह सौन्दर्य-शास्त्रियों की परिभाषाओं और शब्दावलियों को भ्रामक मानते हैं। वह कला के मूल में मानवीय व्यापार देखते हैं और मानव का नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नयन ही उनके अनुसार कला का लक्ष्य है। अधिक-से-अधिक मानव-हृदयों तक पहुँचकर ही कला-कृति सार्थक है। इस प्रकार कला का समस्त समारम्भ मानव के लिए है और यह मानव भी सम्राट्, सामन्त, पूँजीपति आदि न होकर सामान्य श्रमी मनुष्य है। कला के द्वारा हम अन्यों को अपनी भावना से संक्रमित कर सकते हैं और इस भूमिका पर वह प्रचार का साधन बन सकती है, परन्तु तालसताय कदाचित् कलाजन्य संक्रामिकता को प्रचारवाद कहने के लिए तैयार नहीं होंगे।

कला-चिन्तन के क्षेत्र में तालसताय की विशिष्टता कला द्वारा आनन्द-बोध के विरोध और नैतिकवाद की स्थापना में है। उनके शब्द हैं : **"कला का मूल्यांकन मनुष्य के जीवनाभिप्राय-बोध पर निर्भर है, इस पर निर्भर है कि वे जीवन में किसे अच्छा, किसे बुरा समझते हैं। और क्या भला है, क्या बुरा है, यह बताने वाले धर्म हैं।"**[१] इस धर्म-तत्त्व की उन्होंने विशद व्याख्या की है।[२] उन्होंने धर्म (या जीवन बोध) को एक सूक्ष्म तत्त्व माना है जो मानवता को उच्चतर, समग्र, सर्वसुलभ और सुस्पष्ट बोध की ओर अग्रसर करता है। प्रत्येक युग अपने लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य अथवा पाप-पुण्य की निश्चित धारणाओं का निर्माण करता है और कुछ अग्रणी लोग अपनी संवेदनशीलता के कारण नये जीवनाभिप्राय को ग्रहण तथा अभिव्यक्त करने में अधिक सफल होते हैं। वे उत्तम जीवन-बोध के ज्ञाता और व्याख्याता ही श्रेष्ठ धर्मी और कलाकार हैं और नये जीवन-बोध के अनुसार मानवीय भावनाओं का शोध और परिष्कार उनका कार्यक्षेत्र रहा है। इस सूक्ष्म जीवन-बोध को तालसताय 'धर्म' कहते हैं और उनका विश्वास है कि मानवता निरन्तर अधिक सुस्पष्ट और विकसित जीवन-बोध की ओर अनिवार्य और अप्रतिहत रूप से अग्रसर हो रही है। धर्मनेता और कलाकार यदि जन-मानस के इस विकास में योग दें तो उनका प्रदेय सार्थक हो। उनकी धारणा है कि मध्ययुग के बाद कला ने सच्चे धर्म से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया और इसीलिए वह दुर्बोध, चमत्कारमूलक और गुह्य बन गई। धर्म से अलग होने पर कला का

---

१. 'कला क्या है', पृ० ८४।

२. देखिये, "कला क्या है" ग्रन्थ का छठवाँ परिच्छेद, पृ० ८४-९१।

सम्बन्ध 'सौन्दर्य' नाम की एक कल्पित इकाई से जोड़ दिया गया; जो वास्तव में 'आनन्द' का ही दूसरा नाम है और कला-मात्र आनन्दप्रदायक बन गई। वह जीवन-संस्कार के अपने महान् उद्देश्य से च्युत हो गई। उसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य-बुद्धि-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि का लोप हो गया। फलतः कला कारीगरी और विनोद की सीमारेखा में बँध गई। इस कलाभास को ही 'कला' का नाम दिया जाने लगा। सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और प्लाटिनस में सुन्दरं शिवं बनकर ही सार्थक था। कला-बोध और सौन्दर्य-बोध को इन्होंने अलग-अलग माना था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में कला और सौन्दर्य का नाता जुड़ा; जिसने कला के सम्बन्ध में अनेक भ्रामक विचारों की सृष्टि कर डाली। आधुनिक काव्य-चिन्तन और कला-दर्शन सौन्दर्य-सम्बन्धी एकांगी और भ्रामक धारणाओं पर आधारित है और उसने कला को प्रयोगी, वितण्डावादी और निरर्थक बना दिया है, ऐसा ताल्सताय का मत है।

ताल्सताय आधुनिक कला के दो रूप मानते हैं :

(१) अभिजात-वर्ग की कला

(२) सामान्य जनता और श्रमी वर्ग की कला

मध्यम वर्ग को वह अभिजात-वर्ग के अन्तर्गत ही रखते हैं। उनका विचार है कि कला का जीवन-बोधक और संस्कारी रूप जन-कला में सुरक्षित है और अभिजात-वर्गों में विकसित कला ह्रासमूलक, असंस्कारी और लक्ष्यभ्रष्ट है। उच्चवर्गीय कला का विषय-दारिद्र्य की ओर ताल्सताय ने विशेष रूप से इंगित किया है।[1] लोकप्रियता के ह्रास के साथ उसमें अनुभूति, विचक्षण, दीर्घसूत्री तथा दंभी विषयों की अवतारणा हुई है और उसने अहंता, कामेच्छा और विश्रांति को अपना मूल मंत्र माना है।[2] जीवन के प्रति असंतोष विश्रांति का ही फल है। यह स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि कला ने महान् उद्देश्यों से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है और वह नगण्य तथा साधारण भावनाओं के करील-कुञ्जों में खो गई है।

ताल्सताय के विचार कला को मानवतावादी (उपयोगितावादी) और व्यावहारिक सिद्ध करते हैं। उनमें बौद्धिक कला का बोध है। ताल्सताय का कहना है कि **"कला का कार्य है : जो तर्क के रूप में अगम्य और अबोध है उसे अनुभूय और बोधगम्य बनाना।"**[3] बोधगम्यता कला की पहली शर्त है और उदात्त कला प्रकृत्या बोधमयी, संजीविनी, संक्रामक और संस्कारी रही है। व्यावसायिकता, परिपाटी-बद्ध समीक्षा और निकाय वाद, कला की विकृति के तीन स्रोत हैं और इन विकृतियों के कारण कला की अन्तर्भूत निष्ठा एकदम क्षीण होकर विनष्ट हो गई है। उच्चवर्गीय कला में कृत्रिम कला-सृजन के लिए पूर्व कृतियों का ग्रहण और अनुकरण आवश्यक माना गया है और चमत्कार के लिए अकल्पित भाव-मुद्राओं तथा वैचित्र्यमय रूप-विधानों का अन्वेषण हुआ है। ताल्सताय काव्य और कला को इन विकृतियों से उबारकर उनके प्रकृत्या स्वस्थ और संस्कारी धर्मनिष्ठ रूप की पुनर्स्थापना करना चाहते हैं।[4]

१. 'कला क्या है', पृ० १०६-१०७।
२. वही, पृ० १०८।
३. वही, पृ० १३०।
४. वही, पृ० १४२।

यह स्पष्ट है कि ताल्सताय का कला-चिंतन रोमांटिक, बौद्धिक, प्रयोगी तथा प्रतीकवादी रचनाओं का विरोध करता है। वह सौन्दर्य को कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता। वह शिवं में ही सुन्दरं और सत्यं का पर्यवसान कर देता है। फलस्वरूप, कलाजन्य आनन्द की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह जाती। बामगार्टन की त्रयी (सत्यं, शिवं, सुन्दरं) में से ताल्सताय शिवं की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं और इस भूमिका पर उनकी कलादृष्टि धर्मदृष्टि बन जाती है। उसमें उच्चकोटि की नैतिकता, धर्मप्राणता और मानव-मात्र की अखंडनीय एकता का समाहार हो जाता है और एक प्रकार से कवि या कलाकार 'ऋषि' अथवा 'मनीषी' बन जाता है। कला की यह व्याख्या मनुष्य के नये मानस-क्षितिजों की उपेक्षा करती है और उसे एक रहस्यमय जीवन-बोध का अनुसंधित्सु बना देती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसमें जीवन की उदात्त और प्रेरक शक्तियों का उपयोग है और 'क्लासिक' कही जाने वाली कलाकृतियों की व्याख्या जितनी पूर्णता से उसके द्वारा सम्भव हो सकती है उतनी किन्हीं अन्य सिद्धान्तों द्वारा सम्भव नहीं है। समग्र चेतनावान् और परिपूर्ण सांस्कृतिक विकास के युगों में हमें बराबर ऐसी उदात्त, जीवनबोधमयी, प्राणवान् और परिपुष्ट कलाकृतियाँ मिलती रही हैं। कला का आदर्श ऐसी ही कृतियाँ हो सकती हैं, परन्तु युग-चेतना के खंडित और द्वन्द्वात्मक क्षणों को मूर्त्तिमान करने में समर्थ चटुल, प्रयोगी, अनास्थावान और क्षणजीवी कला-कृतियों का भी क्या अपना महत्त्व नहीं है। यह अवश्य है कि उनके लिए हमारे मापदण्ड छोटे और दूसरे होंगे; परन्तु उनकी उपादेयता में अविश्वास नहीं किया जा सकेगा।

ताल्सताय ने 'ह्वॉट इज़ आर्ट' (१८६७) में कला के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं उन्हें संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं :

(१) कला के लिए पाठक या श्रोता के प्रति संक्रामक होना आवश्यक है।
(२) कला उसी समय संक्रामक हो सकती है जब वह सर्वसुलभ और बोधमयी हो।
(३) कला के लिए धर्मप्राण होना आवश्यक है। अधिकांश महान् साहित्यिक कृतियाँ इस मापदण्ड पर पूरी नहीं उतरतीं, क्योंकि ताल्सताय के महान् आदर्श तक पहुँचना कठिन है, यहाँ तक कि शेक्सपियर भी ताल्सताय के आक्रोश से नहीं बच सका है।

वास्तव में ताल्सताय के कला-चिन्तन के पीछे रूसी चिन्तन-परम्परा है, जो समाजशास्त्रीय विचार-धारा को महत्त्व देती है और वे कला-चिन्तन को धार्मिक भित्ति देना चाहते हैं। चेरनिशेवेस्की (१८२८—८६), दोब्रोल्युब्राव (१८३६—६१), माइखेलोवेस्की (१८४२—१६०४), और सोवेव (१८५३—१६००), काव्य-कला तथा जीवन के पारस्परिक सम्बन्धों का अन्वेषण करते हुए 'कला' की स्वतन्त्र और मौलिक स्थिति का विस्मरण कर देते हैं और ताल्सताय को हम इस विचार-परम्परा की अन्तिम कड़ी ही मान सकते हैं। उनकी मान्यताओं के पीछे उनकी विश्व-विश्रुत श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियाँ और उनका जीवन-व्यवहार है। इस प्रकार उनका कला-चिन्तन एक परम्परा की परिणति ही माना जा सकता है।

यूरोपीय कला-चिन्तन पर ताल्सताय का प्रभाव आकस्मिक और गम्भीर रहा। रोगरफ्राइ ने इंगलैण्ड के समकालीन विचार-क्षेत्र पर उसके प्रभाव का उल्लेख करते हुए लिखा

है : "अतिशय का महत्वपूर्ण जो शेष रह जाता था वह यह विचार था कि कला-कृति किसी ऐसे सौन्दर्य का अनुलेख नहीं है जो पहले से कहीं उपस्थित है, वरन् वह कलाकार द्वारा अनुभूत और द्दष्टा द्वारा ग्रहीत रसावेश की अभिव्यक्ति है।"[1] परन्तु शीघ्र ही विश्लेषण द्वारा ताल्सताय के संक्रामक-सिद्धान्त[2] की एकांगिता भी दिखलाई पड़ने लगी। ताल्सताय के अनुसार संक्रामकता होने पर ही कोई कृति कला है और संक्रामकता की तरतमता ही कला-मूल्यों का निर्माण करती है। परन्तु संक्रामकता की यह तरतमता उन व्यक्तियों की संख्या पर भी निर्भर हो सकती है जो कला द्वारा प्रभावित हुए हैं और उस परिपूर्णता पर भी जिसका अनुभव उन्होंने कला-कृति के द्वारा किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ताल्सताय कला को "बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय" मानते हैं और उसकी सर्वमान्यता ही उनके लिए सर्वांगीणता है, परन्तु रसानुभव की परिपूर्णता के सम्बन्ध में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं[3] और आलोचकों ने उसमें असंगति खोज निकाली है।[4] परन्तु ताल्सताय ने जिसे विशेषानुभूति कहा है, उसे आलोचकों ने विशिष्टानुभति अथवा विकृत तथा वैचित्र्यमूलक अनुभूति मान लिया है, जो स्पष्टतः सर्वग्राही अथवा परिपूर्ण ग्रहीत नहीं हो सकती। विशेषानुभूति से ताल्सताय का तात्पर्य उच्चकोटि की धर्मानुभूति या विशेष प्रकार के परिपूर्ण और अन्तर्योजित जीवन-बोध से है। ताल्सताय असामान्य, रुग्ण, विभ्रममयी और प्रक्षिप्त मनोवृत्तियों को काव्य और कला के क्षेत्र में स्वीकार नहीं करते, जैसा बोदलेर, मेलार्मे, वर्ले आदि प्रतीकवादी कवियों की रचनाओं के सम्बन्ध में उनके विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है। अतः उनके 'विशेष' से 'निर्विशेष' ही ध्वनित है, अर्थात् जो सम्पूर्ण रूप से मानवी और संवेदनीय है। विषय-वस्तु महार्घ और उदात्त हो, नव्य हो, यह उनके विचार में उसकी विशेषता है। कला-व्यापार की बोधगम्यता और कलाकार की ईमानदारी पर बल देकर ताल्सताय ने स्पष्ट ही कला को 'कूटस्थ' होने से बचा लिया है। ईमानदारी से उनका

---

१. "What remained of immense importance was the idea that a work of art was not the record of beauty already existent elsewhere, but the expression of an emotion felt by the artist and conveyed to the spectator." (Vision & Design, p. 194)

२. "Art becomes more or less infectious in consequence of three conditions :
(i) In consequence of a greater or less peculiarity of the sensation conveyed.
(ii) In consequence of a greater or less clearness of the transmission of this sensation.
(iii) In consequence of the sincerity of the artist, that is, of the greater or lesser force with which the artist himself experiences the sensation which he is conveying." (What Is Art, Sec. xv)

३. "The more the sensations to be conveyed is special, the more strongly does it act upon the receiver ; the more special the condition of the mind is, to which the reader is transferred, the more willingly and the more powerfully does he blend with it." (Ibid)

४. I. A. Richards : Principles Of Literary Criticism, ch. xxiii, pp. 186-189.

तात्पर्य यह है कि वस्तु-विषय कलाकार के व्यक्तित्व द्वारा, तन्मयता और सर्वभुक्ता में ग्रहीत हो और तत्तत् रूप में निर्लेप ही पाठक, द्रष्टा या श्रोता द्वारा अनुभूय हो सके।

: २ :

उपयोगितावाद का एक अन्य रूप हमें आई० ए० रिचर्ड्स (१८८३—) की रचनाओं में मिलता है। १९२० के लगभग से उनकी रचनाएँ सामने आने लगती हैं। वास्तव में रिचर्ड्स की रचनाओं में नई मनोवैज्ञानिक धारणाओं और स्थापनाओं का प्रभाव पहली बार दिखलाई पड़ता है। रिचर्ड्स का सारा समीक्षात्मक समारम्भ प्रभाववादी समीक्षा के विरुद्ध है। उन्होंने कला-चिन्तन और समीक्षा को अधिक-से-अधिक विज्ञान का रूप देने की चेष्टा की है, जहाँ व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है, सब निरपेक्ष और नियोजित है। रिचर्ड्स ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि साहित्य का उद्देश्य पाठक या श्रोता में सन्तुलित मनोवैज्ञानिक स्थिति का निर्माण करना है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्द-शक्तियों की भी परीक्षा की है और शब्दों के नैरुक्तिक सम्बन्ध के द्वारा साहित्यिक कृति की विशिष्टता का उद्घाटन करना चाहा है। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक के दृष्टिकोण का संश्लेष है। उन्होंने विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति को आत्यंतिक विस्तार दे दिया है। उनके बाद उन्हीं क्षेत्रों में हर्बर्ट रीड और विलियम एम्पसन का नाम आता है जिनके द्वारा रिचर्ड्स के कार्य-क्षेत्र को महार्घता प्राप्त हुई है। रिचर्ड्स का कार्य उस कोटि का है जो साहित्य को जीवन के अन्य क्षेत्रों से और समीक्षा को अन्य विज्ञानों से सम्बन्धित करता है। परन्तु साहित्यिक विवेचन के लिए आनुषंगिक होने पर भी वह साहित्य की प्रक्रिया पर व्यापक रीति से प्रभाव डालता है।

रिचर्ड्स का काव्य-विवेचन शब्द-शक्तियों के अध्ययन से आरम्भ होता है, क्योंकि शब्द ही काव्य की इकाई है। वह मानवीय वाणी-व्यापार को चार दृष्टिकोणों से देखते हैं, अर्थात् अर्थ (सेंस), भाव (फ़ीलिंग), ध्वनि (टोन) और आकांक्षा (इनटेन्शन)। अर्थ के द्वारा हम पाठक या श्रोता का ध्यान किसी स्थिति की ओर आकर्षित करते हैं, परन्तु प्रत्येक अर्थ हमारे भाव-निकाय से भी सम्बन्धित होता है और शब्द में हमारी संवेदना भी ध्वनित रहती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक बात का कोई लक्ष्य या उद्देश्य रहता है और इस उद्देश्य के अनुसार शब्दों के अर्थ-मूल्य बदलते रहते हैं। बहुधा कवि या लेखक का उद्देश्य प्रच्छन्न रहता है और अन्य योगायोगों से ही उसे क्रियाशीलता मिलती है।[१]

रिचर्ड्स कवि के कथनीय और कविता में भेद करते हैं।[२] उनके अनुसार कवि का वैयाकरणीय तत्त्व विषय-वस्तु से स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उनकी एक उपपत्ति यह भी है कि काव्य में शब्द-ध्वनि और शब्द-मर्म, जिन्हें बहिरंग कहा जाता है, उसके अन्तरंग के विरोधी होते हैं और इस द्वन्द्व के भीतर से ही वाच्यार्थ बोधित होते हैं। कविता में शब्द-प्रयोगों और छन्दों की स्थिति इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि उनके द्वारा हम अन्तरंगीय भाव-बोध को ग्रहण करने के लिए संवेदित होते हैं[३]

१. Practical Criticism, pp. 181-183.
२. Science and Poetry, pp. 34-35.
३. Science and Poetry, p. 32.

परन्तु रिचर्ड्स का सबसे बड़ा प्रदेय कदाचित् कविता में विचारों या आस्थाओं की समस्या के सम्बन्ध में है। उन्होंने कविता को विचारों से स्वतन्त्र इकाई माना है। कविता में कवि के व्यक्तित्व का सार्वभौमिक प्रकाशन रहता है। इसीलिए विज्ञान के युग में भी कविता की सुरक्षा आवश्यक है। वास्तव में कविता विचार-निरपेक्ष और स्वतन्त्र रह-कर ही अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है। कविता का यह स्वातन्त्र्य वैज्ञानिक प्रवृत्तियों से ही सम्बन्ध नहीं रखता, राजनीतिक और सामाजिक विचारों से भी उसका स्वातन्त्र्य अपेक्षित है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कार्य कठिन है; क्योंकि महत् काव्य में कवि अनिवार्यतः अपने दृष्टिकोण के साथ अपनी आस्थाओं को भी गूँथ लेता है।[1] धर्म, दर्शन और राजनीति कविता को अपना माध्यम बनाते रहे हैं और आवश्यकता इस बात की है कि कविता को स्वातन्त्र्य प्राप्त हो। बुर्जुआ-काव्य-परम्परा की सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह बँधी-सधी आस्थाओं से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाता। काव्यानुभूति के माध्यम से ग्रहीता कवि और मानव-समाज से अपना सम्बन्ध जोड़ सकता है और कालान्तर में काव्यानुभूति वर्ग-चेतना का स्थान ले लेती है। सामाजिक क्षेत्र के द्वन्द्व कविता के विशुद्ध रसास्वादन में बाधक होते हैं तो हम सामाजिक संवेदनाओं के स्थान पर काव्यानुभूति को ही केन्द्रीयता क्यों नहीं दें ? यदि हम काव्यगत वस्तु-चेतना से मुक्त होकर विशुद्ध भावभूमि पर कविता का रसास्वादन कर सकें, यदि हम काव्य को एक ऐसा स्वतन्त्र निकाय मान लें जो राजनीतिक आदर्शों से निरपेक्षित और तटस्थ रह सके तो हम उन द्वन्द्वों से बच जाते हैं जो वास्तविक जीवन में हमारी संवेदनाओं को कुण्ठित करते हैं। समाज के विषय में किसी निश्चित समाधान तक पहुँचने में असमर्थ होने पर हम कुण्ठाग्रस्त और भाव-संकोची हो जाते हैं। कविता के स्वातन्त्र्य को स्वीकार करके हम समाज-चेतना से मुक्ति पा जाते हैं और सब प्रकार के विचारों में निरपेक्ष भाव से रस ले सकते हैं। विचार को मनःप्रक्रिया मात्र मानकर हम व्यवहार-क्षेत्र में उसके उपयोग की अनिवार्यता को अस्वीकार कर देते हैं, इस प्रकार समाज की सांस्कृतिक गतिविधि में हम भाग ले सकते हैं और उसकी व्यवहारगत स्थितियों और द्वन्द्वात्मक विषमताओं की ओर से आँख मूँद सकते हैं। इस प्रकार रिचर्ड्स की यह विचार-धारा कला-स्वातन्त्र्य को सन्तुलन (स्टेटस क्वो) की प्राप्ति का साधन बना देती है। यह स्पष्ट है कि यह सारी विचार-धारा एक प्रकार से आत्म-प्रवंचन है और पूँजी-वादी मनोवृत्ति की उपज है जो समकालीन जीवन से कला का नाता जोड़ना नहीं चाहती। परन्तु यह निश्चित है कि रिचर्ड्स ने कविता को युगीन समस्याओं से पलायन का माध्यम बनाया है। इस प्रकार सामाजिक समाधान और व्यावहारिकता का स्थानापन्न कविता बन जाती है परन्तु उसकी स्थिति एकांगी और वायवी रहती है। रिचर्ड्स का विचार है कि बौद्धिक आस्था के अभाव में भाव-संवेदना दुर्बल नहीं होगी। यह अवश्य है कि कुछ लोगों की संवेदना बौद्धिक विश्वासों से जुड़ी होती है। आधुनिक शिक्षा और विज्ञान-विषयक मान्यता बौद्धिक विश्वासों को सर्वोपरिता देती है और जो संवेदनाओं के क्षेत्र में भी बुद्धि का नेतृत्व स्वीकार कर लेते हैं उनकी काव्यानुभूति ही समाप्त हो जाती है।[2]

१. Science and Poetry, p. 86.
२. Practical Criticism. p. 278.

आस्था का प्रश्न एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है; क्योंकि कवि की आस्था जिन चित्रों या मूल्यों का निर्माण करती है उन्हें स्वीकार या अस्वीकार तो किया जा सकता है, उनकी वैज्ञानिक परख नहीं हो सकती। एक प्रकार की आस्था परीक्षणीय हो सकती है, परन्तु परीक्षा करने पर वह सही या गलत उतर सकती है या हमारे मापदण्डों के बदल जाने पर उसका स्वरूप ही बदला जा सकता है। इस प्रकार की परीक्षणीय आस्थाओं से काव्यानुभूति का सच्चा स्वरूप स्थापित नहीं होता। अतः आस्था का एक स्वरूप कल्पनात्मक या भावात्मक हो सकता है और कवि अपनी सब प्रकार की धारणाओं को इस प्रकार की आस्था दे सकता है। विज्ञान का सत्य कल्पना का सत्य बनकर सब लोगों को सब स्थितियों में स्वीकृत हो सकता है और उसकी परीक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। कल्पना-जगत् में विचार-जगत् के नियम लागू नहीं होते; क्योंकि कल्पना में दो विरोधी धर्मों का समाहार सम्भव है। कल्पित आस्थाएँ तर्कजन्य नहीं होतीं, उनके निर्माण में धारणाओं, भावनाओं और आकांक्षाओं का विलक्षण योगायोग रहता है। विचारों की तरह उन्हें सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हम उन्हें वास्तविकता की तुला पर नहीं तौल सकते। परन्तु वास्तविकता द्वारा परीक्षणीय न होने पर भी उन्हें आन्तरिक तो होना ही होगा।

परन्तु जब रिचर्ड्स भावना के सत्य को धारणा के सत्य से अलग करके उसे 'मिथ्या' (सूडो स्टेटमेंट) कहने लगते हैं तो बात कम विश्वसनीय हो जाती है। उनका विचार है कि यह मिथ्या प्रपत्तियाँ उस सीमा तक 'सत्य' हैं जिस सीमा तक उनके द्वारा हमारी संवेदनाओं और हमारे दृष्टिकोणों को संगठित या शृङ्खलित किया जा सकता है।[१] परन्तु अन्यत्र रिचर्ड्स क्षोभ प्रकट करते है कि नये ज्ञान ने हमारे असंख्य विश्वासों को मिथ्या सिद्ध कर दिया है; परन्तु कविता में हम उन्हें सत्य ही मानकर चल रहे हैं और इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के सामने एक बड़ा संकट खड़ा हो गया है। जिस नये ज्ञान को उन्होंने मिथ्या सिद्ध कर दिया है, वह स्वयं इतना सूक्ष्म और भाव-संकुल नहीं है कि कविता का विषय बन सके। ईश्वर, जीवात्मा, सृष्टि, नियति आदि सम्बन्धी अनेकानेक धारणाएँ आज अविश्वसनीय बन गई हैं, परन्तु मनुष्य के भाव-निकाय से उन्हें निकाला नहीं जा सका।[२] बहिर्मुखी सत्य के किसी धारणा का मेल न भी हो, अन्तर्मुखी सत्य अथवा संवेदनीय जीवन का सत्य बनकर वह धारणा महान् बन सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। बहिर्मुखी सत्य का आधार वस्तु-जगत् अथवा तत्सम्बन्धी धारणा है, परन्तु अन्तर्जगत् का सत्य कवि की मनःस्थिति या उसकी अनुभूति पर आधृत है। सच तो यह है कि सत्यासत्य के तर्क-वितर्क में रिचर्ड्स अनजाने ही दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। कालरिज पर लिखे अपने एक निबन्ध (कालरिज आन इमेजिनेशन, १९३४) में उन्होंने काव्यगत सत्य के दो रूप निर्धारित किये हैं : (१) मन की अनुभूति वास्तविकता या तथ्यता को प्रकट करने वाली उक्तियाँ और (२) कल्पित वस्तु-स्थितियों से सम्बन्धित उक्तियाँ। पहली प्रकार की उक्तियाँ वस्तुगत और महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे प्रकार की उक्तियों में कवि वस्तुगत तथ्य को छोड़कर अपनी तत्कालीन चेतना को ही लिपिबद्ध कर रहा है। संवेदनाओं और भंगिमाओं

१. Science and Poetry. pp. 58-9.
२. वही, पृ० ६०।

का यह संसार उसके लिए संपूर्णतः सत्य है और उसकी तल्लीनता के कारण ही उसका यह सत्य पाठक या श्रोता के लिए भी सत्य की प्रतीति बन जाता है। इस प्रकार कविता की संपूर्णता में वस्तु-सत्य और भाव-सत्य दोनों युगबद्ध हैं। कुछ विद्वानों के विचार में सत्य की यह द्विधा भ्रामक है। दोनों की भूमिकाएँ ही अलग नहीं हैं (वस्तुपरक और व्यक्तिपरक) उनके आपेक्षिक घनत्व में भी अन्तर है। वस्तु-सत्य स्थूल और परिमाणबद्ध है, भाव-सत्य तरल और सूक्ष्म होने के कारण वस्तु-जगत् के मापदण्डों से स्वतन्त्र है। वास्तव में समस्या यह है कि विज्ञान-जगत् में हम संवेदनात्मक मूल्यों को लेकर चल सकते हैं या नहीं। संवेदनात्मक मूल्य भी कालांतर में बदल जाते हैं, जैसे मध्ययुग का भौतिक परिवेश ही आज नहीं बदल गया है, उसका भाव-सत्य भी आज हमारे लिए दुर्ग्राह्य है। अतः यह आवश्यक है कि काव्य को हम एकदम सभी प्रकार की आस्थाओं से मुक्त कर दें। रिचर्ड्स के विचार में भविष्यत् काव्य का रूप आस्थामुक्त होगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनास्था ही काव्य का रूप ले लेगी; जैसा कि आधुनिक कविता में हो रहा है। यह भविष्यत्-काव्य कैसा होगा, यह अभी अकल्पनीय है; परन्तु रिचर्ड्स का विश्वास है कि कविता से ही हमारी सुरक्षा सम्भव है।[१]

परन्तु क्या किसी कवि के लिए अपनी कविता और अपने (बौद्धिक) विश्वासों को सम्पूर्णतः अलग-अलग रखना सम्भव है। रिचर्ड्स इस सम्भावना के प्रति विश्वासी हैं।[२] परन्तु कविता की परिपूर्ण रसानुभूति के लिए क्या यह आवश्यक नहीं है कि हम कवि की आस्था में भी भाग ले सकें। ऐसी कविता कहाँ मिलेगी जहाँ भाव-जगत् और विचार-जगत् का पूर्ण विच्छेद हो। कवि की वैचारिक निष्ठा का अध्ययन दर्शन, धर्म या राजनीति-शास्त्र का विषय हो सकता है, परन्तु उसे छोड़कर विशुद्ध काव्य-रस की खोज भी निरर्थक रहेगी। टी० एस० इलियट ने रिचर्ड्स की इन मान्यताओं की विस्तृत परीक्षा की है और वह इन्हें अर्द्ध सत्य ही मानते हैं,[३] क्योंकि उनके विचार में काव्य-सृजन की भाँति रसास्वादन भी समग्र प्रक्रिया है; जिसमें बौद्धिक तत्त्वों को विशुद्ध काव्यात्मक तत्त्वों से अलग नहीं किया जा सकता।

रिचर्ड्स ताल्सताय की भांति नीतिवादी नहीं हैं। वह परम्परित नीतिवादिता का विरोध करते हैं, क्योंकि जीवन-व्यापार इतना सूक्ष्म और तरल है कि वह किसी भी सिद्धान्त या आचार के चौखटे में नहीं बाँधा जा सकता।[४] परन्तु उनकी यह आस्था है कि जीवन का सौन्दर्य और स्वास्थ्य इसीमें है कि उसमें हमारी मौलिक प्रवृत्तियाँ संगठित और व्यवस्थित हों। श्रेष्ठ कला हमारी संवेदना को संतुलित और नियोजित करती है और कला-समीक्षा का कार्य यही है कि वह कला के इस पक्ष का उद्घाटन करे और इस संतुलन तथा नियोजन को अधिक-से-अधिक पाठकों तक पहुँचाए। युग-परिवर्तन के साथ नीति और आचार में भी परिवर्तन हो जाता है, परन्तु जीवन के मूल्य नहीं बदलते, क्योंकि इन मूल्यों

१. Practical Criticism, pp 179 ff and pp 271 ff.
२. Science & Poetry. p. 76 foot-note.
३. Selected Essays (1917-32), pp 229-31.
४. Principle of Literary Criticism, p 62.

की महार्घता चिरस्थायी संवेदनीय तत्वों पर आधारित है। कोई चीज़ हमें अच्छी या सुन्दर उसी समय लगती है जब वह तोष देती है, अर्थात् हमारी महत्वपूर्ण संवेदनाओं में बाधक नहीं होती। इस प्रकार नैतिकता का प्रश्न संवेदनाओं की व्यवस्था का प्रश्न बन जाता है। व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति और समाज, समाज और समाज की पारस्परिक मनोवैज्ञानिक व्यवस्था ही 'मूल्यों' का सृजन करती है। व्यवस्था के अभाव में मूल्य स्वयं तिरोहित हो जाते हैं और उलझनों तथा कुण्ठाओं का जन्म होता है।

इस संदर्भ में काव्य और कला में मनुष्य के मन की सबसे अधिक मूल्यवान स्थिति का प्रकाशन है जिसमें अभाव, संघर्ष, असन्तोष और निरोध नहीं रहते और फलस्वरूप त्रण और कुण्ठा को स्थान नहीं मिलता। प्रवृत्तियों का व्यापक समन्वय ही काव्य और कला का मूलाधार है।[1] रिचर्ड्स ने 'मूल्य' में मनोवैज्ञानिकता की स्थापना विस्तार पूर्वक की है।[2] साहित्य और कला के द्वारा आंतरिक एवं मनोवैज्ञानिक व्यवस्थापन सम्भव है, यह उनकी मान्यता है, परन्तु यह व्यवस्थापन चेतन योजना नहीं है। इस प्रकार रिचर्ड्स की साहित्य-कला-सम्बन्धी मान्यता मनोवैज्ञानिक और उपयोगितावादी कही जा सकती है। मनुष्य, समाज और संस्कृति के आंतरिक जीवन में काव्य और कला की उपादेयता इसी संदर्भ को लेकर है।[3] ताल्सताय की 'धर्म' पर आधारित नैतिकता के स्थान पर रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान पर आधारित आंतरिक व्यवस्था (संघर्षहीन संतुलित मनःस्थिति) को रख दिया है। इस प्रकार साहित्य और कला का उद्देश्य मनोवृत्तियों का परिष्करण, व्यवस्थीकरण और उदात्तीकरण है। इस प्रक्रिया में जिस आत्मबोध या उदात्त मनःस्थिति का परिचय होता है, वही साहित्य अथवा कला का आनन्द है। कल्पना, रस, संवेदना, भावना आदि इसी आनन्द के पर्याय हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि रिचर्ड्स के लिए काव्य और कला अन्तःसंयोजन के माध्यम हैं 'अनेकचित्तविभ्रांत' सहृदय उनके द्वारा अविरोधी मनःसंहृति प्राप्त करता है। फलस्वरूप रिचर्ड्स का उपयोगितावाद व्यावहारिक हो जाता है। मनोवैज्ञानिक प्रपत्तियों और संवेदनाओं के ठोस आधार को वह ग्रहण करता है, ताल्सताय के नीतिवाद की तरह किसी सूक्ष्म और वायवी धर्मबोध का आश्रय नहीं लेता। परन्तु व्यावहारिकता की भी अपनी सीमाएँ तो हैं ही। पहली बात तो यह है कि रसात्मक संवेदना को स्नायुज मानकर रिचर्ड्स मानसिक चेतना को सूक्ष्म आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक उठने नहीं देते। भारतीय रस-सिद्धान्त में इस संवेदना को लोकोत्तर और अतीन्द्रिय माना गया है। इसके मूल में भारतवर्ष की आदर्शप्राणता है, परन्तु इससे काव्य तथा जीवन की विभिन्न भूमियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। काव्य जीवन नहीं है। जीवनगत अनुभूतियों से काव्यगत अनुभूतियाँ भिन्न हैं। रिचर्ड्स की व्यवस्था में यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता। दूसरी बात यह है कि रिचर्ड्स की 'मूल्य'-सम्बन्धी विचारणा अन्तःतोष, व्यवस्था और सम्पूर्ण व्यक्तित्व की क्रियमाणता पर बल देती है, परन्तु ये तत्व सापेक्षिक ही माने जा सकते हैं और दो या कई श्रेष्ठ रचनाओं

---

१. Principle of Literary Criticism, p. 59.
२. Ibid, (A Psychological Theory of Value, p. 57)
३. Ibid, p. 57.

की तुलना करते समय किसी शाश्वत मापदण्ड की अनिवार्यता बनी ही रहती है। परन्तु ऐसा कोई भी शाश्वत मापदण्ड रिचर्ड्स की धारणा में संभव नहीं है; क्योंकि उनका विचार है कि कालांतर में सामाजिक संगठन तथा भौतिक परिवेश के बदलने से हमें ऐसे नये मनःसंगठन की उपलब्धि हो सकती है, जिसमें प्रवृत्तियों तथा संवेदनाओं का स्वरूप ही भिन्न हो।[1] उनके 'मूल्य' स्थापन में सम्पूर्ण मानव-विकास और भविष्यत् संयुक्त हो जाता है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि रिचर्ड्स के साहित्य-सिद्धान्त समीक्षा को वैज्ञानिकता का ठोस आधार देने में समर्थ हुए हैं और उनकी मान्यताओं एवं प्रक्रियाओं में मनोविज्ञान की अद्यतन उपलब्धियों का सुन्दर ढंग से समावेश हुआ है। पूर्वतन क्लासिकल परम्परा और नीतिवादी दृष्टिकोण में साहित्य एवं कला के जिस उदात्त, जीवन-बोधी और परिष्कारी रूप की स्थापना हुई थी उसे रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान और भाषा-शास्त्र का समर्थन दिया है। सीमाओं के रहते हुए भी उनकी मान्यताओं का मूलगत महत्त्व उसी प्रकार बना रहेगा जिस प्रकार ताल्सताय की नीतिवादी मान्यताएँ कुछ विशिष्ट प्रकार की कला-कृतियों के लिए सदैव महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगी।

डॉ० सिद्धार्थ

पश्चिमी साहित्य के आदर्शवादी समीक्षा-सिद्धान्त

आदर्शवादी सौन्दर्य-शास्त्रीय समीक्षा का उद्गम प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट के 'क्रिटिक ऑफ जजमेण्ट' (१७६० में प्रकाशित) से होता है, जिसके मूल निष्कर्षों को केन्द्र बनाकर समस्त आधुनिक सौन्दर्यवादी समीक्षा अपनी वैचारिकता की परिधि पर घूमती रही हैं। 'क्रिटिक ऑफ जजमेण्ट' में ही कांट ने सर्वप्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया कि सौन्दर्य का क्षेत्र विज्ञान-नीति अथवा उपयोगिता के क्षेत्र से अलग एक स्वतन्त्र अस्तित्व है; क्योंकि सौन्दर्यपरक स्थिति-सम्पन्न मानसिक प्रक्रिया हमारे आनन्द, उपयोगिता, सत्य अथवा शिवत्व के सामान्य गुण-सम्बन्धी भाव-बोध से नितान्त भिन्न है। कांट ने ही कला को 'निर्लिप्त संतुष्टि' (Disinterested Satisfaction) की प्रसिद्ध परिभाषा दी, जिसकी भ्रामक व्याख्या ने कलावादी विचारकों को अपनी अतिवादी प्रवृत्तियों के विकास का मार्ग बता दिया। 'निर्लिप्त संतुष्टि' से कांट का अभिप्राय वासनाओं के आन्दोलन से अप्रभावित रहकर कला से प्रत्यक्ष सम्पर्क-स्थापन एवं सामयिक उपयोगितावादी लक्ष्यों की पूर्ति का साधन न बनने से था। कांट ने सामाजिक जीवन एवं दर्शन में कला की महान् भूमिका के महत्त्व को भी कहीं अस्वीकार नहीं किया।

कला के इस स्वतन्त्र स्वशासित रूप पर कांट के पहले हचीसन एवं मैंडेल सॉन-जैसे चिन्तकों द्वारा विचार हुआ था, किन्तु कांट ने ही उसे सर्वप्रथम अन्य क्षेत्रों से भिन्न करके ऐन्द्रिकता, नैतिकता, बौद्धिकता एवं उपदेशात्मकता के विज्ञापनकर्त्ता-जैसे गौरवहीन

१. Ibid, (A Psychological Theory of Value, p. 289.)

व्यावहारिक पद से अलग करके स्वतन्त्र, स्वशासित आत्म-राज्य के गौरवमय आसन पर स्थान दिया। कांट में ही, कला का आदर्शवादी चिन्तन, सर्वप्रथम, तर्कयुक्त शृंखलाबद्ध एवं सुनियोजित सैद्धांतिक पीठिका पर स्थापित मिलता है। सौन्दर्य के निर्णयात्मक पक्ष में रुचि-सापेक्षता एवं आत्मपरकता के फलस्वरूप उभयनिष्ठ सर्वमान्य प्रतिमानों की आवश्यकता का अनुभव करते हुए कांट ने आत्मपरकता को स्वीकार करते हुए भी यह कहा कि प्रत्येक सौन्दर्यपरक निर्णय, आत्मपरक भावना-मात्र होता है और वह साधारण ज्ञान की कसौटी पर सार्वभौमिक प्रामाणिकता का अधिकारी है। कांट ने कला को आध्यात्मिक ऊँचाइयों पर स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि कलात्मक सौन्दर्य द्वारा प्रकृति की अन्तर्निहित प्रतीक-शक्ति के समान उच्चतर तथ्यों का उद्घाटन होता है।

कांट ने कला एवं प्रकृति में आश्चर्यजनक साम्य लक्ष्य किया है। कला और प्रकृति दोनों 'उद्देश्यहीन तथ्य' (purposeless purposiveness) हैं। कला एवं प्रकृति की सृष्टि-प्रक्रिया, अलंकृत अर्थ में, समानान्तर भूमि पर गतिशील कही जायँगी। कांट के अनुसार विश्व 'आवश्यकता' (necessity) एवं 'स्वतन्त्रता' (Moral Freedom)-जैसे दो क्षेत्रों में विभक्त है। 'आवश्यकता' इन्द्रियों एवं ज्ञान द्वारा तथा 'स्वतन्त्रता' कर्म द्वारा ग्राह्य हैं। कांट ने आवश्यकता एवं स्वतन्त्रता की द्वैतमूलकता का मध्यवर्ती केन्द्रबिन्दु कला को मानते हुए उसके द्वारा उनके विरोध के परिहार की संभावना व्यक्त की है। कला समष्टि एवं व्यष्टि, प्रज्ञा एवं विचार-कल्पना तथा तर्क के समन्वय-स्थापन का महान् कार्य करती है।

कांट के अनुसार शुद्ध सौन्दर्य न संवेग (Emotion) है, न रुचिपरक संवेदन; (Sensation) अपितु वह सौन्दर्य-बोध निर्णय की एक स्वतन्त्र क्रिया है। कांट ने सौन्दर्यानुभूति एवं उस पर मूल्यारोपण को व्यष्टि अथवा समष्टि की सौन्दर्य-भावना के आधार पर इन्द्रियों के माध्यम द्वारा निर्णीत स्वीकार किया। कांट ने कला में मात्र आनन्द गुण को ही स्वीकार किया है। उनका मत है कि जो सुन्दर है वह उदार और उदात्त है और उसके द्वारा नैतिकता की पुष्टि होना साधारणतः स्वाभाविक है। कांट के मतानुसार कला का प्रयोजन उपदेशात्मक नहीं होना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्ष प्रयोजन एवं उपयोगितावादी नियमों में बँधकर कला अपने अन्तरंग मूल्यों की रक्षा नहीं कर सकती।

फ्रेडरिक शिलर (१७५६-१८०५) ने कांट की दार्शनिक निष्पत्तियों को सर्वप्रथम साहित्यिक परिवेश में उपस्थित किया। यद्यपि शिलर के साहित्य-सिद्धान्त कांट के ऐपिस्टेमोलॉजी एवं सौन्दर्य-शास्त्र से निसृत हैं, किन्तु फिर भी उसे कांट का शिष्य-मात्र नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसने कांट के तथ्यों पर आधारित अपनी व्याख्याओं एवं निष्कर्षों में प्रचुर मौलिकता का परिचय दिया है। यह भी कहा जा सकता है कि शिलर ने अपने समीक्षा-सूत्र की प्रेरणा कुछ अंशों तक शेफ्टसबरी और जर्मनी में लेबनिज़ की शिष्य-परम्परा से भी ली। शिलर की विचार-धारा का जर्मन-चिन्तन के माध्यम से पश्चिमी समीक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ा (श्लैगेल-द्वय एवं शैलिंग इंगलैण्ड में कॉलरिज, हीगेल के द्वारा रूस में बेलिंस्की, इटली में डी सेंक्टिस एवं फ्रांस में तेन की विचार-धारा को शिलर के साहित्य-चिन्तन ने महत्त्वपूर्ण निर्देश दिए) 'लेटर्स ऑन दि एस्थेटिक एजुकेशन

ऑफ मैन' (१७९५) में शिलर के कला-विषयक सौन्दर्यवादी विचार संग्रहीत हैं, जिनमें कला प्रकृति एवं मनुष्य की मध्यवर्ती स्थिति में कल्पित की गई है और बुद्धि संवेदन की इन ध्रुवीय स्थितियों को एक सूत्र में आबद्ध करके मनुष्य के आंतरिक एवं बाह्य जीवन के संतुलन का आग्रह करके उसे एक दिव्य सम्पूर्णता देने का प्रयास करती है।

शिलर का सबसे महत्त्वपूर्ण समीक्षा-ग्रन्थ 'On Naive and Sentimental Poetry' (१७९५-९६) है, जिसमें 'Naive' वस्तुपरक यथार्थवादी प्रकृति की अनुकृतिमूलक निर्वैयक्तिक काव्य है, और 'Sentimental' द्वारा चिन्तनात्मक आत्म-चेतना से परिपूर्ण वैयक्तिक संगीतात्मक काव्य का अभिप्राय द्योतित किया गया है। 'सेंटिमेण्टल'[1] कवि के समक्ष आदर्श एवं यथार्थ के मध्य विशाल खाई को सेतुयुक्त करने का प्रश्न उठता है (यहाँ कांट के विचारों की छाप स्पष्ट है) जिसके समाधान के लिए वह प्रस्तुत वैकल्पिक निर्णयों में से अपनी विशिष्ट प्रवृत्ति को निश्चित करता है। शिलर[2] के साहित्यिक आदर्श में 'नेव' और 'सेंटीमेंटल' प्राचीन एवं अर्वाचीन, प्रकृति एवं कला तथा भावना एवं बुद्धि के समन्वय का स्वप्न है। प्रकृति, कला एवं आदर्श, शिलर की समीक्षा में तीन प्रमुख श्रेणियाँ हैं, जो 'नेव' 'सेंटीमेण्टल' एवं संश्लेषित काव्य के समकक्ष ठहरती हैं; किन्तु जिनकी अभिव्यक्ति के लिए शिलर द्वारा किसी विशिष्ट समीक्षात्मक शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। शिलर ने इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियों का विश्लेषण कुशलता से किया है।

शिलर के कला-विषयक सिद्धान्तों का आदर्शवाद नवीन कला-चिन्तकों के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा-स्रोत रहा है। हीगेल, और कदाचित् श्लैगेल एवं शैलिंग के माध्यम से कॉलरिज में शिलर के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि है। हीगेल ने 'Lectures on Aesthetics' में शिलर के सौन्दर्य-शास्त्रीय विचारों की देन को स्वयं ही स्वीकार किया है। हुजिंग के होमो लडेन्स (Homo Ludens) एवं जुंग के अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी वर्गीकरण शिलर के नवीन संस्करण हैं।

शिलर के 'सौंदर्यात्मक आभास' (Shein) ने नवीनतम सौंदर्यवादी चिन्तकों को प्रभावित किया है, जिनमें सुसैन के लैंगर प्रमुख हैं; जो अपने Feeling and Form नामक ग्रंथ में शिलर को अपने निष्कर्षों का सैद्धांतिक जनक स्वीकार करती हैं।

हीगेल-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु सृष्टि-विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है, जिसमें 'स्थापना', 'प्रति-स्थापना' एवं 'समन्वय' की विरोधी स्थितियों द्वारा 'भाव' विकासमान होता है। 'तर्क', 'प्रकृति' एवं 'मन' दर्शन के तीन सुविभाजित धरातल हैं जिनके माध्यम से चेतना स्थूल का पूर्ण निराकरण करने में सफल होती है। मन भी, 'आत्मपरक', 'वस्तुपरक' एवं 'परम' इन तीन वर्गों में विभाजित है। परम स्थिति (Absolute) मन विकास का अन्तिम चरण है; जहाँ स्वतन्त्र, निरपेक्ष, अखंड आनंद का बोध होता है। इस प्रकार हीगेल[3] ने कला

१. History of Modern Criticism. Vol. I.
(The later Eighteen Century) Page 235. Rene Wellek.
२. Rene Wellek, History of Modern Criticism
(The later Eighteenth Century) Vol. I. Page 236.
३. Art discharges its highest task in realizing and expressing the divine, the

को परम मन के ऊर्ध्वगामी विकास का महत्त्वपूर्ण माध्यम माना है। कांट, शिलर एवं शैलिंग की भाँति हीगेल ने भी आग्रह किया है कि कला[१] संवेदना को आध्यात्मिक एवं आध्यात्मिक को संवेदनीय बनाती है और कला में समष्टिगत तत्त्वों को व्यष्टि-चेतना के रूप में एवं व्यष्टि-चेतना को समष्टिगत तत्त्वों में, भाव एवं रूप के पूर्ण एकीकरण द्वारा अभिव्यक्त होना चाहिए। हीगेल का प्रसिद्ध कला-सूत्र **"प्रत्यय की संवेदनापरक अनुरूपता"** (the sensuous semblance of the idea) है।[२] कला उसकी दृष्टि में एक स्वयं-साध्य स्वसम्पूर्ण सत्ता है। संक्षेप में यही वे मूल सैद्धांतिक आधार हैं—जिनकी नवीन व्याख्याओं द्वारा परवर्ती आदर्शवादी समीक्षा आगे बढ़ी।

कलावाद

कला कला के लिए (Art for art's sake) वस्तुत: फ्रेंच शब्दावली "L' Art Pour L' Art" का अनुवाद है जिसके प्रणेता विक्टर कोजिन (१७६२-१८६७) माने जाते हैं।[3] कुछ समीक्षकों के मतानुसार इस शब्दावली को सर्वप्रथम विक्टर ह्यूगो ने एक विचार-गोष्ठी में प्रयुक्त किया, किन्तु विक्टर ह्यूगो स्वयं इस उत्तरदायित्व को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। गॉतियर देनां फ्लावेयर और बादलेयर में कलावाद की सीमाएँ प्रशस्त हुई। आस्कर वाइल्ड एवं 'यलो बुक' नामक त्रैमासिक पत्रिका का आन्दोलन के पोषण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस से यह विचार-धारा जब इंग्लैंड में आई तो ह्विसलर और पेटर द्वारा इसे विशेष प्रचार मिला।

रचनात्मक साहित्य के क्षेत्र में ह्विसलर उक्त सिद्धांत के प्रथम प्रयोगी स्वीकार किये जायँगे। यह कलावादी दृष्टि बाद में सर आर्थर क्विलर काऊच क्लाइव बेल और ब्रेडले-जैसे समीक्षकों के नेतृत्व में एक सुस्पष्ट साहित्यिक सिद्धांत-पीठिका पर स्थापित हुई। क्रोचे के अभिव्यंजनावादी सिद्धांत की कतिपय दार्शनिक निष्पत्तियों से कलावादियों की वैचारिकता को विशेष सहयोग एवं संवर्धन मिला। पेटर की सौंदर्यवादी विचारात्मकता-आग्रहशील होकर उसे शैली को ही कला का पर्याय मान लेने के निष्कर्ष की ओर ले गई। 'Style is Art' वाल्टर पेटर का यह सिद्धांत कला एवं नीति-सम्बन्धी रस्किन के साहित्यिक सिद्धांत की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ। रस्किन की मान्यताओं में कला और साहित्य की स्थिति

deepest interests of man, the broadest truths of the spirit." Rene Wellek. History of Modern Criticism. Vol. II. Page 328 (The Romantic Age)

१. "Makes the sensuous spiritual and the spiritual sensuous."
Rene Wellek. History of Modern Criticism. Vol. II (the Romantic Age)—Page 320.

२. "Beauty is the concrete universal itself. A work of art is a totality organised in every detail creating a self-enclosed world lacking external purpose." Ibid. Page 320.

३. "The phrase" L' Art pour, L' art" has been attributed to Victor Cousin, on the other hand Victor Hugo apparently claimed to have launched this idea in discussion about 1829—violently though he disclaims it in William Shakespeare (1864)." F.L. Lucas. Literature and Psychology. Page. 227.

नैतिक मर्यादाओं की तुला पर प्रयोग करने के लिए उपयोगी प्रतिमानों के समतुल्य है। कला वहाँ नीति-शास्त्र के द्वारा पूर्णतः अनुशासित है। उसका कार्य एक आज्ञाकारी सेवक की भाँति अपने अस्वस्थ स्वामी की परिचर्या है। रस्किन ने नैतिक अवमूल्यन की संक्रामक व्याधि से पीड़ित मानव-समुदाय को सहानुभूति, सान्त्वना एवं उपचार आदि प्रदान करने की कल्याणकारी योजना के लिए साहित्यकार को सबसे उपयुक्त और प्रमुख कार्यकर्त्ता माना। नैतिकता का यह[1] अतिवादी दृष्टिकोण किसी अनैतिक व्यक्ति को श्रेष्ठ साहित्य एवं कला का स्रष्टा स्वीकार ही नहीं करता। उसकी धारणा है कि—साहित्य का प्रथम और अन्तिम ध्येय समाज में श्रेष्ठ नैतिकता की प्रेरणा, प्रसार एवं पोषण है। इस अतिवादी स्थिति का विरोध स्वाभाविक था, किन्तु विरोध के प्रबल, उग्र आन्दोलनों के उन्माद में समीक्षकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान ही नहीं दिया कि नीतिवादी कला के प्रतिद्वन्द्वी बनकर वे स्वयं अतिवादी विचारों को प्रश्रय देते जा रहे हैं। परिणामतः साहित्य पेंडुलम के समान प्रतिक्रिया के रूप में एक अतिवादी छोर से दूसरे अतिवादी छोर पर जा पहुँचा।

वाल्टर होरेशियो पेटर ने साहित्यकार की साधना को विशेष महत्त्व दिया। साहित्य उसकी दृष्टि में श्रेष्ठतम सौन्दर्य की उच्चतम साधना का नवनीत रूप था। साहित्यकार के ऐकान्तिक चिन्तन एवं असामाजिकता को उसने साहित्यकार का विशेष गुण माना। पेटर का विचार था कि कला की साधना में एकनिष्ठता स्थिर मनोभूति, तटस्थ व्यक्तित्व एवं मानसिक दौर्बल्य से प्रसूत अकल्याणकारी सस्ते भावुक मनोविकारों पर अंकुश रखने वाला मर्यादित संयम आवश्यक है। उसने साहित्यकार को अपनी कला तक ही स्वयं को सीमित रखने का परामर्श दिया, क्योंकि उसकी दृष्टि में कलाकार को कला के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की ओर ध्यान देना कलात्मक ह्रास एवं विक्षेप को आमंत्रित करना था। पेटर ने कलाकार को जीवन एवं जगत् के अन्य तथ्यों के प्रति उपेक्षाशील रहकर एकांततः और एकाग्रतः अपनी साधना में निरन्तर लिप्त रहने का उपदेश दिया। वर्ड्सवर्थ की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उसने विश्लेषण किया कि वर्ड्सवर्थ के काव्य में विशुद्ध साहित्यिक एवं लौकिक जीवन से सम्बद्ध दो स्पष्ट भिन्न-भिन्न स्तर हैं। और वर्ड्सवर्थ की वे रचनाएँ कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ हैं जिनमें उनकी दृष्टि विशुद्ध कलात्मक भाव-सत्ता पर मूलतः केन्द्रित है और वे रचनाएँ, जिनमें उनकी दृष्टि इस कलात्मक संयम का निर्वाह नहीं कर सकी है, निश्चय ही निम्न कोटि की हैं। वाल्टर पेटर ने अपनी एक लम्बी कविता 'मेरियस दि एपीक्यूरियन' में इन्हीं विचारों के प्रतीक-स्वरूप एक चरित्र की सृष्टि की है जिसका नाम 'मेरियस' है। 'मेरियस' एकांतिक रूप से विशिष्ट विचारों का एकनिष्ठ अध्येता है जो जगत् की अन्य वस्तुओं के प्रति वैराग्यमूलक तटस्थता को ग्रहण करके श्रेष्ठतम विशुद्ध विचारों के अध्ययन में लिप्त रहता है और परिणामतः यद्यपि वह सांसारिक जीवन के अनिवार्य उपयोगी मूल्यवादी प्रतिमानों पर भले ही व्यर्थ सिद्ध हो, किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में वह एक आदर्श व्यक्ति

१. "Ruskin over-emphasizes the correspondence between art and morality. Beauty may be the concrete final expression of rightness. But rightness of what? Not necessarily of conduct, but of feeling."
A history of English Literature. Compton—Rickett. Page 562.

बन जाता है। मेरियस की सृष्टि द्वारा वाल्टर पेटर ने यह प्रतिपादित किया है कि कला स्वयं में एक महान् तत्त्व है और इसकी साधना आत्म-निरपेक्ष है। इस तथ्य को वाल्टर पेटर ने 'Experience for Experience's sake' शीर्षक दिया है। अनुभव उसकी दृष्टि में स्वतः अपना साध्य है और वह किसी अन्य वस्तु का साधन नहीं है। साहित्य का क्षेत्र अनुभूतियों के प्रकाशन का क्षेत्र है और अनुभूतियाँ स्वतन्त्र निरपेक्ष साध्य-सत्ताएँ हैं; अतः साहित्य एवं कलाओं की जीवन-निरपेक्ष स्थिति आश्चर्य का नहीं वरन् प्रशंसा का विषय होना चाहिए। इस प्रकार अनुभूति के लिए अनुभूति, प्रज्ञा के लिए प्रज्ञा और सौन्दर्य-दृष्टि के लिए सौन्दर्य-दृष्टि का सिद्धान्त प्रतिष्ठित करके वाल्टर पेटर ने कला और साहित्य को एक स्वतन्त्र-निरपेक्ष स्व-अस्तित्व प्रदान किया।

पेटर की अतिवादी दृष्टि का विरोध होना स्वाभाविक था। मेलॉक ने 'न्यू रिपब्लिक' (१८७७) में पेटर का व्यंगात्मक रेखा-चित्र मि० रोज़ के नाम से उपस्थित किया। इसमें सन्देह नहीं कि पेटर के विरोध में अनावश्यक क्रूरता और एकपक्षीयता का आग्रह है; किन्तु इसके द्वारा विक्टोरियन लेखकों के समकालीन साहित्यिकों की तीव्र आलोचना के स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय भी मिलता है।

१९ वीं शताब्दी की समाप्ति के साथ कलावादी आन्दोलन इंगलैण्ड में क्षीण हो गया। आस्कर वाइल्ड की प्रभावहीनता दक्षिण अफ्रीका के युद्ध, किपलिंग के उद्भव एवं जर्मनी तथा नवीन साम्राज्यवादी शक्तियों ने कलावाद की जड़ें हिला दीं। इस काल में जार्ज मूर ने और भी अधिक अतिवादी दृष्टि का परिचय देते हुए कलावाद के लुप्तप्राय सम्प्रदाय की रक्षा करने का प्रयास किया।

संक्षेप में कलावादियों की मान्यताएँ यही हैं कि काव्यानुभूति[1] स्वयं अपना साध्य है और यही वस्तुतः काव्य का चरम मूल्य है। काव्य यदि इस आत्मगत केन्द्रीभूत मूल्य की रक्षा करते हुए वैकल्पिक रूप से धार्मिक आस्था, नीतिमूलकता, आर्थिक-संघर्ष, राजनीतिक विचार-प्रसार अथवा सांस्कृतिक संवेदना-परिष्कृति को विज्ञापित करता है तो हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि वह उसका (अनिवार्य साध्य और मूल कार्य नहीं अपितु) भौतिक परिस्थितियों से प्रेरित बहिर्मुखी रूप है। काव्य की कसौटी काव्य की आत्मगत विशेषता के आधार पर होनी चाहिए। काव्य का बहिर्मुखी पक्ष यदि उक्त मूल सत्ता की उपेक्षा करता है अथवा उसको अनुशासित या निर्देशित करता है तो वह निश्चय ही काव्य की नैसर्गिक श्रेष्ठ ऊँचाइयों से नीचे गिर जाता है। काव्य की प्रकृति विश्व का विशेष अंग, उसका उपयोगी वाहन अथवा उसकी अनुकृति नहीं है, क्योंकि काव्य का अपना एक विशेष कल्पना-प्रसूत मानसिक जगत् है जो स्वतन्त्र एवं स्वशासित सत्ता है और काव्य के इस श्रेष्ठ रूप की प्राप्ति उस जगत् में प्रवेश पाकर उसके नियमों से अनुशासित होकर, बाह्य

१. "It is the philosopher's privilege to call up on the artist to show that what he is about is either good or in itself or a means to good. It is the artist's duty to reply : Art is good because it exalts to a static of ecstacy far better than anything a benumbed moralist can even guess at; so shut up." Clive Bell. Art. Page 106.

परिस्थितियों से निरपेक्ष रहकर सृजन के द्वारा सम्भव है।

कलावाद के विरोधियों ने कला कला के लिए सिद्धान्त पर तीन प्रमुख आरोप लगाए हैं जो निम्नलिखित हैं :

१. कलावादी सिद्धान्त एकांगी है, जो कला में ही मानव-जीवन के उच्चतम उत्कर्ष का अनुभव एवं प्रतिपादन करता है।

२. वह कला और जीवन का सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

३. उक्त सिद्धान्त ने काव्य को 'रूप रूप के लिए' का पर्याय बना दिया है।

ब्रेडले ने इन आरोपों का उत्तर देते हुए लिखा है कि प्रथम आरोप उपयोगितावादी समीक्षकों की ओर से प्रस्तावित किया गया है, जो कला को किसी लक्ष्य-विशेष की पूर्ति का आवश्यक माध्यम बना देना चाहते हैं। यदि काव्य का उद्देश्य जीवन के किसी अंग-विशेष के साथ सम्बन्ध अथवा उस पर आश्रित किया जायगा तो यह कला के प्रति अन्याय होगा और कला का उचित मूल्यांकन न हो सकेगा। होमर, शेक्सपियर, दाँते, कालिदास, शेली इत्यादि कवियों के प्रेरणा-स्रोत उनके विशिष्ट ऐतिहासिक वातावरण से प्रसूत हैं और जीवन के विभिन्न अंगों का सौन्दर्यमूलक उद्घाटन उनकी कृतियों में हमें मिलता है। यदि कला का कोई एक विशेष लक्ष्य होता तो विश्व के सभी महान् कवियों एवं कलाकारों में हमें उसके दर्शन होते; किन्तु विश्व-कवियों की कृतियाँ विभिन्न उद्देश्यों को विज्ञापित करती हैं, अतः स्पष्ट है कि कला का कोई विशेष उपयोगितावादी लक्ष्य नहीं है। विश्व-कलाकारों में एक ही साम्य की वस्तु मिलती है और वह है उनकी कला और अधिकांशत: कला का मानव-कल्याणकारी रूप। इस विषय में कलावादी सिद्धान्त यह मानता ही है कि श्रेष्ठ कला में वैकल्पिक रूप से अन्य तत्त्व भी आ जाते हैं, किन्तु वे कला के अनिवार्य अंश नहीं हैं। कला यदि धार्मिक भावनाओं की प्रेरक ही स्वीकार कर ली जाय तो कीट्स एवं बायरन-जैसे संवेदन-सम्पन्न कवियों की श्रेष्ठतम रचनाएँ साधारण कोटि के भजनों से उच्चतर काव्य नहीं हैं। कला का लक्ष्य यदि राष्ट्रीय मात्र स्वीकार कर लिया जाय तो चारण ही विश्व के श्रेष्ठ कवि सिद्ध होते हैं, जिनके समक्ष अन्य क्षेत्रों एवं संवेदनाओं से सम्बद्ध विश्व-कवि निकृष्ट माने जायँगे। काव्य को नैतिकता का वाहन मान लेने पर राष्ट्रीय एवं रहस्यवादी श्रेष्ठ कवि कवि ही नहीं ठहरेंगे; अत: स्पष्ट है कि कला का लक्ष्य स्थिर करना कला का अवमूल्यन है। कला की एक-मात्र कसौटी केवल कला है। कला की यह स्थिति एकांगी भी नहीं है, क्योंकि कवि अपने विशिष्ट ऐतिहासिक वातावरण एवं वैयक्तिक मानसिकता से अपनी जीवन-विषयक समस्याओं का निर्णय एवं हल स्वयं ही करता है और काव्य में इस भाँति अप्रत्यक्ष रूप से जीवन प्रतिबिम्बित होता है।

कला और जीवन एक ही विशेष वस्तुसत्ता के विभिन्न रूप हैं, जिनमें एक में सत्य अधिक कल्पना कम है, और दूसरे में कल्पना का प्राधान्य एवं सत्य की न्यूनता है। वे दोनों समानान्तर विकास स्थितियाँ हैं जो कहीं नहीं मिलतीं। किन्तु जिनमें से प्रत्येक का तात्पर्य दूसरे की सहायता द्वारा समझा जाता है। काव्य जीवन अथवा जीवन की अनुकृति नहीं है। वे दो विभिन्न स्वतन्त्र सम्पूर्ण अस्तित्व हैं। जीवन विशेष दिक् एवं काल में प्रदत्त विशेष व्यक्तित्व के क्रियात्मक, भावात्मक एवं संकल्पात्मक आन्दोलनों द्वारा हमारी कल्पना

एवं उसके अतिरिक्त अन्य तत्वों को आकृष्ट करता है तो कला दिक् एवं काल की सीमाओं को लाँघकर विचारात्मक कल्पना के माध्यम से जीवन के अनुभवों की व्याख्या अपने ढंग से करने की सृजनात्मक पद्धति द्वारा हमारे आकर्षण का विषय बनती है। काव्य प्रकृति एवं जीवन के तथ्यों, निष्कर्षों एवं अनुभवों की आत्मपरक आलोचना है, जो मूलतः हमारी तृषित कल्पना को तुष्टि प्रदान करती है। अतः 'कला कला के लिए' सिद्धान्त पर यह दोषारोपण कि वह कला एवं जीवन का सम्बन्ध-विच्छेद करता है नितान्त भ्रमपूर्ण है। कला एवं जीवन एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्पर्क में होते हुए भी पूर्णतः निरपेक्ष, स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं।

तृतीय आक्षेप का आशय यही है कि कलावादी विषय की उपेक्षा करके शिल्प को अनावश्यक महत्त्व देते हैं और इस प्रकार काव्य या कला की असन्तुलित स्थिति को ही उचित प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते हैं। कलावादियों का कथन है कि उक्त प्रश्न ही सैद्धान्तिक मान्यताओं के विरुद्ध है, क्योंकि काव्य में विषय एवं शिल्प का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है; जिसके विभाजन का अर्थ समस्त कृति का विध्वंस होगा। विषय एवं शिल्प एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं और दोनों एक-दूसरे को निश्चित करते हैं। विषय के भीतर ही शिल्प की सीमाएँ उसके आयाम, चित्रात्मकता, अनुपात आदि का सृजन समाहित रहता है और कलाकार की साधना उस रहस्यात्मक अभिव्यक्ति को खोज निकालती है। विषय एवं शिल्प बाह्य रूप से विरोधी स्थितियों में दिखाई देते हुए भी आन्तरिक रूप से एक अविभाजित सम्पूर्ण इकाई होते हैं जिसे काव्यात्मा कहा जा सकता है। जिस प्रकार आत्मा को शरीर के किसी अंग-विशेष में अन्वेषित करने का प्रयत्न हास्यास्पद है उसी प्रकार काव्यगत सौन्दर्य को विषय अथवा शिल्प के समीक्षा-निर्मित वर्गों में खोजने का प्रयास भी। आत्मा शरीर के समस्त अवयवों के विशेष अनुपात में संयुक्त होने पर उसमें एकाएक प्रविष्ट हो जाने वाली चेतना-शक्ति है और उसी प्रकार शिल्प एवं विषय के विशेष अनुपात-संतुलन आयाम-रूप में एकत्रित होने पर अकस्मात् जो सौन्दर्यकला में उद्भासित होने लगता है वही कला है। काव्यात्मक सौन्दर्य का उद्गम सम्पूर्णतः विषय अथवा एक-मात्र शिल्प में देखने का प्रयास—इसका संकेत देता है कि जिज्ञासु विषय एवं शिल्प को कला के दो भिन्न अंग मानता है जब कि सिद्धान्ततः वे दोनों एक ही सौन्दर्य-सत्ता के अविभाज्य अंश हैं। कला में विषय एवं शिल्प का विभाजन समीक्षा के विशिष्ट आवश्यक प्रयोजन की पूर्ति के लिए, विश्लेषण की सुविधा के लिए बना लिया गया है। काव्य-पठन के समय विषय एवं शिल्प क्रमशः या अलग-अलग नहीं किन्तु एक साथ हमें प्रभावित करते हैं। विषय में शिल्प एवं शिल्प में विषय की सप्राण संश्लिष्ट अनुभूति की समर्थ प्रेषणीयता श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है। कतिपय कलावादी समीक्षकों के शिल्प में ही कला की घोषणा का अभिप्राय 'विषययुक्त शिल्प' से था। शिल्प में विषय समाहित रहता है यह उनकी धारणा थी, अतः यह आक्षेप कि कलावाद में भाव-पक्ष की अवहेलना एवं कलापक्ष का अनावश्यक आग्रह किया जाता है, उचित नहीं है। कवि की कलापक्ष-सम्बन्धी श्रमसाध्य अलंकृति मात्र श्रेष्ठ कला की सृष्टि नहीं कर सकती, क्योंकि बाह्य अलंकरण सुस्पष्ट परिभाषित सुज्ञेय विषय-वस्तु पर ही सम्भव है और कला वस्तुतः अस्पष्ट कल्पनात्मक तथ्य की अजात, आसन्न प्रसूति-वेदना

के सृजनातुर भावोन्माद का परिणाम है। कला की अभिव्यक्ति द्वारा ही कलाकार को अपनी रहस्यमयी अनुभूतियों का वास्तविक मर्म स्पष्ट होता है। कला पदार्थों के संयोजन एवं एकत्रीकरण का गुणनफल अथवा रासायनिक द्रव्यों के संमिश्रण का उत्पादन नहीं, किन्तु विषय एवं शिल्प के सृजन की क्रमशः विकसित पूर्णावस्था की अन्तिम स्थिति है।

श्रेष्ठ काव्य की अभिव्यक्ति की व्यष्टिगत सीमित संश्लिष्ट इकाई में असीम के समष्टिगत, व्यापक विश्लेषण के संकेत मिलते हैं। उसकी केन्द्रीभूत अभिव्यक्ति स्वयं में अपार नवीन अर्थ-प्रेषणीयता की संभावनाओं से समाहित रहती है, जो तादात्म्य-स्थापन पर रहस्यपूर्ण परतों की भाँति पाठक या श्रोता के मानस में खुलती जाती है। अतः श्रेष्ठ कला व्यक्ति, समाज या इतिहास की सीमाओं में बँधकर नहीं रहती।[१] कला का ऐतिहासिक अथवा सामाजिक अध्ययन कला की व्याख्या की दृष्टि से एक अनावश्यक श्रम है, क्योंकि वह कलात्मक अर्थ-संकेतों एवं भाव-ग्रहण में हमें कोई सहायता नहीं पहुँचाता। कला को कला के अतिरिक्त किसी अन्य दृष्टिकोण से देखना उपादेय नहीं है। सौन्दर्य के पूर्ण अखण्ड, अविभाज्य रूप का समग्र दर्शन यद्यपि असंभव है किन्तु श्रेष्ठ कला द्वारा उसके संकेत हमें मिल सके हैं। कला द्वारा सौन्दर्य-दर्शन की मानव-सुलभ स्वाभाविक अनन्त जिज्ञासा की संतुष्टि का प्रयास ही कलागत मूल्य का महत्त्वपूर्ण अंश है और इससे अधिक इसके अतिरिक्त कला से जीवन-सम्बन्धी उपयोगितावादी मूल्यों की अपेक्षा करना कला के क्षेत्र से हट जाना है। संक्षेप में, कलावादियों की सैद्धान्तिक स्थिति यही है जिसका प्रतिपादन समय-समय पर विभिन्न समीक्षक विभिन्न तर्कों द्वारा करते रहे हैं।

अभिव्यंजनावाद

अभिव्यंजनावाद के प्रवर्त्तक इटली-निवासी सीनियॉर बेनेडेटो, क्रोचे अपनी दार्शनिक मान्यताओं में 'आत्मपरक प्रत्ययवादी' हैं अतः वस्तुपरक जगत् को उन्होंने अपने मानस के भीतर ही समाहित कर लिया है और वे उसकी स्वतन्त्र सत्ता को अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार क्रोचे के मतानुसार समस्त दृश्य-जगत् वस्तुतः आत्म-पक्ष की विशिष्ट मानसिक प्रक्रिया द्वारा स्वरूप पाकर मूल्यानुप्रणित होता है। मन की एक प्रक्रिया बाह्य-जगत् को रूप देती और एक-दूसरी प्रक्रिया उसको आधार बनाकर अपनी मानसिक भाव-भूमियों का मर्म ग्रहण करने का प्रयास करती है। मानव-ज्ञान-क्रिया को उसने दो खण्डों

---

१. "To criticise a work of art historically is to play the science-besotted fool. No more disastrous theory ever issued from the brain of a charlatan than that of evolution in art......To think of a man's art as leading on to art of someone else is to misunderstand it......The connection of one work of art with another may have everything to do with history; it has nothing to do with appreciation." Clive Bell. Art. Page 102.

२. To appreciate fully a work of art we require nothing but sensibility. To those that can hear art speaks for itself; facts and dates do not...... To appreciate a man's art I need not know anything whatever about the artist. Ibid. Page 99.

में विभाजित किया है—१. तर्कमूलक ज्ञान एवं २. कल्पनामूलक ज्ञान। तर्कमूलक ज्ञान विचारों की उस प्रक्रिया से संबद्ध है जो वस्तुओं और उनके विभिन्न प्रभावों की तुलना में गुणात्मक समता एवं विषमता के वर्गीकरण के पश्चात् उनके नियन्त्रण-कर्त्ता नियमों के उद्घाटन का प्रयास करती है। यह मानव की विश्लेषणात्मक शक्ति है जो वस्तु-जगत् को खण्डित रूपों में विभाजित करके, निर्णयात्मक पद्धति द्वारा उनके मर्म को बुद्धि-ग्राह्य बनाती है। क्रोचे ने इसे 'धारणा-निर्मात्री क्रिया' (Concept forming activity) कहा है। यह व्यावहारिक एवं उपयोगी ज्ञान का क्षेत्र है, जिसके द्वारा विज्ञान का जन्म होता है। कल्पनामूलक ज्ञान विशुद्ध ज्ञान का क्षेत्र है, जो मानव की संश्लेषणात्मक शक्ति से संबद्ध है। यहाँ बौद्धिकता नहीं, अपितु सहज प्रज्ञा द्वारा सृष्टि के अखण्ड स्वरूप की कल्पनात्मक झाँकी लेने का प्रयास किया जाता है। क्रोचे के अनुसार यह मूर्तीकरण की क्रिया (Image making activity) है, जो कला को जन्म देती है। कल्पनामूलक ज्ञान सृष्टि के विभिन्न रूप-रंगों, ध्वनियों एवं शब्दों के इन्द्रियों के माध्यम द्वारा मानस-पटल पर मूर्त्त रूप में अंकित होने और कल्पनानुकूल विशिष्ट भावों की सहायता से इन बिम्बों के अन्तःकरण में प्रत्यक्ष होने से संभव होता है। सहज-प्रज्ञा काल एवं दिक् की सीमाओं और बंधनों का अनुशासन स्वीकार नहीं करती, क्योंकि वह एक पूर्ण निरपेक्ष स्वतन्त्र आध्यात्मिक सत्ता है। अव्यावहारिक एवं अनुपयोगी विशुद्ध ज्ञान के इस क्षेत्र में प्रज्ञा इन्द्रियों द्वारा प्रेषित प्रभावों के प्रतिबिम्बों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व, पृथक् सत्ता एवं विशिष्ट कलात्मक उत्कर्ष प्रदान करती है। तर्कमूलक ज्ञान जहाँ अर्थ-ग्रहण एवं ज्ञान-वृद्धि का बौद्धिक व्यापार है वहाँ कल्पनामूलक ज्ञान बिम्ब-ग्रहण एवं सौन्दर्यानुभूति का कल्पनात्मक व्यापार। सहज प्रज्ञा वास्तविक एवं काल्पनिक दो प्रकार की होती है। प्रत्यक्ष दृश्य द्वारा उत्प्रेरित-प्रज्ञा सर्वसुलभ वस्तु है, किन्तु परोक्ष रूप से कल्पना द्वारा अप्रस्तुत सामग्री से प्रज्ञा को गतिशील कर सकने की सामर्थ्य विशेष विकसित मानसिक शक्ति वाले मनुष्यों में ही होती है। सहज प्रज्ञा[१] बौद्धिक ज्ञान से स्वतन्त्र वस्तु है। यह सम्भव है कि कतिपय तर्कसिद्ध ज्ञान के आधार पर हमारी प्रज्ञा क्रियाशील हो। इस स्थिति में उस बौद्धिक ज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता शेष नहीं रह जायगी, क्योंकि प्रज्ञात्मक प्रक्रिया में आकर उसे अपने व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र से विलग होना ही पड़ेगा। सभ्य एवं सुसंस्कृत समाजों में अधिकांश प्रज्ञा-कार्य तर्काश्रयी ज्ञान पर आधारित होता है जो कि स्वाभाविक है।

मूर्तीकरण की क्रिया में बाह्य वस्तुओं की प्रतीति-मात्र से ही सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया कार्यान्वित होकर प्रतिबिम्बों का निर्माण नहीं करती। दृश्य जगत् द्वारा प्रेषित मात्र इन्द्रिय-संवेदनाएँ व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में भले ही कतिपय बौद्धिक निर्णयों को जन्म दे सकें, किन्तु विशुद्ध ज्ञान के क्षेत्र में वे निष्फल हो जाती हैं। मानस-पटल पर इन्द्रियों द्वारा सक्रिय प्रभाव-प्रेषण से जिन संवेदनाओं की उत्पत्ति होती है उनको विशिष्ट भावानुकूल-

१. (Croce claims to have) "freed intutive knowledge from any suggestion of intellectualism."
Aesthetic as Science of expression and general linguistic. Page 5. Quoted by Susanne K. Langer in Feeling and Form Page 375.

स्थिति में कल्पना द्वारा आकृति ग्रहण करना आवश्यक होता है। इस प्रकार मूर्तीकरण की समस्त प्रक्रिया में तीन विभिन्न स्तर लक्षित होते हैं—१. वस्तु, २. आकृति, एवं ३. अभिव्यंजना। यद्यपि यह सौन्दर्य-प्रक्रिया अचेतन रूप में ही हमारे मानस-जगत् में त्वरित गति से घटित हो जाती है, किन्तु उसके स्वरूप का अनुमान हमें विशिष्ट प्रयोगों द्वारा हो सकता है। वस्तु की यान्त्रिक निष्क्रिय-इन्द्रियग्राह्य स्थिति में मानसिक प्रक्रिया उसे विशिष्ट आकृति प्रदान नहीं कर पाती।[1] संवेदन एवं प्रभाव स्थूल भावनात्मकता के परिणाम होते हैं। उनकी सक्रिय स्थिति में हमारी आध्यात्मिक सत्ता द्वारा उनका आकृति-निर्माण एवं उदात्तीकरण होना आवश्यक है, तभी आकृति को प्रज्ञात्मक अभिव्यंजना मिलती है। इस प्रकार प्रज्ञा प्रभाव, संवेदन एवं अनुभूति के स्थूल उपकरणों के यान्त्रिक रूप से नितान्त भिन्न प्रतिबिम्बों की सक्रिय अभिव्यंजना है। सौन्दर्य-सृष्टि का सम्बन्ध आकृति की मानसिक सृजनात्मकता से है। आकृति का विषय निश्चय ही संवेदन है, किन्तु प्रज्ञा आत्मा की वह अभिव्यंजना प्रक्रिया है जो उसे कलात्मक रूप देती है। इस प्रकार यह विशिष्ट प्रक्रिया कलाकार को उसके भावावेगों की आक्रान्ति से मुक्ति दिलाकर एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति प्रदान करती है। कलाकार अपने प्रभावों को वस्तुगत अभिव्यंजना का रूप देकर अपने भावावेगों से प्रसूत सृजन की पीड़ा से स्वयं को मुक्त कर लेता है। क्रोचे के मत में मस्तिष्क सदैव ही आकृति-निर्माण का परिपक्व अथवा अर्ध-परिपक्व स्वरूप प्रस्तुत करता रहता है और कल्पना एवं विशिष्ट भावानुकूल स्थिति का संयोग अथवा अभाव पाकर ये आकृतियाँ बौद्धिक धारणाओं अथवा स्थूल संवेदनों का रूप पाती रहती हैं। कलात्मक उत्कर्ष की प्रज्ञा का सहयोग तभी मिलता है जबकि आकृति के पोषण के लिए कलाकार को आत्म-बल की शक्ति मिलती रहती है। कलाकार अपने प्रभाव-ग्रहण, आकृति-निर्माण एवं अभिव्यंजना के लिए किसी विशेष भाव-वस्तु क्षेत्र या सिद्धान्त से अनुशासित होने के लिए बाध्य नहीं है। वह अपनी कलात्मक प्रेरणा के प्रतिबिम्बों को सृष्टि के किसी भी क्षेत्र से चुन सकता है, क्योंकि कला का क्षेत्र विशुद्ध ज्ञान का क्षेत्र है। जहाँ वह नीति, धर्म, समाज इत्यादि व्यवहारवादी तुला पर नहीं किन्तु आध्यात्मिक सौन्दर्य-सत्ता कल्पना एवं प्रज्ञा-जैसे अव्यावहारिक कलात्मक प्रतिमानों पर मूल्यानुप्राणित होती है। यहाँ कला की श्रेष्ठ कसौटी प्रभावों को सूक्ष्म कल्पनामय रूपगत अभिव्यंजना देने की क्षमता है।

क्रोचे[2] ने कलात्मक क्रिया-कलाप को मनोमय स्थिति तक ही सीमित रखा है। उसकी धारणा है कि कला की सौन्दर्यानुभूति आंतरिक पक्ष से संबद्ध है और अभिव्यंजना मानस-क्षेत्र में ही अपनी पूर्ण उदात्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है। कला विशुद्ध ज्ञान का क्षेत्र है, अतः उसके बाह्य प्रकाशन का अर्थ उक्त क्षेत्र से हटना होगा और क्रोचे का आदर्शवाद इसके लिए प्रस्तुत नहीं है।[3] कलाकार अपनी सौन्दर्यनिष्ठ अभिव्यंजना

१. "In the aesthetic fact, expressive activity is not added to the fact of the impressions but these latter are formed and elaborated by it."
Ibid. Page 375.

२. ......"the aesthetic fact is altogether completed in the expressive elaboration of the impressions."

३. Estetica Page 13. Quoted by Carritt in the theory of Beauty. Page 180.

को रूप, रंग, ध्वनि अथवा शब्दों के माध्यम द्वारा बाह्य सामाजिक प्रेषणीयता के लिए बाध्य नहीं है। वह कला के बहिर्मुखी प्रकटीकरण द्वारा अपनी गुह्य सौन्दर्याभिव्यंजना को विश्व के समक्ष जन-कल्याण के लिए अथवा किसी अन्य उद्देश्य-पूर्ति की दृष्टि से रख भी सकता है, किन्तु इस व्यावहारिक प्रकाशन द्वारा कला की वास्तविक सौन्दर्य-सत्ता किसी उच्चतर धरातल को प्राप्त हो सकती हो ऐसी बात नहीं है। व्यावहारिक क्षेत्र में आने पर समाज, नीति, धर्म आदि की मर्यादाओं द्वारा शासित होने की अनिवार्य आवश्यकता के बंधन में फँसकर कदाचित् वह अपनी मूल सूक्ष्म अलौकिकता, तीव्र कलात्मक अभिव्यंजना एवं विशुद्ध सौन्दर्य-चेतना को कुछ हानि ही पहुँचा बैठे। कला के इस बाह्य प्रकाशन को क्रोचे ने 'स्मृति सहायक' एवं 'भौतिक उत्प्रेरक' मात्र माना है, जो कलाकार की उस विशिष्ट मानसिक संकल्पात्मकता के कारण संभव होती है जिसके आग्रही स्वर की उपेक्षा कलाकार नहीं कर पाता और अपनी इन मानसिक कृतियों को मानस-जगत् में ही लुप्त होने के पूर्व भौतिक माध्यमों के सहारे मानवीय व्यावहारिकता की भूमि पर ले आता है। इन विशिष्ट सौन्दर्य-चित्रों द्वारा हमें कलाकार के सृजनात्मक क्षणों की अलौकिक झाँकी का दर्शन संभव हो जाता है।

कलाकार की अभिव्यञ्जना के धरातल पर पहुँचने के लिए उसके भौतिक माध्यम द्वारा उपलब्ध प्रतीकों (रूप, रंग, ध्वनि, शब्द आदि) द्वारा रागात्मक उत्प्रेरणा प्राप्त करके हम उसकी प्रज्ञात्मक अनुभूति को स्वयं अनुवादित कर प्राप्त करते हैं। सृष्टि में प्रत्येक क्षण घटना या जीवन का अस्थायी महत्त्व होता है, क्योंकि वह निश्चित काल एवं दिक् की सीमा में आबद्ध है। सृष्टि के क्रिया-कलाप के क्षणिक सत्य पुनः अस्तित्व-सम्पन्न नहीं बनाए जा सकते, किन्तु कला का सत्य काल एवं दिक् की सीमाओं से स्वतन्त्र अपनी क्षणिक सौंदर्यानुभूतियों को अनन्त जीवनी-शक्ति से अनुप्राणित करता है जिसका आस्वादन पुनः शताब्दियों बाद भी विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों एवं समाजों के मनुष्यों के द्वारा भी उस मूल प्रतिबिम्ब के सृजन-सौंदर्य तक पहुँचकर किया जा सकता है। पाठक या श्रोता कलाकार के प्रत्ययवादी सत्य को अभिव्यक्त करने वाले स्थूल उपकरणों के प्रतीकों का मर्म ग्रहण करके कलाकार की मौलिक भाव-भूमि की अलौकिक सौंदर्यानुभूति में प्रवेश पा जाता है। जन-साधारण एवं कलाकार की कल्पना-शक्ति में गुणात्मक नहीं अपितु परिमाणात्मक भिन्नता होती है, अतः क्रोचे की परिभाषा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है। इस दृष्टि से वैयक्तिक अभिव्यञ्जना अपनी अखिलता के तत्त्व एवं प्रत्येक मनुष्य में रहने वाली प्रज्ञा के कारण सर्वसुलभ एवं सहज भोग्या हो सकती है। क्रोचे के अनुसार कलाकार एवं समीक्षक में किसी विशेष कला-कृति को लेकर मतभेद होने का अर्थ है कि दो में से कोई एक प्रज्ञात्मक सत्य की सूक्ष्म भावभूमि से वास्तविक रूप में परिचित नहीं हो सका है। कला के संकेतात्मक भौतिक माध्यमों के चिह्नों की व्याख्या एवं मार्ग-निर्देशन द्वारा कलाकार की उस विशिष्ट भावस्थिति तक पहुँचा जा सकता है जिसमें उसने उक्त कृति को अभिव्यञ्जित किया। यदि

......My work and my satisfaction as an artist are completed when I have made a melody or a poem and when I have seen or imagined, in the expression of every detail......

ऐसा न हो तो सामाजिक जीवन एवं ऐतिहासिक तारतम्यता सम्भव ही न हो सके। कलाकार से अपनी आत्मा का तादात्म्य स्थापित करके हम वस्तुतः स्वयं में उस रागात्मक सौंदर्य-दृष्टि की पुनरावृत्ति करते हैं। इस सौंदर्य-सत्ता की पुनरावृत्ति में हमारी अपनी किसी काल्पनिक प्रक्रिया, योग-संवर्धन अथवा पोषण का संमिश्रण नहीं होता, किन्तु हम उस स्थिति में कुछ क्षणों के लिए कलाकार की प्रज्ञानुभूति के समस्त क्रिया-कलाप को चलचित्र-यंत्र की भाँति, तटस्थ रूप से, स्वयं में प्रतिबिम्बित-मात्र करते हैं। यह इसलिए सम्भव होता है कि सृष्टि एवं जीवन के क्रियात्मक, भावनात्मक एवं संकल्पात्मक मनोवेगों की उभय-स्वरूप स्थिति में प्रत्येक मानव इन मानस-व्यापारों को निरन्तर मूर्त्त-रूप में ग्रहण करता रहता है; अतः प्रत्येक मानव के लिए अपेक्षाकृत उच्चतर कल्पना-प्रसूत कला-कृतियों की आध्यात्मिक भावभूमियों को छू सकना स्वाभाविक है। क्रोचे का कलाकार, जन-साधारण की अपेक्षा, कहीं अधिक शक्तिशाली (परिमाणात्मक दृष्टि से) मूर्तीकरण की क्रिया एवं उदात्त प्रज्ञानुभूति से सम्पन्न रहता है। इस प्रकार क्रोचे ने प्रज्ञा की गुणात्मक उपस्थिति सर्वसाधारण में स्वीकार करके सामाजिक प्रेषणीयता की समस्या का हल प्रस्तुत किया है।

क्रोचे[1] ने प्रज्ञा एवं अभिव्यञ्जना को एक ही माना है। 'प्रत्येक वास्तविक सहज-प्रज्ञा अथवा मूर्तीकरण, अभिव्यञ्जना भी है।' मूर्तीकरण की प्रक्रिया का आरम्भ-बिन्दु मन पर पड़े हुए बाह्य जगत् के प्रभाव अथवा छाप होते हैं, किन्तु 'सहज-प्रज्ञा अथवा मूर्तीकरण, अनुभूत और भुक्त से, संवेदना के प्रवाह या लहर से, अथवा अन्य मानसिक वस्तु से रूप-सम्पन्न होने के कारण भिन्न है; और यह रूप अपने अधिकार में कर लेना अभिव्यञ्जना है।' इस मानस-प्रक्रिया का परिणाम, सौंदर्यात्मक दृष्टि से, सदैव ही उत्कृष्ट होता है; क्योंकि यदि प्रभावों को कल्पना के साँचे में ढलकर अनुकूल भावनात्मकता की आकृति नहीं मिली तो वह अभिव्यञ्जित हो ही नहीं सकती। इस स्थिति में कला-कृति में सौंदर्य-तत्त्व के अपेक्षित सूक्ष्म अलौकिक रूप का अभाव होगा। क्रोचे के मन्तव्यानुसार असफल अभिव्यञ्जना, अभिव्यञ्जना ही नहीं है। सौंदर्य-कृति या तो प्रज्ञा के कलात्मक शीर्ष पर है अथवा फिर वह सौंदर्य-कृति है ही नहीं, कुछ और चाहे जो भी हो। अभिव्यञ्जना का परिणाम सदैव सौंदर्य-बोध में होना चाहिए, क्योंकि कुरूपता का अर्थ है वस्तुगत जगत् की प्रभावहीन छापों द्वारा दुर्बल आकृति-प्रतिष्ठा एवं उससे निसृत अनिवार्य खंडित राग-बोध।

सौन्दर्यानुभूति की प्रेषणीयता का क्रियात्मक स्वरूप—**मनोवेग**+वस्तु=प्रभाव+आकृति=कल्पना+प्रज्ञा=अभिव्यञ्जना—इस पद से स्पष्ट किया जा सकता है। एक कवि 'क', 'प' प्रभाव के लिए, 'अ' अभिव्यंजना का आकांक्षी है जिसके विषय में उसके पूर्व-रागी मनोवेगों ने एक धूमिल-सा अस्पष्ट सौन्दर्य-बिम्ब देखा है, किन्तु 'प' का मानसिक

१. (1) "Every true intution or representation is also expression."
(2) "Intutive knowledge is expressive knowledge....
Quoted in Feeling and Form, by Susanne Langer. Page 376.
...intution or representation are distinguished as form what is felt and suffered from the flux or wave of sensation, or from psychic matter; and this form this taking possession, is expression. To intute is to express and nothing else (nothing more but nothing less) than to express."

सान्निध्य उसे उन पुरातन मनोवेगों को नवीन उत्प्रेरणा देता है। विभिन्न छन्द शब्द, लय एवं अलंकारों को प्रयोग में लाने के पश्चात् भी उसके अपने मानस-पटल पर उपयुक्त कल्पना-कृति के अंकन की सौन्दर्यानुभूति नहीं होती; अतः वह इन अपूर्ण अपरिपुष्ट प्रतिबिम्बों को अभिव्यञ्जित नहीं कर पाता। एकाएक, अनायास ही प्रज्ञात्मक अनुभूति द्वारा, वाञ्छित अभिव्यञ्जना 'अ' उसके मानस में प्रत्यक्ष हो उठती है और वह अपनी अभीप्सित कला-कृति को जन्म दे देता है। कवि के असफल प्रयत्न वास्तव में वह सौन्दर्यात्मक प्रक्रिया है जो अभिव्यञ्जना के कंटकाकीर्ण मार्ग को पूरा न माप सकी। अभिव्यञ्जना के इस मानसिक स्वरूप के पश्चात् कवि अपनी कृति को भाषा के माध्यम से अपनी मूल प्रज्ञानुभूति के संकेतक प्रतीकों को शब्दों में अंकित करता है जिससे कि श्रोता या पाठक इन संकेत-सूत्रों के सहारे मूल सौन्दर्याभिव्यञ्जना को अपने मानस में पुनः प्रत्यक्ष कर सकें। इस प्रकार 'क', 'प' के द्वारा 'अ' अनुभूत करता है और फिर 'भ' प्रतीकात्मक पद्धति द्वारा उसे सर्वसुलभ बनाता है। 'स' वह समीक्षक है जो 'अ' की आलोचना करना चाहता है। उसे 'क' के सृजनात्मक क्षणों की विशिष्ट मानसिक स्थिति में स्वयं को रखना पड़ेगा। वह 'भ' के स्थूल प्रतीक द्वारा इंगित 'प' द्वारा उसके मानस-पटल पर अंकित प्रत्यय-छाया की सहायता से अपने अन्तरंग में 'अ' की सृजनात्मक प्रकिया को 'अ'/अ में पुनः जीवित करेगा। 'क' के सृजन की मौलिक प्रक्रिया क्रमशः 'प' + 'अ' + 'भ'—इस रूप में है। 'स' के मस्तिष्क में उसका स्वरूप—'प' (='भ') 'अ'/अ होना चाहिए, वहाँ 'भ' (='प'), 'स' एवं 'अ'/अ के समक्ष वही है जो 'प', 'क' और 'अ' के समक्ष। अतः समीक्षक की स्थिति बहुत कुछ इस प्रकार होगी -'स' की संकल्पात्मक मनोदशा 'प'/प जो 'भ' के स्थूल संकेतों से निर्देशित है 'अ'/अ कल्पनानुभति को अपने मानस में प्रत्यक्ष करती है, किन्तु 'प'/प अथवा 'भ' के गुण-बोध से 'अ'/अ के गुण-बोध की प्रतीति सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि क्रोचे के मतानुसार[1] विषय-वस्तु के गुण-बोध से आकृति के गुण-बोध में प्रवेश उपलब्ध नहीं होता।

क्रोचे ने सौन्दर्य को एक अखण्ड सत्ता माना है और सहज-प्रज्ञा, सौन्दर्य, अभिव्यञ्जना एवं[2] आकृति को बहुत-कुछ एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। अतः इस दार्शनिक भूमि पर उसे स्थापित करने के पश्चात् कलाओं के वर्गीकरण की सम्भावना उसे व्यावहारिक ज्ञान के क्षेत्र में लाकर ही की जा सकती है। क्रोचे के अनुसार कला के श्रेणीगत एवं रूपगत भेद हमारे व्यावहारिक सुविधानुसार निर्मित विशिष्ट प्रयोजनशील विभाग हैं, जो मौलिक नहीं अपितु कृत्रिम हैं। इन विभाजनों से कला के अभिव्यञ्जनामूलक सौन्दर्य की उदात्त शीर्षावस्था में कोई अन्तर नहीं आता। इस निष्कर्ष के पश्चात् भी क्रोचे ने 'प्रसार-भिन्नता' (Difference of Extension) को स्वीकार किया है 'जिसका अभिप्राय यही है कि यद्यपि एक शब्द-मात्र एवं एक सम्पूर्ण काव्य दोनों कलात्मक अभिव्यञ्जना की दृष्टि से विशुद्ध प्रज्ञात्मक सौन्दर्य हैं, किन्तु फिर भी सम्पूर्ण काव्य, अपेक्षाकृत, मस्तिष्क की जटिल स्थितियों

१. "From the quality of the content to that of the form there is no inference."
२. "Aesthetic fact is form and nothing but form."

का कल्पनात्मक आकलन होने के कारण शब्द-मात्र द्वारा अभिव्यञ्जित सौन्दर्यानुभूति से व्यापकतर सत्य है इस 'प्रसरण-भिन्नता' को परिमाणात्मक भिन्नता-मात्र भी नहीं मानना चाहिए।

क्रोचे के समीक्षकों का कहना है कि उसकी दार्शनिकता ने कला-सौन्दर्य को कलाकार के लिए नहीं अपितु दार्शनिक के लिए सुलभ बनाया है।[1] क्रोचे के साथ सान्तायन के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए एक आधुनिक समीक्षिका का कथन है कि कलाकारों को क्रोचे और सान्तायन की दार्शनिकता की उपेक्षा करनी पड़ती है, क्योंकि वे कला को दर्शन के दृष्टिकोण से परखकर उसे दार्शनिकों की रुचि की वस्तु बना देते हैं। एक अन्य समीक्षक का मत[2] सौन्दर्य के तत्त्व-दर्शनात्मक विश्लेषण का उल्लेख करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि दार्शनिक परिभाषाओं द्वारा सौन्दर्य विषयक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भले ही हो, किन्तु सौन्दर्य की वास्तविक परिभाषा का निष्कर्षित होना सम्भव नहीं है और सौन्दर्य के तत्त्व-दर्शन-सम्बन्धी निष्कर्षों के पूर्व हमें उसकी अपनी प्रकृति का परिचय मिलना चाहिए। क्रोचे की सैद्धान्तिक समीक्षा के धरातल पर अभिव्यञ्जनावादी सौन्दर्य-दृष्टि पर कई आपत्तियाँ उठाई गई हैं, जिनमें कला एवं सामाजिक प्रेषणीयता, कला और नैतिकता तथा कला एवं जीवन का सम्बन्धी प्रश्न मुख्य है। क्रोचे ने कला को विशुद्ध मानसिक मानते हुए भी उसके प्रकाशन को सामाजिक भावना माना है। नैतिकता के विषय में उनका स्पष्ट कथन है कि कला स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता है। कलाकार व्यावहारिक भूमि पर उसको चाहे जैसे प्रयोग में लाए। क्रोचे की आत्मपरक प्रत्ययवादी स्थिति आन्तरिक सत्ता में बाह्य अस्तित्व को भी समाहित कर लेती है, अतः जब जीवन की अनुभूतियाँ ही कला की अनुभूतियों का स्वरूप ग्रहण करती है तब जीवन एवं कला दो पृथक् वस्तुएँ ही कैसे रहीं। इन प्रश्नों को लेकर आलोचक-वर्ग क्रोचे की सैद्धान्तिक भूमि से विशेष असन्तुष्ट रहा है, किन्तु इस तथ्य को कोई भी सुपाठक अथवा समीक्षक अस्वीकार नहीं कर सकता कि क्रोचे ने कला-सम्बन्धी वैचारिकता को एक अभूतपूर्व सैद्धान्तिक पीठिका पर स्थापित किया है। क्रोचे में आदर्शवादी समीक्षा-दृष्टि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण मिलता है।

---

१. "Croce and Santayana make demands on art that are essentially philosophical; philosophers therefore, find them interesting but artists tend to ignore them." Feeling and Form. Susanne Langer. Page 115.

२. "But all metaphysical definitions of beauty are really theories about beauty (its status in ultimate reality, etc.) rather than true definitions of beauty itself and it would seem unlikely that we could know whether any metaphysical account of beauty is true—or even meaningful--until we had some considerable concrete knowledge about the meaning and nature of beauty itself......Before we can determine the metaphysical place of beauty in ultimate reality we must know what beauty is in the context of sub-lunary experience." Theory of Beauty. Harold Osborne. P. 36.

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वच्छन्दतावाद के पश्चात् कांट, शिलर एवं हीगेल की विचार-धारा को ही नवीन व्याख्याओं सहित अनुवादित करके अथवा मौलिक चिन्तन की प्रेरणा का प्रमुख आधार बनाकर परवर्ती समीक्षा की आदर्शवादी धारा आगे बढ़ी। इस प्रगति को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः इसमें स्वच्छन्दतावादी समीक्षा के दार्शनिक निष्कर्षों की ओर लौटकर जाने का प्रयास है। उक्त दार्शनिकों के चिन्तन का आरम्भ-बिन्दु कला की स्वतन्त्र निरपेक्ष सत्ता और उससे उपलब्ध जीवन के उदात्त आनन्दों का आस्वादन था। हम देखते हैं कि इस केन्द्र-बिन्दु पर स्थित होकर स्वच्छन्दतावाद के पश्चात् की आदर्शवादी समीक्षा अपनी परिधियों को परिस्थितियों के अनुकूल मौलिक विस्तार देती रही है। कलावाद एवं अभिव्यञ्जनावाद दोनों ही कला के इस विशिष्ट स्वरूप का आग्रह करते हैं, किन्तु जहाँ कलावाद एक प्रतिक्रियावादी, एकांगी और अतिवादिता के हठ का तर्कहीन समर्थन करने वाला व्यापक साहित्यिक आन्दोलन-मात्र था वहाँ अभिव्यञ्जनावाद में आरंभिक दर्शन-शास्त्रियों के कला-विषयक विचारों का सुस्पष्ट सौन्दर्य-शास्त्रीय विश्लेषण मिलता है। वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद के पश्चात् कलावाद का कार्य साहित्य में वह आरम्भिक भूमिका-मात्र प्रदान करता रहा (जो अपने-आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है) जिस पर आधार लेकर कांट, शिलर एवं हीगेल के कला-सम्बन्धी दार्शनिक निष्कर्ष समुचित व्याख्या, सन्तोषप्रद सैद्धान्तिक स्थापना और महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्राप्त करके दीर्घकाल से प्रतीक्षित साहित्यिक परिवेश में पदार्पण कर सके।



मनोहर वर्मा

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी दार्शनिक विचार-धारा का जन्म प्रथम महायुद्ध के कुछ वर्ष पश्चात् जर्मनी में हुआ जहाँ से उसे फ्रांस और इटली में प्रवेश मिला। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मानवीय मूल्यों की संक्रांति-स्थिति का अनुकूल वातावरण पाकर उसे साहित्यिक परिवेश में आने का सुअवसर मिला। अस्तित्ववादी दर्शन युगानुकूल विशिष्ट आकर्षण के गुण-स्वरूप दार्शनिक गोष्ठियों से साहित्यिक रुचि सम्पन्न केफे और विभिन्न पत्रकार-मण्डलों में आकर प्रभावशाली विज्ञापन पा गया और क्रमशः वह साहित्य के वर्ग-विशेष की नवीन प्रवृत्तियों का मार्ग-प्रदर्शक दर्शन बन गया। अस्तित्ववाद एक सुस्पष्ट विश्लेषित दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता (यद्यपि कतिपय समीक्षकों का ऐसा ही आग्रह है) अपितु उसे युग की संदिग्ध बौद्धिक चेतना एवं महायुद्धों के भयानक परिणामस्वरूप उत्पन्न असंतुलित आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के आवश्यक परिणामस्वरूप उत्पन्न एक प्रवृत्ति विशेष अथवा एक आन्दोलन-मात्र कहना ही उचित होगा, क्योंकि अस्तित्ववादी विचारकों में उभयनिष्ठ निष्पत्तियाँ अत्यन्त अल्प हैं। उसकी विशिष्ट चारित्रिक विशेषता यही स्वीकार

की जा सकती है कि वह विश्व के उन साधारणतः सर्वमान्य दृष्टिकोणों एवं कर्म-पद्धतियों के प्रति विद्रोही है जो वैयक्तिक मानवीय मूल्यों को अशक्त, असहाय एवं ऐतिहासिक शक्तियों अथवा प्राकृतिक क्रिया-कलाप की साधारण प्रक्रिया द्वारा पूर्णतः अनुशासित मानते हैं। प्रायः सभी अस्तित्ववादी विचारकों ने मानवीय व्यक्तित्व के महत्त्व एवं स्वतन्त्रता के उपेक्षित पक्ष के साथ समुचित न्याय होने की माँग रखी है। अस्तित्ववादी विचारक आस्तिक एवं नास्तिक-जैसे दो विरोधी वर्गों में विभाजित हैं। कार्ल यास्पर्स ग्रेबियल मार्सल और सोरेन कीर्केगार्ड प्रथम तथा हेडेगर एवं सार्त्र द्वितीय कोटि के विचारक हैं। अस्तित्ववादी दर्शन के मूल केन्द्र के विषय में उनमें मत-वैभिन्न्य नहीं है। ज्ञान के विरोधाभास पर मानव की संकल्पात्मक शक्ति को उभारकर उसके प्रति विशेष आग्रहशील होने की प्रवृत्ति प्रायः इन सभी दार्शनिकों में है। दार्शनिक विश्लेषण के अतिरिक्त कुछ विचारकों ने उपन्यासों एवं नाटकों के माध्यम द्वारा भी अपने दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने का उपक्रम किया है।

अधिकांश अस्तित्ववादी लेखकों पर डेनमार्क-निवासी सोरेन कीर्केगार्ड (१८१३-१८५५) की गवेषणाओं का स्पष्ट एवं चेतन प्रभाव पड़ा है। कीर्केगार्ड जो यद्यपि अपने जीवन-काल में उपेक्षित रहे १६०६-१४ के जर्मन ग्रंथानुवादों के पश्चात् विशेष जिज्ञासा, आकर्षण एवं वाद-विवाद के विषय बन गए। कीर्केगार्ड ने ही सर्वप्रथम 'Existeng' शब्द का प्रयोग किया, जिसे आज एक दार्शनिक एवं साहित्यिक मूल्य का गौरवमय पद प्राप्त हो गया है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् 'अस्तित्व' शब्द एक दार्शनिक पद के रूप में ले लिया गया। साधारण भाषा में इन्द्रिय-सुलभ प्रत्येक उपस्थिति को अस्तित्वपूर्ण कहा जा सकता है, किन्तु अस्तित्ववाद के पारिभाषिक शब्द-कोष के अनुसार मानव-मात्र ही अस्तित्व का योग्य अधिकारी सिद्ध होता है। अस्तित्ववादियों के मन्तव्यानुसार अस्तित्व शब्द इस विशेष तथ्य की पुष्टि का आग्रह करता है कि प्रत्येक मानवीय व्यक्तित्व की इकाई अद्वितीय एवं प्रचलित वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक चिन्तन-पद्धतियों के पक्षों द्वारा अर्थ-प्रेरणा के सर्वथा अनुपयुक्त है। अस्तित्ववादी 'सारसत्ता' (Essence) और 'अस्तित्व' (Existence) को दो विशेष अर्थों में प्रयुक्त करता है। 'सारसत्ता' प्रकृति का निश्चित आकारयुक्त प्रयोजनशील, निष्क्रिय तत्त्व है और अस्तित्व वह चेतना-सम्पन्न, क्रियाशील अनिश्चित अंश है, जो सृष्टि में मानव-मात्र में ही लक्षित होता है। अस्तित्व-सम्पन्न मानव चिन्तनात्मक एवं निर्णयात्मक पगों द्वारा अपने ऐतिहासिक विकास के अनिर्दिष्ट, अज्ञेय मार्ग को मापता चलता है। सृष्टि की यह चेतन सत्ता अपने चिन्तन एवं निर्णय के लिए पूर्णतः स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता ही उसकी पीड़ा का मूल कारण है। हेडेगर ने मनुष्य की सारसत्ता को उसके अस्तित्व के अन्तर्गत माना है। वह 'Dasien' (man) शब्द का प्रयोग किसी निश्चित तत्त्व (Essence) को अभिव्यक्त करने के लिए नहीं वरन् उस विशिष्ट कोटि की सत्ता के पर्याय में प्रयुक्त करता है जो सदैव किसी ऐसी स्थिति से अग्रसर होती है जिसमें कि उसे फेंक दिया जाता है। अस्तित्व का भविष्य आंशिक रूप से मानव के स्वतन्त्र निर्णयों पर निर्भर करता है, अतः आगत के विषय में कोई सुनिश्चित पूर्व घोषणा असंभव है। अस्तित्व-वादियों के निर्देशानुसार वह व्यक्ति, जो मात्र विश्व-चिन्तन में लिप्त रहता है और अपनी

विशिष्ट परिस्थितियों द्वारा अपेक्षित सामयिक निर्णयों की आवश्यकता की अवहेलना करता है। वस्तुतः अपनी 'स्वतन्त्रता' के अधिकार के प्रति अन्याय करता है। इन विभिन्न किन्तु संबद्ध धाराओं में प्रवाहित होती हुई इन चिन्तकों की विचारसरणी अपनी केन्द्रीभूत निष्पत्तियाँ इसी प्रमुख विचार पर आधारित करती है कि प्रत्येक मानव अस्तित्व-सम्पन्न है, कालानुसार निर्णायक बनता है और उसे एक सीमित काल में ही ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक प्रश्नों पर निर्णय करना पड़ता है, जो उसके लिए अतिशय महत्त्वपूर्ण ठहरते हैं। इन तत्काल-निर्णयों की महत्त्वपूर्ण माँग को पूरा करते समय की अपनी परम स्वतन्त्रता की भावना ही व्यक्ति के दुःख, चिन्ता एवं नैराश्य का साधन बनती है; क्योंकि मानव हर प्रकार के निर्णयों के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। किन्तु इन निर्णयों के परिणाम के विषय में वह उस समय अंधकार में ही रहता है। सार्त्र ने इसे 'स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित' (Condemned to be free) शब्दावली द्वारा व्यक्त किया है।

'अस्तित्व' शब्द की इस विचित्र अर्थपूर्ण ध्वनि का प्रयोग सर्वप्रथम कीर्केगार्ड द्वारा 'Concluding Unscientific Postscript' (१८४६) नामक ग्रंथ में किया गया। कीर्केगार्ड ने उक्त ग्रन्थ में हीगेल की इस निष्पत्ति को कि विश्व एक सुनियोजित चेतन सुव्यवस्था है, सत्य ज्ञान है एवं ज्ञान ही सत्य है, भ्रममूलक एवं अर्थशून्य वक्तव्य सिद्ध करने का प्रयास किया है। कीर्केगार्ड का तर्क है कि एक असमाप्त योजना का एक विशिष्ट अंश जो कि स्वसृजन की प्रक्रिया-शक्ति से शून्य है। किस भाँति उसके अन्तिम निष्कर्ष को समझ सकता है। यदि विश्व को एक सोद्देश्य व्यवस्था स्वीकार कर भी लिया जाय तो उसकी विकास-प्रक्रिया का ज्ञान ईश्वर को उपलब्ध हो सकता है न कि हीगेल अथवा उनके पाठकों को। अतः सीमित व्यक्तित्वपूर्ण इकाइयाँ, जो इस तथ्य के प्रतिपादन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने में तत्पर हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सृष्टि की चेतन-विकास-प्रक्रिया में विशेष निर्दिष्ट स्थान पर उपस्थित हैं, कीर्केगार्ड के मतानुसार सुखान्तकी नाटकों के विदूषक पात्रों की भाँति व्यवहार करती हैं। कीर्केगार्ड का विचार है कि कोई व्यक्ति सृष्टि में अपना स्थान नहीं जान सकता (क्योंकि ऐसा स्थान है भी नहीं) और कोई भी व्यक्ति अपने कर्तव्य की अनिवार्य आवश्यकता को अलौकिक प्रेरणा से प्रमाणित रूप में प्राप्त करके या सिद्ध करके नहीं दिखा सकता। प्रत्येक को यही चाहिए कि वह साहस एवं आस्था के साथ स्वयं ही अपने लिए सर्वोत्तम संभाव्य निर्णय करे। कीर्केगार्ड का यह विचार बुद्ध के 'अप्प दीपो भव' के बहुत समीप जान पड़ता है। कीर्केगार्ड स्वयं एक धार्मिक व्यक्ति था और उसने यह स्वीकार किया है कि उसे ईश्वर के प्रति आस्था को लेकर मुक्ति अथवा पतन के परिणामों से अनभिज्ञ रहकर निर्णय करना पड़ा। व्यक्ति अपने समग्र जीवन को धार्मिक अथवा अधार्मिक निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र है, किन्तु भविष्य के आगत सुख अथवा दुःखों के परिणाम से अज्ञेय रहकर। किसी विशेष आस्था से सम्पन्न बनने का अर्थ है अंधकार में छलाँग लगाना, जिसका परिणाम कुछ भी हो सकता है। धार्मिक व्यक्ति एक ऐसा जुआरी है जो अनजानी, अप्रमाणित एवं अज्ञेय शक्तियों पर दाँव लगाता है। 'Concluding Unscientific Postscript' में कीर्केगार्ड ने सत्य को आत्मपरकता माना है, उससे अभिप्राय यह नहीं है कि सत्य की उपलब्धि किसी व्यक्ति में उद्‌भासित विश्व-प्रकृति द्वारा

होती है, किन्तु यह कि कोई भी व्यक्ति कोई भी कार्य करने पर उसके परिणामतः प्राप्त होने वाले मूल्यों को अपनी संकल्पात्मक निर्णायक शक्तियों के अनुपात में उपलब्ध करता है। कीर्केगार्ड के मतानुसार ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव वायवीय तार्किकता या प्रकृति में नहीं किया जा सकता और धर्म एक आंतरिक निर्वाचन क्रिया है जिसमें अंध-श्रद्धा अपेक्षित है। कला, विज्ञान एवं इतिहास उस मानव-जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जा सकते जिसका निर्माण अज्ञान एवं अर्धसत्यों के प्रकाश में अनिवार्य बाध्य वैयक्तिक निर्णयों को लेने पर होता है और जो एक ऐसे मानव-जीवन के तथ्य संग्रह, टिप्पणी एवं व्याख्या हैं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ईसाई धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव पश्चिम में क्षीण हो गया था और ध्वंसोन्मुख युग निष्क्रिय सांस्कृतिक परम्परा एवं शिथिल धार्मिक संस्कारों के साथ अपना बौद्धिक आस्थामय संतुलन नहीं रख पा रहा था। अतः युद्ध-विभीषिका से संतप्त पश्चिमी जगत् ने इस नवीन सौंदर्यशास्त्रीय मूल्यवाद को परम्परा-जर्जर ईसाई धार्मिकता के स्थान पर बौद्धिक प्रश्रय देना स्वीकार किया। यद्यपि तत्कालीन नैतिक एवं सामाजिक विश्रृंखलता के कारण कीर्केगार्ड की अनिश्चयात्मक भविष्य के निर्णय के अनिवार्य परिपार्श्व में संत्रस्त अवस्था का उल्लेख एवं विवरण पतनोन्मुखी ईसाई समाज को अप्रिय कटु अनुभव प्रतीत हुआ, किन्तु इसके परिणामस्वरूप ईसाई मत का तटस्थ मूल्यांकन भी सम्भव हो सका। कीर्केगार्ड की इस मूल दृष्टि से प्रभावित होकर युग की बौद्धिक चेतना इस विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु पर आधारित होकर भी विभिन्न दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कर सकी। बीसवीं शताब्दी में काल यास्पर्स (१८८३—) की रचनाओं में ही अस्तित्ववादी दर्शन की समग्र विकासपूर्ण तथ्य योजना—सन्तोषदायक विवरण एवं जीवन्त विश्लेषण के साथ मिलती है। यास्पर्स का कथन भी यही है कि हीगेल के समान तत्त्व-चिन्तन-धारा का समय बीत चुका है, किन्तु उसके विचार में व्यक्तिवादिता को विनाश का भय 'क्रिश्चियन-डम' से नहीं, किन्तु (प्रमुख रूप से) टैक्नोलॉजीकल समाज के उस विशिष्ट गठन से है जिसका मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक मनुष्यों के लिए सन्तोष के एक विशेष वर्गीकृत स्तर का निर्माण करना है। अपनी पुस्तक 'Man in the modern age' में उन्होंने इस तथ्य को विवरण के साथ प्रस्तुत किया है। कीर्केगार्ड ने प्राकृतिक विज्ञानों की उपेक्षा की थी, किन्तु यास्पर्स ने उस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी कि उपर्युक्त विज्ञानों की तथ्यवादी जिज्ञासा एवं अन्वेषण नैतिक निर्णयों से पलायन के माध्यम भी प्रस्तुत कर सकते हैं, इसका प्रतिपादन किया है कि ज्ञान के उन अगम अनन्त क्षेत्रों का अनुसंधान, जो अनन्त जिज्ञासा के विषय हैं, उनकी एकनिष्ठ गवेषणा मानव-जीवन की सारगर्भित क्रियात्मकता के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्षों में से एक है। यास्पर्स ने ईश्वर के स्थान पर 'Transcendence' का उल्लेख किया है। अभिप्राय कदाचित् यही है कि हमारे ज्ञान की अपूर्णता एवं सीमित शक्तियाँ एक अज्ञेय, ज्ञानातीत अनन्त शक्तिपूर्ण अस्तित्व के उद्गम का संकेत देती हैं। यास्पर्स का मत है कि परम्परा द्वारा प्रदत्त ऐसा कोई लेखबद्ध ज्ञान-कोष नहीं है जो हमारे कृतित्व को प्रामाणिक रूप से निर्धारित कर सके। यह भी सिद्ध करना सम्भव नहीं कि हम स्वतन्त्र हैं, क्योंकि अस्तित्व विषयक प्रस्तुत किये गए समस्त तर्क वस्तुपरक सत्ता का संकेत देते हैं और स्वतन्त्रता वस्तु-सत्ता का गुण नहीं है।

अस्तित्ववादी दर्शन को, मार्टिन हेडेगर (१८८६—) से जो एडमंड हज़र्ल का शिष्य था विशेष प्रचार एवं बल मिला। एडमंड हज़र्ल फेनामेनालॉजी के संस्थापक माने जाते हैं। हज़र्ल की मान्यता थी कि दार्शनिकों को प्रकृति-जगत् से ध्यान हटाकर आत्मस्थ होना चाहिए, क्योंकि उस स्थिति में ही प्रकृति-जगत् विषयक चिन्तन एवं विश्लेषण की आवश्यक भूमिका मिलती है। हेडेगर उनसे अंशतः सहमत रहे हैं। अस्तित्ववादी क्षेत्र में हेडेगर का व्यक्तित्व कुछ ऐसा लगता है जैसे कीर्केगार्ड अपने विज्ञान-विषयक क्षोभ के साथ एकाएक नास्तिक भी हो गए हों। हेडेगर का मनुष्य एक क्रूर नियति द्वारा अनुशासित सहानुभूति-हीन जगत् में अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के उद्योगों में सदैव रत रहने वाला करुण प्राणी है जिसकी उपलब्धियों को मृत्यु एकाएक विनष्ट कर देती हैं। मनुष्य रूढ़िपरक सामान्यताओं के अंतर्गत निर्वैयक्तिकता के साथ जीवन-यापन कर सकता है, किन्तु अपने अस्तित्व की स्वातन्त्र्य भावना की रक्षा के लिए उसमें प्रत्येक समय अंततः मृत्यु-भाव की कठोर वैचारिकता के साथ रह सकने की क्षमता भी आवश्यक है। 'शुतुरमुर्गी नीति' द्वारा आँख बन्द करके जीवन के अरुचिकर, दुखद अस्तित्व को भुलाया अवश्य जा सकता है, किन्तु उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। अस्तित्ववादी वादों की सीमा में बँधने के प्रति सदैव चिन्तित रहे हैं और हेडेगर इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने स्वयं को अस्तित्ववादियों की गणना में परिगणित न किये जाने का परामर्श दिया है किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कीर्केगार्ड के दर्शन में प्रस्फुटित होने वाली मनुष्य की अनुशासित, पराधीन, अनिश्चयात्मक स्थिति की गम्भीर व्याख्या हेडेगर की रचनाओं द्वारा ही हुई।

गेब्रियल मार्सेल (१८८६—) एक अन्य अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं जिनकी दार्शनिक निष्पत्तियाँ उनकी अपनी आदर्शवाद-सम्बन्धी आलोचनाओं के निष्कर्ष से प्राप्त मान्यताओं पर आधारित हैं। उनकी विचार-धारा पर कीर्केगार्ड का प्रभाव अत्यन्त अल्पांश में है। मार्सेल का महत्त्व नैतिक परिणामों के साधारणीकरण एवं प्रेरक तत्त्वों की व्याख्या में है जो मनुष्य को उस विशिष्ट स्थिति में अनिवार्यतः ले जाते हैं। उनका विचार है कि यदि विशेष मानव-समुदायों को, जो यथार्थ में अस्तित्वपूर्ण है, फासिस्ट या कम्युनिस्ट-जैसी धारणाओं एवं वादों की सीमा में वर्गीकृत करके स्वीकृत न किया जाय तो युद्धों की सम्भावना नहीं रहेगी। विशिष्ट मानव-स्थितियों के स्वतन्त्र निर्णयों को वादों द्वारा स्थानान्तरित करने में ही संघर्ष उत्पन्न होता है।

ज्याँ पाल सार्त्र (१९०५—) अस्तित्ववादी दार्शनिकों में 'स्वतन्त्रता' के व्यापक एवं सूक्ष्म विश्लेषण के लिए एक महत्त्वपूर्ण मौलिक विचारक माने जाते हैं। उन्होंने मनुष्य का अस्तित्व उसकी चेतना, विश्व-प्रकृति, संकल्प-शक्ति एवं उसके प्रयोगों द्वारा परिवर्तित मानवीय जीवन के मूल्यों पर अपने विचारों को स्पष्ट करने के लिए कुछ उपन्यास और नाटक लिखे हैं। 'नॉशिया', 'रे प्रीव' और 'रोड्स टू फ्रीडम' उनके उपन्यासों में तथा 'क्राइम पैशनल', 'दि फ्लाइज़' एवं 'इन केमेरा' उनके नाटकों में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। सार्त्र के निबन्ध···'सिचुएशन्स' (तीन भाग) में संग्रहीत हैं, जिनमें समकालीन साहित्यकार उनकी कृतियाँ, सामयिक परिस्थितियों और साहित्य आदि विषयों पर विशिष्ट दृष्टिकोण से विचार किया गया है। 'ह्वाट इज़ लिटरेचर' में उन्होंने अपने कला एवं साहित्य-विषयक

निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य-सम्बन्धी विचार अभी तक अपनी विशिष्ट रूप रेखा निर्धारित नहीं कर सके हैं (कतिपय समीक्षकों की राय में)। अस्तित्ववादी आन्दोलन को साहित्यिक परिवेश में उपस्थित करके जन-साधारण के लिए सुलभ, ग्राह्य एवं प्राप्य बना देने का प्रयास सम्भवत: उनका सबसे बड़ा कार्य है। (यद्यपि यह आंशिक रूप में ही सम्भव हुआ है)।

सार्त्र ने चेतना (For-itself) एवं सत्ता (In-itself) के दो रूपों के विश्लेषण द्वारा अस्तित्ववाद-सम्बन्धी अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं का सूत्रपात किया है। 'सत्ता' एक सुस्पष्ट, दृढ़, ठोस निश्चयात्मक उपस्थिति है, जो न क्रियाशील है न निष्क्रिय, न प्रमाणात्मक और न निषेधात्मक ही। 'चेतना' की व्याख्या करते हुए ही सार्त्र ने अपने "Being is Being is that Being is nothing" के सूत्र की उद्भावना की हैं। चेतना वस्तुसत्ता का अनुभव स्वयं से भिन्न स्थिति में 'स्व' से भिन्न की अनुभूति के रूप में करती है। चेतना वस्तुसत्ताओं को प्रतिबिम्बित करने वाली निष्क्रिय दर्पण-मात्र वस्तु नहीं है, वह वस्तुपरक जगत् के विषय में परिगणित एवं जिज्ञासु भी होती है। वस्तुपरक जगत् के चेतना-विषयक आकलन प्रमाणात्मक अथवा निषेधात्मक कुछ भी हो सकते हैं। इस प्रकार अनुभव-जगत् की स्थिति द्वि-ध्रुवीय है, जिनमें प्रत्येक ध्रुव की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है।

चेतना के गुण के कारण ही सार्त्र ने मनुष्य को परम स्वतन्त्र माना है। मानव अपने-अपने विचारों को आगत की ओर भेजता है और इस प्रकार स्वयं की सीमाएँ लाँघ जाता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता उसकी प्रमुख सत्ता है।[1] सार्त्र का अस्तित्ववाद ईश्वर का निषेध करता है और मानव को ही अपने भविष्य का निर्माता स्वीकार करता है। सार्त्र की प्रकृति में अलौकिक अथवा अज्ञेय शक्ति द्वारा निर्देशित किसी सुनियोजित भावी कार्यक्रम के लिए स्थान नहीं है। मानव दिक् एवं काल के परिपार्श्व में परिस्थितियों की माँगों के अनुरूप निर्णय करके अपनी सारसत्ता को स्वयं ही निर्मित करता है और चेतना एवं संकल्प द्वारा निर्देशित होकर अपनी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता के अधिकार का उपयोग करके अपने प्रत्येक कर्म-रूपी पग द्वारा भविष्य के पथ का निर्माण करता चलता है। सार्त्र का विचार है कि मनुष्य को उसकी स्वतन्त्रता कहीं से किसी के द्वारा प्रदत्त वस्तु नहीं है उसका ज्ञान उसे स्वयं ही होता है। हमें स्वतन्त्र होना चाहिए यह भी एक भ्रामक उद्बोधन है, क्योंकि हम वही हैं ही। हम "स्वतन्त्र होने के लिए अभिशापित" हैं।[2] मनुष्य के स्वतन्त्र रहने का कार्य आवश्यकता-प्रेरित या उसका अपना प्रयत्न नहीं, किन्तु एक परम अनिवार्य आरोपित वस्तु है। मनुष्य अपनी इस स्वतन्त्र स्थिति में सृजनात्मक कार्य करता है। उसके अतिरिक्त

---

१. "I am very sorry that it should be so but if I have excluded God the Father there must be somebody to invent values." Sartre. Existentialism and Humanism. Page 54.

२. "Existence is not necessity. To exist is simply to be there. The existents come before us, we meet them, but we can never deduce them, contingency is not a seeming fact, an appearance that we can avoid; it is absolute......" Nausea. P. 167 (Dr. Wild) Quoted by John Wild. The Challenge of Existentialism, P. 71.

वस्तु, जगत् की सत्ता मूल्य-विहीन, निष्क्रिय, निरपेक्ष उपस्थिति है, मनुष्य यदि उसको मूल्यों से वर्गांकित न करे तो वे वस्तुएँ मूल्यहीन ही रह जायँगी। मनुष्य की इस मूल्यारोपण क्रिया द्वारा ही नैतिकता के प्रतिमानों का जन्म होता है, अतः ये मूल्य मूलतः सदैव ही मानवीय एवं सापेक्ष होते हैं।[1] मूल्यों का आविष्कार मानवीय आवश्यकताओं एवं उनसे प्राप्त सन्तुष्टि द्वारा होता है। इस प्रकार सार्त्र की दृष्टि में नैतिक निर्णय ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा अनुशासित हैं। इस 'भयंकर स्वातन्त्र्य' (जैसा कि मार्जोरी ग्रेन ने उसे सम्बोधित किया है) की स्थिति में मनुष्य को रूढ़ि या धार्मिक नैतिकता के बने-बनाए प्रतिमानों की आमंत्रण देती सुरक्षा की छाया में स्थान नहीं है। उसे विश्व का अर्थ एवं स्वयं की सत्ता का अभिप्राय निश्चित करना पड़ता है। मनुष्य जब स्वातन्त्र्य-भावना से स्वयं को मुक्त करके वस्तुपरक सत्ताओं की कोटि में मिल जाता है तब 'ला नोसे' की स्थिति उत्पन्न होती है।

सार्त्र ने 'स्वतन्त्रता' का अध्ययन तीन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया है—(१) व्यक्ति में व्यक्ति को केन्द्रबिन्दु मानकर, (२) व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध में, (३) परिस्थितियों से सम्बन्धित स्थिति में।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी चेतना के माध्यम से जगत् के संसर्ग से प्रेरित अपनी बौद्धिक एवं भावनात्मक अनुभूतियों के आकलन का केन्द्रबिन्दु स्वयं बनकर अपनी विशिष्ट सृष्टि का निर्माण करता है। यह विशिष्ट सृष्टि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मौलिक सृजन-क्रिया होती है, भविष्य के प्रति भी व्यक्ति में विशिष्ट मौलिक धारणाएँ, कल्पनाएँ एवं आदर्श कार्य करते हैं। अपनी शक्ति, सम्भावना तथा परिस्थितियों आदि का विश्लेषण करके व्यक्ति भविष्य के कार्यक्रम की योजना अपने मानसिक जगत् में निर्मित करता है और फिर उस कल्पना-चित्र के अनुरूप स्वयं के व्यक्तित्व को ढालता चलता है। स्वनिर्धारित मूल्यों से निर्मित अपने कल्पना-चित्र की प्राप्ति के पश्चात् उसके आकांक्षित प्रतिमान कुछ दूसरा स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं और इस प्रकार वह कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता। स्वतन्त्रता की जीवनी-शक्ति के लिए असन्तुष्टि एक आवश्यक खाद्य-पदार्थ है। लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् पूर्ण सन्तोष का अभिप्राय होगा, अस्तित्व के वर्ग से सत्ता के वर्ग में आ जाना। सत्ता एवं अस्तित्व के द्वैत को मिटाना ही मानव-संघर्ष का ध्येय है, जो असम्भव है; क्योंकि दोनों दो विरोधी वस्तुएँ हैं किन्तु इस कारण मनुष्य का आदिम प्रयत्न हतोत्साह नहीं हुआ है।

सार्त्र ने फ्रायड युंग एवं एडलर के मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों को स्वीकार नहीं किया है। उक्त निष्कर्षों के अनुसार व्यक्ति के संगठन के लिए उसकी वे विशेष परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं जिनके द्वारा उसका व्यक्तित्व विशिष्ट आकार ग्रहण करता है और जो उसके अधिकार में नहीं होती। मानव अपने पाप, पराजय, कायरता, दुर्बलता, उत्तरदायित्वों और स्वतन्त्रता, हीन सत्ता-स्थिति को कुण्ठाओं जन्म एवं वातावरण के विशेष पोषण के सिर मढ़ दे सकता है। सार्त्र आग्रहपूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि व्यक्तित्व में कुण्ठा-जैसी

१. "We have neither behind us nor before us in a luminous realm of value any means of justification or excuse. We are left alone without excuse." Existentialism and Humanism. Page 34. Sartre.

लक्षित होने वाली वस्तु[1] अनेक निर्णय प्रतीक्षित संघर्ष-मात्र होते हैं और व्यक्तित्व परिवर्तन इन निर्णयों द्वारा सम्भव है।

चेतनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की आधार-भूमि इकाई नहीं, विरोध है। अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व-वृत्त हमारे अस्तित्व-वृत्तों की परिधियों के मध्य आकर संघर्ष, भय, घृणा अथवा प्रेम-सम्बन्धी अनेक मानवीय भावों के उद्भावक एवं प्रेरक बनते हैं। इन्हीं विशेष प्रेरणा-भूमियों की विशिष्ट चारित्रिकता के आधार पर अन्य चेतना-केन्द्रों से हमें आकर्षण अथवा विकर्षण की चुम्बकीय भावना-तरंगों की अनुभूति होती है। इन विशिष्ट भावना-तरंगों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता दूसरों के द्वारा समर्थन अथवा निषेध के माध्यम से अपहृत होती है। सार्त्र का विचार है कि सामाजिक जीवन में व्यक्ति समाज द्वारा अपेक्षित जीवन की नाटकीयता को अभिनीत करता है। उसकी मूल स्वतन्त्र जीवन-प्रक्रिया का वास्तविक प्रेषण सम्भव नहीं हो पाता।[2] अपनी एक लघु कथा (द पोरट्रेट ऑफ ए लीडर) में सार्त्र ने लोकप्रिय एवं सफल सामाजिक जीवन को अन्य व्यक्तियों द्वारा ईप्सित, निश्चित एवं प्रदत्त विशिष्ट नाटकीय भूमिका का निर्वाह-मात्र चित्रित किया है। वर्ग-चेतना का उद्भव परिस्थितियों द्वारा पोषित उभयनिष्ठ विरोधी इकाइयों के प्रति सुरक्षा की भावना से एक सूत्र में बँधकर संघर्षशील होने की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया द्वारा होता है। धार्मिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, राजनीतिक, जातीय एवं प्रांतीय वर्ग-विभाजन के आग्रह में यही मूल प्रवृत्ति कार्य करती है। इस व्यक्तिगत अथवा वर्गीय संघर्षों का अंत सदैव ही उत्पीड़न में होता है, क्योंकि घृणा द्वारा जहाँ स्पष्ट प्रत्यक्ष रूप से विरोधी दल पर आक्रमण होता है वहाँ प्रेम द्वारा व्यक्ति एवं वर्ग अपनी स्वतन्त्रता को बाँधने के प्रयास में स्वयं बँध जाते हैं; अतः संघर्ष दोनों स्थितियों का एक आवश्यक परिणाम है। इन तथ्यों पर प्रकाश डालकर सार्त्र मानवीय सम्बन्धों के खोखलेपन का कटु सत्य हमारे समक्ष उपस्थित करना चाहते हैं।

परिस्थितियों से सम्बन्धित मानवीय स्वतन्त्रता का रूप यद्यपि बाह्य रूप से सीमित एवं नियंत्रित लक्षित होता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। परिस्थितियाँ व्यक्ति की शक्ति को भले ही शासित करें, किन्तु उसकी स्वतन्त्रता तब भी अविजित रहती है।[3] यद्यपि अस्तित्ववादी आकस्मिक, अचूक एवं स्वेच्छाचारी दुर्घटनाओं को स्वीकार करते हैं। कार्ल यास्पर्स ने इसे

---

१. "The Existentialist says that the coward makes himself cowardly, the hero makes himself heroic; and that there is always a possibility for the cowards to give up cowardice and for the hero to stop being a hero." Sartre. Existentialism and Humanism. Page 43.

२. "The real Lucien—he knew now had to be sought in the eyes of the others, in the frightened obedience of Pierette and Guigard, the hopeful waiting of all those beings who grew and ripened for him, those young apprentices who would become his workers, the people of Ferolles great and small, of whom he would one day be the Master." Sartre. Intimacy. Page 232.

३. The Challenge of Existentialism. John Wild. Page 80.

'Arbitrary Situations' पद से अभिव्यक्त किया है। अस्तित्ववादी इस प्रकार की षट-स्थितियों के विषय में एकमत हैं। ये षट-स्थितियाँ इस प्रकार हैं : (१) स्थिति-विपन्नता, (२) सम्भावना एवं भाग्य, (३) क्लेश, (४) मानवीय संघर्ष एवं विरोध, (५) अपराध, एवं (६) मृत्यु। सार्त्र का विचार है कि दुर्घटनाओं द्वारा अंग भंग होना चाहे परिस्थितियों का परिणाम हो किन्तु उस विशिष्ट विकलांग स्थिति को स्वीकार करना व्यक्ति-विशेष की स्वतन्त्रता की भावना से प्रसूत निर्णय ले लेने के कारण सम्भव हुआ है। पक्षाघात से जड़ीभूत अर्धांग होने की स्थिति में व्यक्ति आत्म-हत्या द्वारा उस स्थिति में जीने से अस्वीकार भी कर सकता था, किन्तु उसका ऐसा निर्णय न लेना इस बात का प्रमाण है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी वैयक्तिक निर्णयात्मक शक्ति का प्रयोग करके सम्पूर्ण सम्भावनाओं पर विचार करके उक्त अवस्था एवं उससे सम्बन्धित स्थितियों का उत्तरदायित्व ग्रहण करने से सहमति प्रकट करता है।[1] अतः मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन उसके संकल्पात्मक निर्णयों एवं कार्यों के प्रतिमान पर होता है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वआरोपित न होने पर और अपने अस्तित्व का कारण स्वयं न होने पर भी वह अपने व्यक्तित्व के लिए पूर्ण उत्तरदायी है, क्योंकि इस उत्तरदायित्व से पलायन एवं आत्म-घात अस्तित्व की अनेक संभव जीवन-स्थितियों में से एक का चुनाव है। अतः अपने जन्म का निर्वाचन मनुष्य स्वयं करता है। मनुष्य का स्रष्टा ईश्वर नहीं है और इसलिए मानव-स्वभाव, उसका विकास, उसका भविष्य भी निश्चित एवं पूर्व मीमांसित नहीं है। मनुष्य अस्तित्व में आने के पश्चात् परिस्थिति, देश, काल एवं अन्य चेतना-केन्द्रों से संघर्षशील होता है और तब फिर कहीं स्वयं अपनी व्याख्या करने के लिए सामग्री प्राप्त करता है। सार्त्र की एक धारणा यह भी है कि[2] व्यक्ति के निर्णय का अर्थ समस्त मानवता का निर्णय होता है, क्योंकि अपने निर्णयों द्वारा व्यक्ति एक विशिष्ट मानसिक मानव-व्यक्तित्व के आदर्श का मूर्त्त रूप में समाज के समक्ष अपने संकल्पनात्मक समर्थन द्वारा प्रस्तुत कर रहा होता है। विशेष धर्म-सम्प्रदाय में जन्म लेकर भी यदि एक व्यक्ति उक्त धर्म के सिद्धान्तों की अवहेलना करता है और धर्माचार्यों द्वारा स्वयं को उक्त धार्मिक बंधनों से मुक्त किये जाने का प्रस्ताव रखता है तो वह निश्चय ही समस्त मानवता की ओर से एक विशेष निर्णय कर रहा है। वह स्वयं अपने लिए और अन्य सब व्यक्तियों

---

१. (१) "Man is nothing else but the ensemblage of his acts, nothing else than his life." Sartre. Existentialism. Page 37-38.
(२) "Man is nothing else but that which he makes of himself." Sartre. Existentialism and Humanism. Page 28.
(३) "Man is nothing else but what he proposes, he exists only in so far as he realises himself, he is therefore nothing else but the sum of his actions, nothing else but what his life is." Ibid. Page 41.

२. "I am thus responsible for myself and for all men, and I am creating a certain image of man as I would have him be. In fashioning myself I fashion man." Quoted by E. L. Allen in Existentialism from Within. P. 81.

के लिए एक विशेष अभीप्सित आकांक्षाओं के आदर्श की मूर्ति-स्थापना का कार्य करता है और इसलिए मानवीय इकाई या व्यष्टि स्वयं और इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण अन्य इकाइयों अथवा समष्टि के लिए मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से उत्तरदायी होती है। अतः सृष्टि का मूल्यांकन मनुष्य की चेतना एवं निर्णय द्वारा होता है। यहाँ सार्त्र एक आश्चर्यजनक विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि[1] हमारे निर्णय सदैव ही अपेक्षाकृत शुभ होते हैं और ऐसा कोई निर्णय हमारे लिए शुभ नहीं हो सकता जो कि मानव-मात्र के लिए शुभ सिद्ध न हो। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के निर्णायक प्रबुद्ध चेतना-सम्पन्न विशिष्ट व्यक्ति ही हो सकते हैं।

अपने इन विचारों को केन्द्र-बिन्दु बनाकर सार्त्र ने अपने उपन्यासों एवं नाटकों को लिखा। यह निर्विवाद सत्य है कि सार्त्र और उनके सहयोगियों के साहित्य में युद्धोपरान्त नैराश्य, धार्मिक आधारहीनता, बुद्धिवाद के अजीर्ण, यान्त्रिक सभ्यता एवं ह्रासोन्मुख संस्कृति तथा जीवन के निष्क्रिय विकलांग रूप की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। समीक्षकों ने इसे 'संक्रान्तिकालीन दर्शन एवं साहित्य' कहा है। युद्ध-पीड़ित मानव-सभ्यता, जिसे फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक विचारों द्वारा मानव के उपचेतन की मनोग्रन्थियों द्वारा पूर्णतः नियन्त्रित दुर्बल एवं इच्छा-शक्तिहीन कठपुतली-मात्र होने की संज्ञा मिली, जिसे मार्क्स के साम्यवादी आदर्शों के रंगीन स्वप्नों का ध्वस्त खण्डहर मिला, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों की असंतुलित स्थिति से सुख-शान्तिपर्ण भविष्य की आकांक्षाओं को मृग-छलना स्वीकार कर लेना पड़ा—इस विषम परिस्थिति में आत्म-ग्लानि, सांस्कारिक जड़ता, नैतिक अवमूल्यन एवं व्यक्तिवादी आत्म-विद्रोह से आन्दोलित हो उठी। मानव-सभ्यता के आज तक के भव्य दर्शन, विशाल संस्कृति एवं धार्मिक आस्थाएँ उसे प्रवंचना, खोखलेपन और मुलम्मे-जैसी जान पड़ने लगीं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् की इस भीषण गलनशीलता के क्षणों में काफ्का, में तारे कामू और सार्त्र-जैसे साहित्यकारों ने वस्तुस्थिति का चित्रण, एक कलात्मक तटस्थता से करने का प्रयास किया। अस्तित्ववादियों की रचनाओं में मानव-जीवन की व्यर्थता, यौन-प्रवृत्तियों का उबकाई देने वाला घृणोत्पादक विश्लेषण, सामयिक अराजकता, आर्थिक अनिश्चयात्मकता और ह्रासोन्मुख मानव-संस्कृति के चित्रों को देखकर कुछ समीक्षकों ने उक्त साहित्य को आस्थाहीन, अश्लील, अतियथार्थवादी प्रवृत्तियों की अतिवादिता, पलायन और निराशावादी घोषित कर दिया। उनका तर्क था कि सार्त्र की अनीश्वरवादी स्थिति में, मनुष्य के स्वयं आरोपित उत्तरदायित्व के कारण, नैतिक मूल्यों के आयामों का अभाव उपस्थित होता है जिसका नंगा चित्र उन उपन्यासों में है। व्यक्ति के स्वतन्त्र मूल्य-निर्धारण का सिद्धान्त, मानवता के लिए, उभयनिष्ठ मूल्यों की स्थापना करने में असमर्थ ठहरता है। मृत्यु की लक्ष्यहीन, अर्थशून्य समाप्ति एवं पुनर्जीवन के प्रति प्रदर्शित अस्तित्ववादी दृष्टिकोण, अन्धविश्वासी और तर्कशून्य मस्तिष्क की उपज है। उन्होंने यह भी कहा कि यह एक नकारात्मक, पलायनवादी दृष्टिकोण है जो सामयिक संक्रान्तिकालीन मानव-समाज के लिए, अत्यधिक हानिकारक सिद्ध हो सकता है। कतिपय समीक्षक, इस

१. What we choose is always the better and nothing can be better for us unless it is better for all. Sartre. Existentialism and Humanism. Page 29.

विशिष्ट साहित्य से इतने अधिक क्षुब्ध हुए कि अपनी समीक्षा में उन्हें संयम, शालीनता और सभ्यता के आरम्भिक पाठों का भी ध्यान न रहा। आश्चर्य की बात यह है कि इन समीक्षाओं के पश्चात् भी अस्तित्ववादी साहित्य एवं सार्त्र कुछ ही वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-लाभ कर सके (यह बात दूसरी है कि पाठकों में सार्त्र के दर्शन के प्रति कम एवं अतियथार्थवादी चित्रणों के प्रति अधिक आकर्षण रहा हो) सार्त्र के समीक्षकों ने उसकी नग्न-चित्रण-पद्धति और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से असंतुष्ट होकर जो आलोचनाएँ की हैं वे बहुत संतुलित, तटस्थ, मर्मग्राहिणी और प्रतिक्रिया से शून्य हों, ऐसा नहीं जान पड़ता। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सार्त्र ने कुछ स्थलों पर ऐसे विचारों को वाणी दी है जो विकृत वासना, उच्छृङ्खलता, अराजकता और पलायनवाद को प्रश्रय देते हैं, किन्तु इसके साथ इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि इनमें कुछ उसके अपने व्यक्तिगत दार्शनिक निष्कर्ष हैं और कुछ चरित्र-विशेष की विशिष्ट मनःस्थिति को विश्लेषित करने वाले। यदि सार्त्र एक अमर्यादित, पराजित, आत्म-ग्लानि-पीड़ित पात्र का चित्रण उपस्थित करते हुए कुछ ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग करता है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह नवीन मानव-समाज के लिए नैतिक मूल्यों के उस विशेष रूप को प्रस्तावित करता है। दार्शनिक वक्तव्यों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट ही हो चुका है कि दर्शन की आधारभूमि व्यष्टिगत मानवीय स्वतन्त्रता है, जिसकी रक्षा का प्रश्न, इस बीसवीं सदी के वर्ग-समुदाय और दलों का आग्रह करने वाले आन्दोलनों के विरुद्ध, निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यद्यपि, विश्व में, अराजक स्थिति, सर्वत्र, गुणात्मक रूप से प्रायः एक ही है, किन्तु परिणाम एवं प्रतिक्रिया की दृष्टि से और परिमाणात्मक भिन्नत्व के आधार पर यह कहा जा सकता है कि फ्रांस में इन सामयिक समस्याओं को विशेष संवेदनात्मक रूप में ग्रहण किया गया। वर्तमान स्थिति यह है कि साहित्यकार के लिए किसी राजनीतिक दल-विशेष से सम्पर्क स्थापित करना, उससे निरन्तर संबद्ध रहना आवश्यक हो गया है। सार्त्र ने कैथोलिक एवं साम्यवादी दोनों वर्गों से अलग रहकर लिखने का प्रयास किया है यद्यपि यह स्पष्ट है कि वे मार्क्स की विचार-धारा से पर्याप्त रूप से प्रभावित हैं, किन्तु इनका किसी वर्ग-विशेष का सदस्य न बनने का आग्रह इसका संकेत देता है कि वे सम्प्रदायों द्वारा नियन्त्रित लेखकों की कोटि में से नहीं हैं। उनकी इस स्थिति पर समीक्षकों ने उन्हें 'पोलिटिकल फ्लर्ट' कहा है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है कि सार्त्र वामपक्ष को सुलभ, सम्पूर्ण लाभों का उपभोग करते हुए भी राजनीतिक जुए में अपना दाँव नहीं लगाना चाहते (यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से वे पूर्णतः मार्क्सवादी ही माने जायँगे)। 'बुद्धिवाद का युग'[१] उपन्यास में उनका नायक मैथ्यू डेलारू उनकी साम्यनिष्ठा के पश्चात् भी साम्यवादी दल का सदस्य न बनने की मनःस्थिति का सफल चित्र देता है। साम्यवादी दल के प्रति विद्रोही होने का तर्क, (स्वतन्त्रता-रक्षा के पश्चात्) यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि साम्यवाद ने सार्त्र

---

१. "If I joined a procession raising my fist in the air and singing the red flag, and if I declared myself satisfied with that, I should be lying to myself." Quoted by Windham Lewis in 'The Writer and the Absolute.' Page 100.

की मनोनीत जनता एवं पाठक वर्ग को उससे छीन लिया है। सार्त्र की दृष्टि में 'प्रोलेतेरियत' ही, वर्तमान काल में, स्वाभाविक रूप से लेखक का पाठक-समाज होना चाहिए। साम्यवादी पार्टी लेखक और पाठक के मध्य एक दलाल की स्थिति में आकर दोनों की स्वाभाविक किन्तु अनिवार्य प्रेषणीयता में बाधक होती है। पार्टी का लेबल अपने ऊपर लगाए बिना लेखक वह मनोवांछित समुदाय अपने पाठक-वर्ग के रूप में उपलब्ध नहीं कर पाता। साम्यवादी प्रचारात्मकता ने उक्त दल को एक एकाकी कूपमण्डूक की स्थिति में पहुँचा दिया है जहाँ उसे प्रत्येक घटना, राष्ट्र, पुस्तक एवं साहित्यकार को पूर्वनिश्चित राग अथवा द्वेष की दल-निर्धारित दृष्टि द्वारा आँकने को विवश कर दिया जाता है।

अस्तित्ववाद के समीक्षकों ने दार्शनिक सामाजिक एवं साहित्य-भूमियों पर अस्तित्ववाद एवं सार्त्र की आलोचना की है। अधिकांश आलोचना भ्रान्त, पक्षपातपूर्ण, पूर्वाग्रहों से प्रेरित और विपक्षी की तर्कहीन, क्षुब्ध, रोषपूर्ण विचारों की अनियंत्रित उत्तरदायित्व-हीन अभिव्यक्ति है। समीक्षा में कुछ अंश ऐसे भी हैं जिनमें सार्त्र एवं अस्तित्ववादी दर्शन एवं साहित्य के मर्म को छूने का प्रयास मिलता है। कुछ समीक्षाओं द्वारा उक्त वाद की वाद विवाद में उलझी हुई गूढ़ सूत्र-ग्रन्थियाँ खुल भी सकी हैं। निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टिकोण से देखने पर यही जान पड़ता है कि श्रेष्ठ समीक्षकों के मतानुसार सार्त्र अस्तित्ववाद की दार्शनिक व्याख्या में अधिक सफल हुए हैं, साहित्यिक निरूपण में अपेक्षाकृत कम। नास्तिक अस्तित्ववाद की श्रेष्ठ साहित्यिक परिणति अलबेर कामू और बेंजामिन फान्डेन की कृतियों में मिलती है। सार्त्र अपने साहित्य में अनेक स्थलों पर अतिवादी प्रवृत्तियों के आकर्षण से अपनी सृजन-शक्तियों की रक्षा नहीं कर सके हैं। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि अपनी दार्शनिक मान्यताओं में अस्तित्ववाद एक प्रेरणादायक बल एवं स्फूर्ति प्रदान करने वाला कर्मठ, आशावादी दर्शन होते हुए भी अपने साहित्य में अपने तथ्यों के नकारात्मक पक्षों को ही वाणी क्यों दे सका है। अस्तित्ववाद के द्वारा प्रतिपादित 'स्वतन्त्र मानव' को, जो अनिश्चयात्मक भविष्य एवं जीवन की निरर्थक वासना को लेकर आगे बढ़ रहा है, घोर कर्मठ एवं आशावादी दृष्टि का परिचय देना चाहिए। अस्तित्ववादी साहित्य में ऐसे नायक नहीं हैं जिन्होंने निर्वैयक्तिक, तटस्थ कर्मशीलता द्वारा विशिष्ट नैतिक मूल्य एवं सामाजिक स्थितियों के समन्वय-सूत्रों का उद्घाटन करने का प्रयास किया हो।[१] जीवन की एकांगी व्यर्थता, ईश्वर का बहिष्कार, सृष्टि की अर्थशून्यता, मानवीय समाज की मूल्यहीन स्थिति ये सब तथ्य निराशावाद एवं पलायन का नहीं, अपितु घोर संघर्ष, गहन उत्तरदायित्व और अदम्य आशावादिता का सन्देश देते हैं। मानव चारित्रिक रूप से अनिवार्यतः न पापी है न पुण्यात्मा, उसे अपने वैयक्तिक निर्णयों द्वारा जीवन के मूल्य स्थापित करने पड़ते हैं और उनको जीवन

---

१. (Authenticity is superior to inauthenticity. It) "Consists in assuming a lucid and true awareness of the situation, in accepting the responsibilities and risks incurred in that situation, and in maintaining it in the movement of pride or of humiliation, and sometimes in the moment of abhorrence and hatred." Sartre. Portrait of the anti-semite. Quoted by E. L. Allen in Existentialism from Within. Page 78.

में कर्म द्वारा उतारना पड़ता है। इस स्थिति में नकारात्मक सिद्धान्तों, रूढ़िवादी मान्यताओं एवं धार्मिक अन्ध-विश्वास द्वारा पूर्वनिश्चित नियमों को बिना किसी तर्क के ग्रहण करके उसका पालन करना 'अस्तित्व' एवं 'स्वतन्त्रता' का नहीं, किन्तु सारसत्ता' की जड़, निष्क्रिय कर्मशून्य दशा का परिचायक है। अस्तित्ववाद में कर्म को अस्तित्व का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माना गया है जिसके द्वारा जीवन की समस्त व्यर्थवादिता एवं अर्थशून्यता को उद्देश्य, आदर्श प्रयोजन एवं अर्थों से महिमा-मण्डित किया जा सकता है।[1] कीर्केगार्ड का आस्तिक अस्तित्ववादी दर्शन कतिपय स्थलों पर गीता के कर्मवाद का विदेशी रूप जान पड़ता है। इस प्रकार अस्तित्ववाद की दार्शनिक मान्यताओं एवं उसकी साहित्यिक परिणति में हमें आश्चर्यजनक वैषम्य लक्षित होता है और वस्तुतः अस्तित्ववादी की प्रमुख दुर्बलता यही है। उक्त दर्शन जीवन के जिन कटु सत्यों के उद्घाटन द्वारा मानव-मात्र को संघर्ष, तटस्थता और कर्मठता का पाठ पढ़ाना चाहता है वहाँ उनके चित्रण द्वारा नैराश्य, पराजय, आस्थाहीनता और ध्वन्सोन्मुखी सभ्यता की निष्क्रिय स्वीकृति को ही अभिव्यक्ति मिल सकी है। अस्तित्ववादी दर्शन के ये तथ्य जीवन की विशृङ्खल, अर्थशून्य पृष्ठभूमि के विरोध पर जिस दूसरे पक्ष की स्थापना के लिए उत्सुक थे वह सम्भव न हो सका। 'माध्यम' या सत्य की कटु स्वीकृति को परिमाणात्मक रूप में इतना विज्ञापित किया गया कि लक्ष्य उपेक्षित रह गया। 'माध्यम' के साथ 'लक्ष्य' की ओर ध्यान न दे सकने के कारण अस्तित्ववादी साहित्य का नकारात्मक एवं अकल्याणकारी पक्ष ही विकसित हो सका और मूल उद्देश्य बीसवीं सदी के आत्म-ग्लानिपूर्ण सांस्कृतिक रुदन में विलीन हो गया।

दर्शन एवं साहित्य में इतने भीषण वैषम्य और विरोध का इतिहास में यह पहला ही उदाहरण हो, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। यह अवश्य ही सर्वनवीन तथ्य एवं घटना है कि दर्शन एवं साहित्य साथ-साथ विकसित होते हुए भी इस प्रकार अपने-आपमें अलग-अलग स्वरूप में उपस्थित हो गए हों। इतिहास में विशिष्ट दार्शनिक धाराओं के ह्रासोन्मुख होने पर ही साहित्य में उनके दुर्बल एवं भ्रामक तथ्यों की अभिव्यक्ति मिलती है। इसका कारण यही हो सकता है कि सामयिक परिस्थितियों की प्रबल उथल-पुथल में साहित्यकार अपेक्षित दायित्व, मर्यादा एवं तटस्थ संयम का निर्वाह नहीं कर सका। अस्तित्ववाद जीवन का नवीन दर्शन है, जिसका सम्पूर्ण विकास एवं साहित्य में श्रेष्ठ कलात्मक परिणति अभी तक कदाचित् पूर्ण रूप से नहीं निभ सकी है। यह सम्भव है कि निकट भविष्य में हमें दर्शन एवं साहित्य के मध्य खुदी हुई विशाल खाई को पाटने का उपक्रम करने वाले श्रेष्ठ साहित्यकार की कृतियों की सूचना मिले।

---

१. "If the Commands of God were laws of man then disobedience would be impossible, if they were laws for man then his relation to God would not be permanent but intermittent. The Commands of God are neither the aesthetic fiat 'Do what you must' nor the ethical instruction 'These are the things which you may or must not do', but 'The call of duty', 'Choose to do what at this moment, in this context I am telling you to do.' " Kierkegaard. Ed. by Auden. Page 12.

धनंजय वर्मा

आधुनिक बंगला-काव्य

: १ :

आधुनिक बंगला-काव्य के आरम्भ की कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। यों तो रवीन्द्रनाथ स्वयं आधुनिक काल की सीमा में आयँगे, लेकिन आधुनिक की यह सीमा बड़ी व्यापक है और रवीन्द्रनाथ का विवेचन ही इसमें प्रमुख हो जायगा; अतः हम रवीन्द्रोत्तर बंगला-काव्य का ही विवेचन करते हैं। २०वीं शताब्दी के आरम्भिक चरण से ही बंगला-काव्य में आधुनिकता की सूचना प्राप्त होने लगती है। इस काल का बंगला-काव्य रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा और कृतित्व से आक्रांत-सा है। समसामयिक अनेक कवियों में किसी उल्लेखनीय प्रवृत्ति के दर्शन अपेक्षाकृत कठिन हैं। इनमें विचार-गाम्भीर्य के अभाव के साथ ही रवीन्द्रनाथ के अनुकरण की आक्रांति इतनी तीव्र है कि वैयक्तिक देन के रूप में इनका कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं रह पाता। देवेन्द्रनाथ सेन, अक्षय कुमार बराल, द्विजेन्द्रलाल राय का नाम रवीन्द्रनाथ के समकालीन कवियों में लिया जाता है। अक्षयकुमार बराल भाव-प्रधान, शांत-रस के कवि हैं, सत्येन्द्रनाथ दत्त भी अपनी व्यापक संवेदना और भाषा पर अपने अधिकार तथा उसके परिष्कार के लिए कुछ उल्लेखनीय स्थान अवश्य रखते हैं। वे कुशल शब्द-शिल्पी और नवीन छन्दों के निर्माता के रूप में भी माने जाते हैं। विदेशी भाषा और भावों की विशेषता को भी उन्होंने आत्मसात् किया था और बंगला को उनकी यह देन मानी जाती है। द्विजेन्द्रलाल राय के विषय में कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ के बाद वही बंगला-काव्य के प्रधान कवि के रूप में आदृत होते। इस समय करुणानिधान बनर्जी, यतीन्द्रनाथ सेन गुप्त, मोहितलाल मजूमदार आदि ने भी यथेष्ट ख्याति अर्जित की थी। इनमें बनर्जी महोदय अपने प्रकृति-प्रेम और अतीत प्रेम तथा यतीन्द्रनाथ सेन गुप्त एवं मोहितलाल मजूमदार बौद्धिक निराशा के लिए उल्लेखनीय हैं। बंगला-काव्य का यह काल 'वर्षा-मंगल' और 'बलाका' के महत्त्व से आपूरित है और इसी समय एक प्रस्थान-भेद के स्वर भी उसमें मिलते हैं। साधारणतः इसी प्रस्थान-भेद से ही अधुनातन बंगला-काव्य का आरम्भ मान लिया जाता है। यह सही है कि रवीन्द्रनाथ के काव्य में ही इस नये आयाम के पूर्व-लक्षण विद्यमान हैं। अधुनातन बंगला-काव्य के एकाधिक लक्षण उनके काव्य में भी मिलते हैं। 'लिपिका' में रवीन्द्रनाथ ही छन्दोमुक्ति का संदेश देते हैं और गद्य-कविता के वही अग्रदूत तथा श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वे यहाँ 'मनुष्य-धर्म' के प्रचारक के रूप में हैं और उनके ही

काव्य में सर्वप्रथम 'माटी की पुकार' सुन पड़ती है। 'पुनश्च' और 'शेष-सप्तक' में साधारण मनुष्य-जीवन की गाथा काव्य में कही गई है और पूर्ववर्ती काव्य को वे 'शौकीन-मजदूरी' करार देते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम घोषणा की थी :

चेये छिलि अमृतेर अधिकार,
—सेत न हे सुख,
ओरें, से न हे विश्राम''

एक अर्थ में तो स्वयं रवीन्द्रनाथ ही अधुनातन बंगला-काव्य के पुरस्कर्ता हैं; लेकिन हम उस बंगला-काव्य की विवेचना कर रहे हैं जिसमें रवीन्द्रनाथ के काव्य और उसकी दृष्टि में प्रस्थान-भेद है। तब प्रश्न उठता है कि इस अधुनातन काव्य का अग्रदूत कौन है? कुछ लोगों की धारणा है कि काज़ी नज़रुल इस्लाम इसके नायक हैं। काज़ी नज़रुल, रवीन्द्रनाथ के पश्चात् बंगला-काव्य में उन्हींके समकक्ष नहीं तो उनसे निकटता प्राप्त करने वाले कवि के रूप में आदृत हैं। काजी का युग राजनीतिक अराजकता और तनाव का युग है। आतंकवादी नीति से अधिकांशतः वे प्रेरित हैं। नवीन वातावरण ने उनके काव्य और कल्पना को गति प्रदान की है और वीर-रसात्मक गीतों के वे सृष्टा माने जाते हैं। उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'विद्रोही' ने बंगाल-व्यापी ख्याति प्राप्त की थी, जो अल्प-समय में ही अखिल भारतीय भी हो गई। काजी स्वतन्त्रता-युद्ध की एक महान् शक्ति के रूप में आदृत हैं और उनके गीतों तथा कविताओं में आतंक एवं अन्याय के प्रत्येक रूप का विरोध हुआ है। जब काजी बंगला-काव्य-क्षेत्र में आए तो उनके हाथों में आधुनिकता की 'अग्नि वीणा' थी। प्राचीन का विनाश और नवीन का संस्थापन लेकर वे बंगला-काव्य में आए। वे जनतन्त्र के कवि थे और जनता के कवि थे। काज़ी के प्रेम-गीतों और गज़लों का भी सामान महत्त्व है। गजलों में भी काजी ने रसात्मकता और शब्द-माधुर्य में दक्षता प्राप्त की है। बंगला-काव्य में उन्होंने उर्दू तौर-तरीकों का समावेश किया था; जैसे उनकी 'मुस्तफा-कमाल' वाली कविता :

ओइ छुटेछे पागली मायेर दामाल छोले कामाल भाइ,
असुर पुरे शोर उठे छे जोर से सामाल, सामाल भाइ,
कामाल तूने कामाल किया भाइ!

किन्तु काजी मूलतः विद्रोही के नाम से प्रतिष्ठित हैं और उनका यह विद्रोह नैतिक और सामाजिक आडम्बर के प्रति था। काव्य-धारा और काव्यादर्श की परम्परागत मान्यताओं में भी वे समान रूप से विद्रोही हैं। काजी का उपजीव्य लेकिन स्वच्छन्दतावाद ही है और उनका विद्रोह भी स्वच्छन्दवादी का भावोच्छ्वास है। रवीन्द्रनाथ की काव्य-दृष्टि और परम्परा में प्रस्थान-भेद के लिए यतीन्द्रनाथ सेन गुप्ता, मोहितलाल मजूमदार और प्रमथ चौधुरी का नाम भी लिया जाता है। यतीन्द्रनाथ सेन गुप्ता काव्य-रूप की दृष्टि से कोरमकोर अधुनातन नहीं हैं, लेकिन उनकी प्रेरणा और दृष्टि इस परिवेश में उल्लेखनीय है। बंगला-काव्य की प्रचलित आदर्शवादिता, भावादर्शिता, और स्वप्निलता के प्रति एक विद्रोह उनकी कविता में मिलता है। यथार्थ सत्य को उन्होंने काव्य-वस्तु के रूप में ग्रहण किया है, तीक्ष्ण तार्किकता और मानव-सुलभ अनुभूति के आधार पर उनका काव्यादर्श निर्मित हुआ है। मोहितलाल मजूमदार रवीन्द्र के भक्त तो हैं, पर एक बौद्धिक नैराश्य के साथ देहवादी

उनकी यथार्थ-मूलक कविता में अधुनातन काव्य के लक्षण भी मिलते हैं। प्रमथ चौधरी भी रवीन्द्र-भक्त हैं, परन्तु अपनी स्वतन्त्रता भी रखते हैं। सुरुचि-सम्पन्न और आत्म-दीप्त उनकी कविता में एक युक्ति-प्रधान विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति मिलती है, लेकिन प्रमथ चौधरी बंगला-काव्य में अनुकृत नहीं हुए, कदाचित् इसीलिए वे आधुनिकता के अग्रदूत भी नहीं हुए। कहा जाता है कि वे बंगला-काव्य में भाषा और साहित्य की पटुता के बावजूद भी अबंगाली ही रहे।

काज़ी नज़रुल इस्लाम के बाद ही जसमुद्दीन का नाम ग्राम-कवि के रूप में लिया जाता है। उन्होंने बंगला में लोक-साहित्य की परिपाटी को आगे बढ़ाया। इसी समय ढाका विश्वविद्यालय के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया जाता है, जो बुद्धि के उत्थान और आन्दोलन को लेकर चला था। तत्कालीन जातिवाद के विष और भारत-विभाजन के दुष्परिणाम के बाद इस वर्ग का कोई महत्त्वपूर्ण देय नहीं माना जाता। लगभग इसी समय बंगला-काव्य में एक नई पीढ़ी का प्राधान्य होता है, जिसने अधुनातन बंगला-काव्य का नेतृत्व किया। जीवनानन्द दास इसके नायक माने जाते हैं और गोकुल नाग, प्रेमेन्द्र मित्र, बुद्धदेव बसु, अचिन्त्य सेनगुप्त, विष्णु दे, दिनेश दास, समर सेन, सुभाष मुखोपाध्याय, सुकान्त भट्टाचार्य, अमिय चक्रवर्ती, सुधीन्द्र दत्त, नरेश गुहा और अजीत दत्त आदि इस नई पीढ़ी के प्रमुख कवि हैं।

: २ :

अधुनातन बंगला-काव्य की स्पष्ट धारा बीसवीं शताब्दी के तीसरे चरण में प्रारम्भ हो जाती है, जिसमें उपरोक्त अनेक कवियों का सक्रिय योग है। इन्हें 'कल्लोल' युग का कवि कहा जाता है। सर्वप्रथम 'कालि कलम' में इनकी रचनाएँ प्रकाश में आई और 'पूर्वाशा' तथा 'परिचय' आदि पत्रिकाओं से इन्हें यथेष्ट प्रोत्साहन मिला। जब इनकी कविता प्रथम प्रकाश में आई, तब अधिकांशतः वह अद्भुत और विलक्षण समझी गई। दुर्बोध और चमत्कार का डटकर विरोध हुआ और उसे निन्दा, तिरस्कार तथा विद्रूप भी सहन करना पड़ा, लेकिन यह कविता अब क्रमशः प्रचार और प्रसार पाती जा रही है और उसकी प्रवर्त्तित आधुनिकता अब बंगला-काव्य का अंग बनती जा रही है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि रवीन्द्रनाथ के सामयिक कवियों में ही नई काव्य-दृष्टि और आधुनिकता के प्रति एक विशेष राग आ चुका था। रवीन्द्र-भक्त कवि भी रवीन्द्र-परम्परा-साधन में ही शेष न होकर अपनी स्वतन्त्र शैली और दृष्टि लेकर उससे प्रस्थान-भेद करते दृष्टिगोचर होते हैं। एक अर्थ में आधुनिक बंगला-काव्य रवीन्द्र की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। स्वयं रवीन्द्रनाथ की कविता में ही इस प्रगति और अभिनव आयाम के विशिष्ट लक्षण हैं, लेकिन उनकी कविता और अधुनातन कविता में मौलिक अन्तर भी है। काव्य-प्रज्ञा की दृष्टि से जहाँ रवीन्द्रनाथ आस्तिक हैं, वहाँ अधुनातन कवि नास्तिक और अज्ञेयवादी हैं। जहाँ रवीन्द्र का काव्य लोकातीत है, वहाँ आधुनिक काव्य कोरम-कोर लौकिक है। रवीन्द्र की गद्य-कविता में भी एक छन्द-परम्परा का निर्वहण है, लेकिन आधुनिक काव्य पूर्णतः छन्दोमुक्त है। छन्द की किसी भी परिपाटी का बन्धन वह स्वीकार

नहीं करता। रवीन्द्र की यथार्थमूलक कविताओं में भी एक परा सत्ता का आभास मिलता है और रवीन्द्र अन्ततः पछते ही हैं :

'तुमि कि तादेर खमा करियाछ
तुमि कि बेसेछ भालो ?

यह रवीन्द्र की आस्तिकता का प्रमाण है। समस्त वैषम्य के बीच भी एक छन्दोमय सत्ता का आभास पा लेना इसी का परिणाम है। निविड़ कठोर सत्य के बीच भी किसी अनिर्वचनीय सत्ता की ज्योति उन्हें मिलती है और असीम अनन्त ऋषि-कवि रवीन्द्र के लिए एकान्त सत्य है। इसके विपरीत अधुनातन कविता इस दिव्यता और परा सत्ता के प्रति मूल में ही अविश्वासिनी है। जीवन के यथार्थ कठोर सत्य में, वैविध्य में, वैषम्य में उसे किसी महान् सत्ता या सत्य का दर्शन नहीं होता। अतः वैषम्य और अराजक इस जीवन की वस्तुस्थिति से उसे निराशा और विद्रूप ही तीव्र होकर प्राप्त होता है। रवीन्द्र-काव्य में यदा-कदा नैराश्य के बाद भी एक आस्तिक आशा प्राप्त होती है। वस्तुतः अधुनातन काव्यशास्त्रीय रीति और परम्परागत भावादर्श के विरुद्ध विद्रोह है, जो प्रत्यक्ष अनुभव और कठोर यथार्थ को प्रमुखता देता है। जीवनगत मूल्यों और नैतिक अवधारणाओं में एक संक्रमण उपस्थित हो गया है, ऐसी आधुनिक कवि की मान्यता है, और उसीसे प्रेरित होकर वह नये परिवेश का सूत्रपात करता है। जीवन और जगत् को देखने की उसकी दृष्टि में पीड़ा-ही-पीड़ा प्रभूत है। अनाचार और उत्पीड़न से दीन और अनिश्चित जीवन के प्रति उनकी दृष्टि में आत्मा की चेतना या आनन्द का दम घुटता सा है और जीवन उनके सामने एक बहुत बड़े प्रश्न-चिह्न की भाँति खड़ा है—जिसका कहीं से कोई उत्तर नहीं मिलता। युद्ध की विभीषिका से जीवन के मूल्य और भी हेय और नगण्य हो गए हैं। अपने स्थान के प्रति ही आज मनुष्य अनिश्चित-सा है। विरस और व्यथित, विकलांग और विद्रूप, इस व्यस्त जीवन के परि-पार्श्व में जो अनुभव और अभिज्ञान आधुनिक कवि को उपलब्ध हुए हैं, वे चिन्तनीय हैं। इस नये आयाम की चेतना का स्पन्दन फ्रॉयड के मनोविज्ञान और मार्क्स के भौतिकवादी-दर्शन से प्रेरित है। अधुनातन कविता पर विदेशी प्रभाव की छाप देखी जाती है और इसकी मुख्य प्रवृत्ति चमत्कार बताई जाती है।

अधुनातन बंगला-काव्य से सम्बन्धित यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या वह अंग्रेजी का अन्धानुकरण है? क्या इस अनुकरण में बंगला का अपना कुछ नहीं? कुछ समालोचकों की दृष्टि से यह यथातथ्य है और आज अनेक बंगला-कवि अंग्रेजी से यथेष्ट भाव और प्रेरणा ग्रहण भी कर रहे हैं। उन्होंने अंग्रेजी-काव्य की रीति और शैली का अनु-करण भी किया है। उदाहरणतः विष्णु दे की कविता में Elliot का गहरा प्रभाव है। वे उस शैली के अनेक लक्षणों को आत्मसात् कर चुके हैं। उनकी कविता में भी किसी छन्द का बंधन नहीं है; पद्य-छन्द की कोई परम्परा वहाँ नहीं है। गद्य-कविता में भी जो छन्द की परिपाटी रवीन्द्रनाथ में मिलती है, वह भी यहाँ नहीं, न ही किसी रूप-कल्प के प्रति कोई आस्था है। एक-एक खण्ड-वाक्य, जो भावावेग में लिखे गए हों, उनकी कविता में मिलते हैं। आवेग की द्योतक अनेक असम्बद्ध उक्तियों से उनकी कविता बोझिल है। किसी साधारणी-

करण या रस-सृष्टि का उद्देश्य उनका नहीं है। यहाँ इंगित[1] का कौशल ही कवि-धर्म है। इसका उद्देश्य अवचेतन मन की परतों से एक स्वर को जाग्रत करने का है। परम्परागत काव्य-शैली और अलंकारों में इस अवचेतन मन को प्रबुद्ध करने की शक्ति नहीं है— ऐसा माना जाता है, इसीलिए एक नये कौशल का आश्रय लेना पड़ा है। यह कौशल ही एक अभावनीय के हठात् स्पर्श द्वारा आकस्मिक भाव की संयोजना करता है और मन को आन्दोलित करता है और वह जाकर अचेतन की गहराइयों का स्पर्श करता है। अधुनातन कवि ऐसी उपमा और रूपक का प्रयोग करता है, जो औचित्य की किसी सीमा-रेखा से बँधना नहीं चाहते—एक अभावनीय को ही वहाँ प्रश्रय मिलता है। आज के कवि का उद्देश्य हमारे बँधे-बँधाए संस्कारों को आघात देकर मन को आन्दोलित करना है, जिससे कि हमारी अनुभूति की परिधि में विस्तार आए, अतः वह काव्य की परम्परागत और शास्त्रीय कीर्ति का स्वेच्छा से उल्लंघन करता है। विष्णु दे की एक कविता 'टप्पा ठुँरि'[2] में एक बंगाली शब्द के साथ एक अंग्रेजी शब्द जोड़कर भाषा का नया प्रयोग किया गया है। भाषा का यह नया प्रयोग अधुनातन कविता का गुण माना गया है। किसी सुसम्बद्ध वस्तुगत वर्णना के स्थान पर केवल आवेग की तरंग में मनोविकलन की पद्धति से कुछ (!) निर्देश किया गया है। यहाँ घटनाओं की शृंखला मुख्य नहीं, केवल परस्पर अनुभूतियों का उद्रेक ही इसकी वस्तु है। भावावेग की इस चमत्कार-व्यंजना में एक कौशल के दर्शन होते हैं और सुप्रतिष्ठित साहित्यिकों की रचना से किसी व्यंजनामय पद या उसकी अनुकृति द्वारा उसका शृंगार हुआ है। अधुनातन, लगभग प्रत्येक कवि अंग्रेजी-काव्य से अल्पाधिक प्रभावित हुआ है। इसका कारण यह माना गया है कि आधुनिक अंग्रेजी-काव्य और बंगला-काव्य में अभिनव धारा के प्रवर्त्तन के लगभग एक-से ही कारण हैं। अंग्रेजी-काव्य में प्रतिष्ठित आदर्श एवं

---

१. "पालिये बेडाय, दृष्टि एडाय,
डाक दिए जाय, इंगिते" और यही इंगित—
'मिलिये तारे, तके बहुदूरे"।

२. पाँच मिनिट, पाँच मिनिट सोटे
कालेक यात्रार ध्वनि सुनिते कि पाओ
उद्दाम उधाओ
ट्रेन एलो ब'ले हाओड़ाय।
ओ पारे स्टॉक एक्सचेञ्जेर ए पारे रेलओयेर हाओड़ा,
ताकि मध्ये बसे आछन शिव सदागर
ट्याक्यसीर हृदय स्पन्दे, ट्राफिकेर एटाक्सियाय।
ऐलो ट्रेन
मंथित करे रक्तेर जोयार
आमारई एकान्त मग्न चैतन्य मंथित करे,
देखलूम तोमार वलोज्ञ-अप मूख जानलाय,
—एकटा कूलि—
शूनलूम जेन भोर बेलाकार भैरवीते।"

जीवन-काव्य में एक असंगति का बोध ही नूतन धारा का प्रवर्त्तक बना। बंगला के विषय में भी यही हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी की शिव-सुन्दर की अवधारणा बीसवीं शताब्दी में आकर कठोर और कदर्य जीवनानुभव में टूट-टूटकर बिखर गई। वह नये जीवन के साथ संगति न पा सकी, अतः अंग्रेजी-काव्य में अभिनव आयामों की शोध हुई। इस सम्बन्ध में फ्रेञ्च-काव्य का अनुदान भी स्वीकृत किया जाता है। बंगाल में भी राविन्द्रिक प्रभाव से उद्भूत एक आदर्श और रीति की प्रतिष्ठा एवं एकदर्शिता के विरुद्ध ही अधुनातन बंगला-काव्य एक नया परिवेश ग्रहण करता है। उसकी कल्पना-विलासिता, भावालुता और आदर्शवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप ही यह अधुनातन काव्य-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इसमें उसका निर्देश अंग्रेजी-काव्य ने किया तथापि वह स्वतः प्रेरित है, वह पूर्णतः बंगाल का है। यह तथ्य इस बात से भी प्रमाणित है कि आधुनिक अंग्रेजी और बंगला-काव्य के परिवेशों में यथेष्ट अन्तर है, उनमें पार्थक्य है और कई अर्थों में वहाँ मूलगत प्रस्थान-भेद हैं। प्रतीकवाद का जितना व्यवहार अंग्रेजी-काव्य में हुआ, उतना बंगला में नहीं। अन्त्यानुप्रास का व्यवहार भी बंगला में प्रचुर है, जबकि अंग्रेजी-काव्य में यह कम है। काव्य के वाह्यांग की अपेक्षा अन्तरंग की दिशा में, उसकी उपलब्धि और आदर्श की दिशा में भी इन दोनों काव्यों में प्रस्थान-भेद की बात कही जाती है। इसका कारण यह है कि दोनों के ऐतिहासिक परिपार्श्व और जीवन-गत दार्शनिक दृष्टिकोण विभिन्न हैं। Elliot की कविताओं में क्रमशः वर्द्धमान जीवन-आस्था का परिचय मिलता है, जबकि बंगला-काव्य में यह नहीं है। आधुनिक अंग्रेजी-कविता ने विविधता के बाद भी जो रूपगत उपलब्धि प्राप्त की है, वह बंगला के विषय में कठिनता से कही जा सकती है। यही एक प्रमाण है कि अनेकानेक मार्क्सवादी कवियों के होते हुए भी, मार्क्सीय दृष्टिकोण की सशक्त व्यंजना कोई कवि नहीं करता। इसका भी कारण यही दिया जाता है कि बंगला-काव्य का विकास स्वतः की भूमि पर हुआ है; वहाँ अन्धानुकरण की तीव्र लालसा नहीं है।

: ३ :

नई पीढ़ी के कवियों के नेतृत्व का श्रेय जीवनानन्द दास को दिया जाता है, क्योंकि आधुनिकता के विशिष्ट लक्षण पूर्णरूप में सर्वप्रथम उनकी रचनाओं में ही प्रकट हुए। उनकी दुनिया उलझी हुई छायाओं, टेढ़े-मेढ़े जालों, चूहा, उल्लू, चमगादड़, चाँदनी छिटके हुए जंगलों में उछलते हिरनों, प्रभात तथा अंधकार, बरफ की तरह ठंडी मत्स्य-कन्याओं और महान् नीले समुद्र की दुनिया है। उनकी सब बातें समान रूप से बोध्य नहीं हैं। परोक्ष में किसी योग-सूत्र का अस्तित्व तो प्रतीत होता है, लेकिन कविता की कोई स्पष्ट वाणी नहीं है। कहीं-कहीं केवल शब्दों का चमत्कार है। अधिकांशतः वे समाज में फैले मध्यवित्त के विचार-विभ्रम को प्रतिफलित करती है। चारों ओर फैली विशृंखलता की ओर उनका निर्देश है, जिसमें मनुष्य अपने को स्वतन्त्र मानकर भी विशृंखल है। आधुनातन कविता की वास्तव-प्रत्यक्ष-सत्य की कठोर निष्ठा की दृष्टि, इसीलिए, सुन्दर और कल्पना-विलास को त्याग देने के लिए विवश है। नग्न, स्थूल, कुत्सित जीवन-सत्य ही उसकी मूल प्रेरणा है। परम्परागत काव्यादर्श के विरुद्ध वह एक विद्रोह करती है और तीव्रतर कठोर यथार्थ के प्रति वह जागरूक

है। सुकान्त भट्टाचार्य ने कहा है :

"प्रयोजन नेई कबितार स्निग्धता—
कबिता, तोमाय दिलाम आज के छूटि
क्षुधार राज्ये पृथिवी गद्यमय :
पूर्णिमा-चाँद जेन झल्सानो रुटि।"

अपने मानवतावादी दृष्टिकोण के ही कारण सुकान्त अल्पायु में ही बंगला-काव्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए। जन-साधारण से उनकी कवि-आत्मा एक थी[१] और वे नये युग के सार्थक कवि माने जाते हैं। प्रगतिशील भाषा, ओजस्वी विचार और हार्दिक आशा-ज्योति उनकी कविता का मूल बन्ध है। जीर्ण-शीर्ण मृत परम्परा को खंड-खंड करके नवीनता का प्रतिष्ठापन ही उनकी कविता का उपजीव्य था। 'छाड-पत्र' में वे कहते हैं कि "भूमिष्ठ नये शिशु की 'कोहरा-भरी-आँख' में उसका परिचय उन्हें मिल गया है। एक नया शिशु आया है और उसके लिए स्थान छोड़ देना होगा। जीर्ण-शीर्ण इस पृथ्वी पर से व्यर्थ, मृत और खण्डहरों को पीठ पर लादकर हमें चल देना होगा।" अधुनातन बंगला-काव्य में अपने परम्परागत विषयों के विपरीत ट्रेन, धूल, मक्खी, मच्छर और मरियल कुत्तों तक को वाणी मिली है। अजीत दत्त को बकरा अपनी दाढ़ी के कारण गम्भीर और प्रज्ञा-प्राप्त प्रतीत होता है। 'छागल' में वे कहते हैं कि 'वह तत्त्ववेत्ता है, दार्शनिक भी है, क्योंकि हरी घास में वह विश्व-रूप निहारता है। उसका अस्थि-मांस, मेद और मज्जा सब देश और सब कालों में प्रिय है। धर्म, कर्म और त्यौहारों में उसकी स्वतःसिद्ध राष्ट्रीय महिमा है। अपने चमड़े से बने नगाड़े पर वह अपनी बलि की कीर्ति घोषित करता है और उसकी दंडाहत साँवली सूरत से वह कितना सहनशील दिखाई देता है।' अजीत दत्त का कठोर यथार्थमूलक सर-संधान तिलमिला देने वाला होता है और कटाक्ष की वाणी में वे बड़े सिद्धहस्त हैं।

अधुनातन कवि का मानना है कि जिस जीवन में सुर या छन्द ही न हो, तब उसकी वाणी—कविता—में सुर या छन्द की क्या आवश्यकता? उसे स्वाभाविक ही क्यों न रहने दिया जाय? कृत्रिम वह क्यों बने? मन की भाषा और मुख की भाषा में वैषम्य क्यों हो? इसीलिए आधुनिक कवि गद्य-कविता में भी किसी छन्द-परिपाटी का पालन नहीं करते। उसे वे नितांत स्वाधीन रखना चाहते हैं।[२]

उच्च आदर्श या दार्शनिकता के प्रति कवि का कोई राग नहीं है। वह जीवन को नग्न आँखों से देखना चाहता है। कदाचित् इसीलिए अमिय चक्रवर्ती को कुछ सत्य दिखा

---

१. 'छाड़ पत्र' की 'रिक्शा वाला' कविता द्रष्टव्य।

२. द्रष्टव्य—

भांगा देवालेर फाटले एकटि घासेर गुछि अनेक दिन जीवनेर जन्य जूझेछिल—
प्रति दिन देखताम कि तार प्राणान्त प्रयास एकटि पुस्पित प्रशाखा प्रसारित करबार जन्य।
एक दिन बुझि एकटि फिके बेगुनी रंगेर छोट्टो फूलफुटे छिल्ली किन्तु मूल तखन देउले होये गेछे—सब शुकिये होलूद होये गेल।

तो यही कि 'राम नाम सत्त ह्याय'[१]। उन्होंने रवीन्द्र के प्रभाव के बाद भी नया रास्ता चुना। उनके विषय में कहा जाता है कि उनकी कविता राष्ट्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय है और यह अन्तर्राष्ट्रीयता भी राजनीतिक नहीं, वरन् सांस्कृतिक है।

विषण्ण और विद्रूप जीवन की एक अनुभूति प्रेमेन्द्र मित्र की 'बंग परिक्रमा' में मिलती है। प्रेमेन्द्र मित्र का निम्न मध्यवित्त से गहन परिचय है और उस जीवन के साथ उनकी एकाकार-सी भावना है। वे कहते हैं कि वे 'लघुता' के कवि हैं और उनकी कविता श्रमिकों की कविता है। उनकी मान्यता है कि विलास-विवश मर्मर स्वप्नों का अब समय नहीं है।[२] सुभाष मुखोपाध्याय भी मजदूरों और किसानों के कवि हैं। अधिकांशतः वे कविता में व्याख्यान ही देते हैं, लेकिन एक मानवी स्वर (भले वह स्थूल हो) उनकी कविता में मिलता है, जो उन्हें अधुनातन धारा के प्रतिनिधि कवि के रूप में आद्दत करता है। किसी सूक्ष्म, सुन्दर या महत् धारणा के विपरीत एक सहज, साधारण और प्रकृत प्रवृत्ति ही आधुनिक बंगला-काव्य की प्रेरणा है। बुद्धदेव बसु कहते हैं:

"वासनार वक्षोमाझे केंदे मरे क्षुधित यौवन,
दुर्दम वेदना तार स्फुटनेर आग्रहे अधीर।"

कवियों की यह दृष्टि बाध्य करती है कि किसी लोकातीत सत्ता का आभास प्राप्त करने के विपरीत मानवीय क्रन्दन के अनुरूप वस्तुसत्ता को प्रश्रय दिया जाय और मानव की स्वाभाविक कामना को ही तृप्त किया जाय। जीवन की संचित अभिज्ञता के बल पर कवि कहता है:

"मृत्यूर नाम अन्धकार; किन्तु मातृगर्भ—
ताओ अन्धकार, भूलो ना,
ताइ काल अवगुंठित, जा ह'य उठे छे
ताइ प्रच्छन्न;
ऐशो शान्त हओ; ऐई हिम रात्रे
जखन बाइरे-भितरे कोथाओ
आलोनेई
तोमार शून्यतार अज्ञात गह्वर थेके
नव जन्मेर जन्य
प्रार्थना करो, प्रतीक्षा करो, प्रस्तुत हओ। (बुद्धदेव बसु)

और यह प्रस्तुत होना ही आधुनिक कविता का उपजीव्य है। उसके विषय जीवन के वे सभी मूलभूत प्रश्न हैं जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय पहलुओं से सम्बद्ध हैं।

१. **"गेल**
गूरचरन कामार, दोकानटा तार मामार,
हातुडी आर हापर धारेर (जाना छिलो आमार)
देहटा निजस्व। राम नाम सत्त् ह्याय।"

२. **आमि कबि भाई कर्मेर आर धर्मेर;**
विलास-विवश मर्मेर जत स्वप्नेर तरे भाई,
समय जे हाय नाई!

समर सेन और विमल घोष ने राजनीतिक विषयों पर बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। युद्ध विरोध (मंगलाचरण चट्टोपाध्याय), रूस-प्रेम, अमरीका-विरोध पर भी कविताओं की संख्या विरल नहीं है। एक कविता में कहा गया है कि 'अब्राहम लिंकन के हृत्पिंड को चोंच में दबाकर विश्वलोभी बाज उड़ता है, जिसके गिद्ध-सरीखे टेढ़े नाखूनों में फँसकर गणतन्त्र खून के आँसू रो रहा है।' इसी तरह नरेश गुहा भी मध्यवित्त का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनमें भी निराशा का स्वर तीव्र है। उनकी एक कविता में कवि सोचता है कि 'जीवन के इस विद्यालय में कब अन्तिम घण्टा बजेगा और कब मैं स्लेट पर अन्तिम लेख लिखकर, संध्या के समय नक्षत्रों को गिनता हुआ, नदियों को पार करता हुआ घर जाऊँगा; आँखों में नींद भरी होगी।'

आधुनिक कविता में इस संशय और नैराश्य के स्वर प्रभूत हैं। सुधीन्द्र दत्त कहते हैं :

"यन्त्रणायि
जीवने एकान्त सत्त, तारइ निरुद्देशे
आमादेर प्राण-यात्रा सांग हय प्रत्येक निमेशे।
व्याप्त मोर चतुर्दिके अनन्त आमार पटभूमिः
सबई सेथा विभीषिका, ए मन कि विभीषिका तूमि।"

इस निरुद्देश्य और विभीषिका के बीच भी कभी ज्योति की आशा-किरण फूट उठती है और अज्ञेयवादी, नास्तिक, बौद्धिक, अधुनातन कवि किसी उपलब्धि और आस्था या विश्वास के अभाव में भी कहता है :

"एक झलक सोनालि रोद
उदासीन दूपूरेर चिल,
मोमाछिर अलस गूंजन
बेगुनी घासफूल—" (मृणाल कान्ति)

और 'बेगुनी घासफूल' में ही सौन्दर्य की झलक उसे मिल जाती है।

अधुनातन बंगला-काव्य में अभी भी स्वच्छन्दता की विशेषताओं की तीव्रतर प्रवृत्ति विद्यमान है। यह भी सही है कि पूर्वगामी स्वच्छन्दतावाद के विपरीत वह कल्पना पर आश्रित न होकर मानसिक यथार्थ-अभिज्ञता पर आधारित है। वह "बुद्धि और बोधि का समन्वय" चाहती है और जीवनानन्द दास की कविताओं में[1] पूर्वेतर कवियों से कोई अधिक

१. 'चूल तार कबेकार अन्धकार बिदिशार निशा,
मूखतार श्रावस्तीर कारुकार्य; अतिदूर
समुद्रे'र'पर
हाल भेंगे जे-नाबिक हरायेछे दिशा
सबूझ घासेर देश जखन से चोखे देखे
दारुचिनि—द्वीपेर भितर
तेमनि देखेछि तारे अन्धकारे;
बलेछे से 'एतदिन कोथाय छिलेन ?'
पाखार नीडोर मत चोख तूले नाटोरेर
वनलता सेन।"

दूरगामी पार्थक्य भी नहीं दिखता। 'वनलतासेन' स्वच्छन्दतावादी धारा की श्रेष्ठ-कृति कही जा सकती है। अधुनातन कविताओं में भी, आधुनिकता के विशिष्ट लक्षणों के साथ ही रसात्मकता और रसबोधादि का समन्वय प्रचुर मात्रा में हुआ है। वे पूर्व—काव्य-दृष्टि से भी सार्थक कही जा सकती हैं।

: ४ :

पूर्णता प्राप्त करने की दिशा में अभी अधुनातन बंगला-काव्य विकास की दशा में है। उसकी निश्चयात्मक उपलब्धि के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। उसका यह प्रयोग-काल है। एक मूलभूत प्रश्न उसके विषय में जीवन-दर्शन को लेकर उठाया जाता है। यह कहा गया है कि बौद्धिक और अध्ययन-प्रधान आधुनिक बंगला-काव्य में जीवन-दर्शन की उपलब्धि की दृष्टि से निराशा ही हाथ लगती है। इस ओर वह नियमित जीवन की नकारात्मक आलोचना ही प्रस्तुत करता है। किसी 'महत् काव्य के उपयुक्त अन्तर्दृष्टि या उपलब्धि' उसमें नहीं है। नूतन जीवन-प्रणाली को वाणी देने, उसके आदर्श को रूप देने में वह असफल हुआ है। समग्र उपलब्धि की दृष्टि से भी वह असफल है और इसीलिए अधुनातन बंगला-काव्य "धूसर-पांडुलिपि-मात्र" है।



भवानीशंकर पण्डित

आधुनिक मराठी कविता का विकास : उसकी धाराएँ और प्रवृत्तियाँ

मराठों के साम्राज्य का पतन

आधुनिक मराठी कविता का उद्गम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की राजनीतिक क्रान्ति में है। सन् १८१८ में मराठों का साम्राज्य नष्ट हुआ और उनके प्रदेश में सात समुद्रों के पार से आई हुई अंग्रेजी सत्ता बद्धमूल हुई। यह संक्रमण-काल था। पुराने आचार-विचार, पुराने रहन-सहन की परम्पराएँ धीरे-धीरे लुप्त हो रही थीं और उनके स्थान में नये रंग-ढंग अपना आसन जमा रहे थे। बेचारी गरीब साधारण जनता की आँखें इस क्रान्ति से चकाचौंध हो गई थीं। छत्रपति शिवाजी द्वारा स्थापित किया हुआ 'स्वराज्य' और प्रथम बाजीराव पेशवा द्वारा उसमें से निर्माण किया हुआ 'साम्राज्य' कैसे गिर गया, यह उनकी समझ में नहीं आता था। स्वराज्य के पराक्रमों की गाथा गाने वाले प्रभाकर और परशुराम 'शायर' अब तक जीवित थे। प्रभाकर आश्चर्य के साथ आर्त वाणी से पूछने लगा : **"देखते-देखते चिटियों ने मेरुपर्वत को किस तरह गिलंकृत कर डाला ? न जाने समुद्र में छोटी-छोटी मछलियों ने किस प्रकार बड़े भारी राघवमच्छ को अड़ा दिया ?**

और परशुराम कहने लगा : **"जब से अंग्रेजी हुई, पुराने कायदे-कानून सब टूट**

गए। भाजी, रोटी, घी, शक्कर, मैदा और सूजी सब अब एक ही भाव से बेचे जा रहे हैं।"

पण्डितों की पहली पीढ़ी

महाराष्ट्र में अंग्रेजों का राज्य शीघ्र ही स्थापित हुआ। बम्बई प्रदेश का पहला गवर्नर मौंट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन मराठी भाषा का ज्ञाता और विद्या-व्यसनी था। उसने कारोबार शुरू होते ही राज्य में शिक्षा-विभाग जारी किया। शिक्षा-विभाग के मातहत जो पाठशालाएँ थीं, उनमें पढ़ाने के लिए अब पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता हुई। अंग्रेजों के साथ इस देश में मुद्रण-कला का भी आगमन हुआ था। उनकी सत्ता का आश्रय पाकर धर्म-प्रचारक पादरी लोग भी यहाँ आये थे और वे पाठशालाएँ, अस्पताल, अनाथाश्रम आदि लोकोपयोगी संस्थाएँ खोलकर 'ईसाई मत' का प्रचार और प्रसार कर रहे थे। धाक जमाने के लिए अंग्रेज सरकार को व्यापक धर्म-प्रसार के लिए मिशनरियों को मराठी भाषा के माध्यम की नितान्त आवश्यकता थी। उन दोनों की सहकारिता से और मराठी पण्डितों की सहायता से मराठी-अंग्रेजी और अंग्रेजी-मराठी-शब्दकोश तैयार हुए। व्याकरण-ग्रन्थ लिखे गए और सरकार की ओर से प्राप्त होने वाली बक्शीशों के लिहाज से पुस्तकें निर्मित हुईं। पेशवाओं के राज्य में श्रावण मास में ब्राह्मणों को जो दक्षिणा बाँटी जाती थी उसका भी विनियोग अब पुस्तक-निर्माताओं को पारितोषिक वितरण करने के लिए होने लगा।

अंग्रेज सरकार ने जो पाठशालाएँ खोली थीं, उनमें संस्कृत के साथ अंग्रेजी भी पढ़ाई जाती थी। इस प्रकार संस्कृत और अंग्रेजी का अध्ययन जिन विद्यार्थियों ने किया, उन्होंने ही आधुनिक मराठी कविता का श्रीगणेश किया। आधुनिक कवियों की यह पहली पीढ़ी थी। इस पीढ़ी के कवियों को 'पण्डित कवि' कहते हैं। इन पण्डितों में परशुराम तात्यागोडबोले, कृष्णशास्त्री, चिपलूणकर, गणेश शास्त्री लेले, दातार, पारखी शास्त्री यह अग्रगण्य थे। इन कवियों ने कालिदास, भवभूति, शूद्रक प्रभृति अभिजात संस्कृत-कवियों की ललित कृतियाँ मराठी में अनुवादित कीं और उनका प्राचीन आध्यात्मिक और पौराणिक रूप बदल डाला। यह कवि संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ थे और इनकी पुस्तकें पाठ्य-क्रम में नियत थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि मराठी को प्रारम्भ से ही शुद्ध, सुन्दर और समुज्ज्वल स्वरूप प्राप्त हुआ।

इन कवियों में महादेव शास्त्री कोल्हटकर एक ऐसे हुए, जिन्होंने अंग्रेजी की फुटकर कविताओं के मराठी अनुवाद किये। आपने मराठी के उस बाल्य-काल में शेक्सपियर के 'अथेल्लो' का मराठी अनुवाद किया। उस समय बहुत-से अंग्रेजी गद्य-ग्रन्थों के अनुवाद हुए। जनता ने उनका सहर्ष स्वागत किया। परन्तु कोल्हटकर की फुटकर कविताओं की बड़ी हँसी हुई। उसके विषय थे 'टिड्डा और चींटी', 'हम सात हैं' इत्यादि। इसका कारण यह था कि यहाँ पद्य की प्राचीन परम्परा तो थी परन्तु उसी प्रकार गद्य की परम्परा नहीं थी! फिर यहाँ से ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि सन्तों के और वामन, मोरो पन्त आदि कवियों के कविता के विषय जिस प्रकार अध्यात्म, भक्ति, नीति आदि थे; उस प्रकार अंग्रेजी फुटकर कविता के विषय नहीं थे।

नव शिक्षितों की दूसरी पीढ़ी

जब शिक्षितों की दूसरी पीढ़ी ने अपने कार्य का आरम्भ किया, तब बम्बई-विश्वविद्यालय की स्थापना हो चुकी थी। अब अंग्रेजों का राज्य भी स्थिर हुआ था। महाविद्यालयों में उनके साहित्य का और कचहरियों में उनका सम्पर्क आता था। पण्डित कवियों के संस्कृत-कविताओं के अनुवाद सरस और सुन्दर होने पर भी प्रकृति की दृष्टि से उनमें और प्राचीन मराठी कविता में ज्यादा भेद नहीं था। महाविद्यालय में अध्ययन करते हुए जब नव शिक्षितों का ध्यान अंग्रेजी कविता की विविधता की ओर गया और जब उन्होंने यह देखा कि वह अनलंकृत होते हुए भी आकर्षक होती है, तब वह अंग्रेजी कविताओं का आश्रय लेने लगे। इस समय की कविता अनुवादित, भाषांतरित, रूपांतरित अथवा भावानुवाद के रूप में है। कुछ स्वतन्त्र है, परन्तु वह भी अनुकारित है।

सन् १८६७ में प्रधान ने सर वॉल्टर स्कॉट के 'लेण्ड ऑफ दी लेक' का 'दैवसेनी' नाम से मराठीकरण किया। आपने कथावस्तु के लिए राजस्थान के वायुमण्डल और इतिहास की कल्पना की। कर्नल कीर्तिकर इण्डियन मैडिकल सर्विस में सर्जन थे। आप विलायत जाकर आये थे। जब लॉर्ड टेनिसन की कविता की चर्चा इंगलैण्ड में चल रही थी, तब ही आपने उसके 'प्रिन्सेस' का 'इंदिरा' नामक मराठी अनुवाद किया। स्त्री का समाज में स्थान, उसकी शिक्षा, उसके अधिकार इत्यादि समस्याओं के विचारों से यह काव्य उस वक्त बड़ा लोकप्रिय हुआ। महाजनी, कानिटकर, भण्डारे, पद्मनाभ, चिटणीस, पावगस्कर प्रभृति कवियों ने वर्ड्सवर्थ, शैले, कीट्स, बायरन, हूड, मूर आदि कवियों की फुटकर कविताओं के बड़े ही मनोरम अनुवाद किए।

इस समय कुण्टे हुए, जो अपने ढंग के निराले कवि हुए। आपने मिल्टन की शैली में 'राजा शिवाजी' काव्य लिखा है। उसकी बड़ी लम्बी प्रस्तावना अंग्रेजी में लिखी हुई है, जो आज भी विचारणीय है। आपका कथन था कि मराठी भाषा स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। उसका उच्चारण संस्कृत शब्दों से भिन्न है। इसलिए उसका लेखन उच्चारण के अनुसार होना चाहिए। आप संस्कृत के विरोधी और मराठी के पक्षपाती थे। आपने 'मन' विषय पर एक दार्शनिक काव्य लिखा था। कुण्टे अपने समय से बहुत आगे थे। उनकी कविता के वाचक उतने प्रगत नहीं थे। फिर 'निबन्धमाला' के रचयिता विष्णु शास्त्री चिपलुणकर ने कुण्टे की कविता पर अकारण आक्षेपों की भरमार की, जिससे उसका प्रचार अधिक न हो सका।

इस वक्त मोगरे, आगाशे, खरे, आठल्ये एवं अन्य कवि स्वतन्त्र काव्यों के निर्माण में लगे हुए थे। इन कवियों के द्वारा मराठी कविता में अंग्रेजी के कुछ काव्य के प्रकार (forms) ग्रहीत हुए, जिनमें विलापिका (Elegy) और उपहास (Satire) प्रमुख थे।

इस समय आधुनिक मराठी गद्य के आचार्य विष्णु कृष्ण चिपलुणकर अपने निबन्ध लिख रहे थे। 'निबन्धमाला' का केवल महाराष्ट्र पर ही नहीं, परन्तु महाराष्ट्र के बाहर हिन्दी के आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी पर भी असर पड़ा है। चिपलुणकर की लेखनी का प्रभाव मोगरे, आठल्ये, खरे आदि कवियों की शैली पर पड़ा हुआ दिखाई देता है। इन कवियों की मराठी भाषा बड़ी मँजी हुई, परिष्कृत और साफ-सुथरी है। उसमें वक्तृत्व होने

से ओजगुण का सन्निवेश हुआ है।

यह समय स्त्री-शिक्षा, विदेश-गमन, विधवा-विवाह, प्रौढ़-विवाह इत्यादि समाज के सुधारों के आन्दोलनों का था। फलतः यह प्रासंगिक या ऐतिहासिक विषय इन कवियों की कविताओं में ग्रथित हुए हैं। इन कवियों ने भाव के उद्रेक की अपेक्षा रचना-शैली को अधिक महत्ता दी है, जिससे इनकी रचना में पद-लालित्य आ गया है, परन्तु 'काव्य' का अंश कम है। इसलिए कुछ आलोचक इन्हें 'कवि' न कहकर 'पद्यकार' कहते हैं।

प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की तीसरी पीढ़ी

इस पीढ़ी के कवियों की कविता सब प्रकार से स्वतन्त्र और नवीन है। उसका अन्त-र्बाह्य रूप इतना बदला हुआ है कि कुछ आलोचक इस समय को 'युगान्तर' और कवियों को 'युगपुरुष' कहते हैं। परन्तु सचमुच देखा जाय तो यह आजकल की परिस्थिति का क्रम-प्राप्त परिपाक था। यह युग नया था और उसके कवि भी नये थे। इस समय की कविता में वृत्तियों का क्षोभ है। वह स्वाभाविक उद्गारों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इन कवियों की कविता-लेखन की शैली में व्यक्तिनिष्ठा (subjectivity) है। जिससे यह नई कविता पूर्वगामी कवियों की कविताओं के समान उत्साह-रहित और चेतना-शून्य प्रतीत नहीं होती। इस समय की कविता प्रभावोत्पादक होती थी, जिसका कारण एक ओर उसके निर्माता स्वयं-सिद्ध थे, दूसरी ओर उस समय की स्थिति भी उसके अनुकूल थी।

यह ज़माना महाराष्ट्र के बौद्धिक जागरण का था। प्राचीन इतिहास का पुनरुज्जीवन हुआ था। अनेक राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षणिक संस्थाएँ बड़े जोर-शोर से अपने-अपने कार्य कर रही थीं। चिपलुणकर के निबन्धों ने जनसाधारण के मनों में अस्मिता और स्वत्व की ज्योति प्रदीत कर दी थी। लोग समझते थे कि हमारे पुरखे अज्ञानी, कमजोर और कर्तृत्वशून्य नहीं थे। किसी जमाने में हम भी स्वतन्त्र शासक थे। सन् १८८१ से लोकमान्य तिलक का 'केसरी' और सन् १८८८ से आगरकर का 'सुधारक' विचार प्रवर्त्तन का कार्य कर रहा था। महाराष्ट्र का राजनीतिक और सामाजिक जीवन नये प्राणों से अनुप्राणित हुआ था। न्यायमूर्ति रानडे सरकारी नौकरी में थे। परन्तु वह भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन दे रहे थे। इस वातावरण का असर उस समय के साहित्य पर पड़ा, विशेष रूप से कविता पर। क्योंकि इस पीढ़ी के कवि रेव्हरंड तिलक, केशवसुत विनायक, माधवानुज, दत्त, चन्द्रशेखर, बी और ताँबे इस समय बीस या पच्चीस साल की अवस्था में थे।

इस समय 'काव्यरत्नावलि', 'करमणूक', 'मनोरंजन', 'सुविचारसमागम' आदि मासिक पत्रिकाएँ और 'कुसुमगुच्छ', 'काव्यदोहन', 'अभिनव काव्यमाला' आदि कविताओं के संग्रह प्रकाशित होने के कारण, इस पीढ़ी के कवियों के काव्यों का प्रसार भी हुआ। कुछ अरसे के बाद इन कवियों के स्वतन्त्र कविता-संग्रह भी प्रसिद्ध हुए।

इन कवियों में रेव्हरंड तिलक उम्र में सबसे बड़े थे। आप ईसाई थे। आपकी कविता में पुरानी और नई बातों में जो कुछ स्वीकार करने योग्य है, उसका बड़ा मधुर मिलाप हुआ है। आपकी कविता प्रसन्न और निरामय है तथा आपकी वाणी में प्रसाद और प्रेम है। नारी के प्रति आपकी दृष्टि बड़ी उदार है। आप स्त्री-पुरुष-समानता के पक्षपाती हैं। धर्मांतर

करते हुए भी आपको जन्मभूमि, देश-बान्धव, साधु-स [illegible] और उनके साहित्य आदि का अभिमान था। आप समाज-सेवा के पुरस्कर्ता थे। आपने 'लोकों के मित्र' के सम्बन्ध में कहा है, "वह जनसेवा को ही ईश्वर की से[illegible] [illegible]कता है। उसके सिवाय उसे दूसरें धर्म का ज्ञान नहीं है। प्रेम और ईश्वर उसे स[illegible] क लिए एक ही है।" तिलक आशावादी थे। आपने कहा है, "पतन के बिना उत्थान कहां? मूल्य के सिवाय लभ्य कहां? जो कुछ होता है वह स्मृतिगत होता है। काल सनातन है और हम भी सनातन हैं, फिर फालतू बकवास क्यों?"

तिलक [illegible] [illegible]त्नी लक्ष्मीबाई कवयित्री थी। आपने बहुत थोड़ा लिखा है। पर जो-कुछ लिख[illegible] वह इतना सरस और सुन्दर है कि उसमें चुनाव की गुञ्जाइश नहीं।

केशवसुत आधुनिक कविता के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। आपकी रचना सर्वथा नई है। आपमें व्यक्ति-निष्ठा की मात्रा अधिक थी, जिससे आपकी कविता में उत्कर्ष आ गया है। आपकी कविता में मानव के प्रति व्यापक प्रेम है। जिस ज़माने में समाज का ध्यान छूत-अछूत या मजदूरी की ओर नहीं गया था, उस ज़माने में आपने अस्पृश्यता पर, श्रम-जीवन पर और दासता पर कविताएँ लिखी हैं। आपकी कविता में देश-प्रेम की भावना है और सामाजिक कुरीतियों पर आघात है। आप बड़े स्त्री-दाक्षिण्य थे। आपका शृङ्गार संस्कृत शैली का नहीं है। उसमें नयापन और निरालापन है। गाँव को विदा होते हुए पति से पत्नी ने कहा, "कुशल, लिखिए।" परन्तु जब पति लिखने बैठा, तब पत्नी पति के लोचनों का प्रकाश हुई, आत्मा का विकास बनी, उसके हाथ में ही पति की नाड़ी बहने लगी, उसके उर में ही पति के हृदय का स्पन्दन होने लगा। केशवसुत की कुछ कविताएँ निसर्ग को उद्देश्य करके लिखी हुई हैं। आपने ही प्रथम छायावादी कविताओं की रचना की। अंग्रेजी साहित्य में से आपने सॉनेट (Sonnet) उठाकर उसे मराठी कविता के क्षेत्र में रूढ़ किया। आपकी इनी-गिनी रचनाएँ हैं। मगर जो हैं, वे बड़ी प्रभावोत्पादक हैं। आपकी आर्थिक दशा सदा प्रतिकूल बनी रही, जिससे आपकी कविता में आरम्भ में आनन्द, उत्साह और आशा का दर्शन होता है, पर अन्त में निराशा दिखाई देती है।

कला पक्ष वाले कविता में उपदेश और नीति-शिक्षा पसन्द नहीं करते। किन्तु माधवानुज की कविता का वही कार्य और ध्येय था। आपका उपदेश काव्यमय है। आपके समान बोधवादी कवि कोई दूसरा नहीं हुआ।

चन्द्रशेखर कथा-कवि थे। 'काय हो ! चमत्कार', 'किस्मतपुरचा ज़मींदार', 'उघड़ गुपित' आदि-आदि आपकी कथात्मक कविताएँ बड़ी लोकप्रिय हैं। आपका शब्द-शिल्प अनुपम और रचना-चातुरी अप्रतिम है। आपकी भाषा साफ-सुथरी है। उसमें एक प्रकार का चटकीलापन है। आपकी कविता में वाणी और अर्थ की चारुता के सम्मिलित होने से वह मंगल और मनोज्ञ बनी है।

विनायक राष्ट्रीय कवि थे। आपके समय जो राष्ट्र-जीवन था, उसके आप प्रतिनिधि कवि हैं। आप महान् कलाकार भी थे। आपने जो कथा-कविताएँ लिखी हैं, वे कला पक्ष की दृष्टि से दर्शनीय हैं। आपने ऐतिहासिक स्त्रियों पर गीत लिखे हैं। वे महाराष्ट्र में प्रचलित हैं।

बी का असली नाम था नारायण मुरलीधर गुप्ते। आपने Bee यह तख़ल्लुस धारण

किया था। आप विचारक थे। आप वृत्ति को उच्छृङ्खल होने नहीं देते थे। आप भाव भी संयमित रखते थे। जिससे आपकी कविता में विचार की प्रधानता रही है। आपके विचारों में कहीं भी असंगति, विरोध या विसंवाद नहीं।

ताँबे भाव-कवि थे। आप कला पक्ष के समर्थक थे। आपकी प्रतिभा वैणिक थी। जिससे आपके पदों में काव्य, चित्र और संगीत इन तीनों ललित कलाओं का बड़ा ही सुचारु संगम हुआ है। आपकी कविता का आधे से अधिक अंश प्रेम-भावना से भरा है। आपके पत्नी-प्रेम-गीत नितान्त प्रसन्न और पावन है। पति और पत्नी का सहसंवेदन प्रकट करते हुए आप पूछते हैं : **"मेरी पहेली का उत्तर कौन देगा? क्या कोई वैज्ञानिक यह भेद खोलेगा? मेरे सिर पर काला बादल झुक आया और तुम्हारी आँखों में से पानी बरसने लगा, यह क्या है?"** आप स्त्री-पुरुष के कवि थे। उनके विविध भावों को मुखरित करने में आप सिद्धहस्त थे। आपने ही प्रथम बार मराठी कविता में नाट्य-गीत (Dramatic Lyric) उपस्थित किया है।। आपके शब्दों में 'नाद' और अर्थ में 'ध्वनि' है। आपका आशावाद अमर है। आप कहते हैं : **"फूल गिर गया तो फल उत्पन्न हुआ, बीज नष्ट हुआ तो पेड़ खड़ा हुआ, तेल जल गया तो बत्ती उजाला देने लगी, क्या यह मृत्यु में अमरता नहीं है?"**

दत्त छोटी उम्र में चल बसे। आपकी कविता में प्रतिमाओं की ओट में मनोलेखन है आपने छोटे बच्चों के लिए बाल-स्वभाव-निदर्शक विनोदपूर्ण गीत लिखे हैं!

कल्पकला यह गोविन्दाग्रज की कविता की विशेषता है। आपकी कल्पना-शक्ति बड़ी तीव्र थी। एक स्त्री अपने बालक का चुम्बन ले रही थी। उसे देखकर आप कल्पना करते हैं कि वह सब लोगों के सामने पति का चुम्बन नहीं ले सकती। इसलिए उसकी यह 'बालरूपा प्रतिमा' तैयार करके उसे वह चूम रही है। आपके प्रेम-गीत उत्कट हैं। सुख-दुःख के द्वन्द्व में जकड़े हुए मानव-जीवन में हास्य और करुण ये दो रस ही प्रमुख हैं। यह जानते हुए आपने इन दो रसों की बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं।

रेंदानकर चतुरस्त्र कवि थे। संस्कृत के प्रगाढ़ पण्डित होने से आपका भाषा पर बड़ा अधिकार था। आपने निर्यमक कविता का प्रवर्त्तन किया।

बालकवि ठोंबरे निसर्ग के कवि थे। आपकी कविता में उदय, अस्त, निर्झर इत्यादि सृष्टि के स्वरूप सजीव हो उठे हैं। जयदेव के समान 'मधुर कोमल कान्त पदावली' लिखने में आप प्रवीण थे।

कुछ राष्ट्रवादी कवि

इसी समय कुछ राष्ट्रवादी कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ सरकार ने जब्त कीं। इन कवियों में वीर सावरकर और गोविन्द दरेरकर अग्रसर थे। सावरकर ने कहा है : **"हमने अज्ञान से व्रत को नहीं स्वीकार किया है, जो दिव्य है, वह दाहक होता ही है। हमने यह सती का बाना लिया है।"** गोविन्द की कविता जब्त हुई थी। उसे कविता लिखना मना था। तब लोकमान्य तिलक को उपलक्ष्य बनाकर उसने लिखा : **"यह गूँगा मन कहाँ तक शब्दों के बबूले उड़ायगा? आगे चलकर इतिहास में तोपों के नगारे तुम्हारे पवाँरे गायेंगे।"** इनके अलावा टेकाडे, बेहरे, माधव, अनन्त तनय, दुर्गाप्रसाद तिवारी आदि बहुत-से कवियों

ने राष्ट्र-प्रेम की कविताएँ लिखी हैं।

कला-कवियों की चौथी पीढ़ी

नये ज़माने की इस नई कविता पर बहुत-से आक्षेप लगाये गए, जिनमें कवियों का स्वयंकेन्द्रत्व, अंग्रेजी का अनुकार, विषयों का क्षुद्रत्व और फुटकरपन तथा महाकाव्यों का अभाव ये आक्षेप प्रमुख थे। किन्तु इन आक्षेपों में कुछ तथ्य नहीं था। अंग्रेजी साहित्य और समाज के सम्पर्क से कुछ अच्छी बातों का अनुकार अनिवार्य था। अब साहित्य में उपन्यास, कथाएँ, नाटक और निबन्ध निर्मित होने लगे। तब महाकाव्यों का अभाव-क्रम प्राप्त था, और कविता का उच्चत्व, यह विषय पर निर्भर न होकर शैली पर निर्भर होने से क्षुद्रत्व का दोष व्यर्थ था।

तीसरी पीढ़ी के कवियों ने किसी एक खास बात पर ज्यादा जोर नहीं दिया, जिससे कविता का बाह्य रूप जिस प्रकार सुडौल होना चाहिए, वैसा नहीं हुआ। यह कार्य चौथी पीढ़ी के प्रमुख कवि माधवज्यूलियन, गिरीश और यशवन्त ने किया। इन कवियों का एक संगठन था, जिसका नाम था 'रवि-किरण-मण्डल'। इन कवियों और इनके समसामयिकों ने भाव-गीत (Passion Lyric) और उसके उपप्रकार चिंतलिया (Reflective Lyric), उद्देशिका (Ode), विलापिका (Elegy), औपरोधिका (Satire), विडंबन (Parody), सुनीत (Sonnet), नाट्य-गीत (Dramatic Lyric), मुक्तक (Epigram), कथा-काव्य (Narrative), शिशु-गीत आदि कविता-प्रकारों की चर्चा की। नमूने के तौर पर वैसी कविताएँ लिखीं, उन पर विशदात्मक लेख लिखे और कविता को सुचारु रूप दिया।

इन कवियों में माधवज्यूलियन प्रमुख थे। आप फारसी, अरबी और अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। आपने मराठी में सर्वप्रथम उर्दू शैली की कविता और गज़ल उपस्थित की। उसका यह एक नमूना देखिए: **"साक़ी! नींद से जग जा! देख आसमान में लाल रंग फैला हुआ है। यह उलटी प्याली में शराब कहाँ से आई? मैंने 'द्राक्षकन्या' को तलाक़ दे दिया था। क्या मेरा ख़ून चूसकर वह लाल हो गई?"** नारी के प्रति आपका दृष्टिकोण सहज और स्वाभाविक था। स्त्री जिस प्रकार भोग की वस्तु नहीं, उसी प्रकार देवी भी नहीं। वह जीवन की सहचरी है। आपका निरीक्षण बहुत सूक्ष्म और शब्द समर्पक होते हैं। इस कारण आपके शब्द-चित्र (pen-picture) हू-ब-हू और सजीव हैं।

कला की दृष्टि से गिरीश की कविता पूर्णतया निर्दोष है। आपने खण्डकाव्यों के समान लघु काव्य भी लिखे हैं। शब्द-संगीत आपकी कविता की एक विशेषता है।

इन दोनों की अपेक्षा यशवन्त अधिक लोकप्रिय है। आपकी मनोरचना भाव-गीत के लिए अनुकूल है। सीधे-सादे भावों को आविष्कृत करना आपके लिए एक साधारण बात है। इन तीनों कवियों की कविताओं में एक गुण विशेष है कि उनको पढ़ते हुए मनुष्य वास्तविकता से तदात्म हो जाता है। यशवन्त ने ग्रामीण गीत (Pastoral) लिखे हैं। उनकी भाषा व भावनाएँ देहाती हैं।

इस समय के विडम्बन-गीत लिखने वाले केशवकुमार अत्रे, प्रीति-गीत वाले अनिल, शिशु-गीत वाले मायदेव इत्यादि कवि भी स्वनाम धन्य हैं।

'रविकिरण मण्डल' के अनुकार और अनुरोध से इस समय मराठी कविता में अनेक प्रकार की कविताएँ निर्मित हुई। जिससे आधुनिक कविता सम्पन्न हुई। परन्तु कुछ आलोचकों का कथन है कि उसका विस्तार तो हुआ, किन्तु गहराई कम है। एक आलोचक का कहना है कि यह सब कविता साधारण है और वह साधारणों द्वारा साधारणों के लिए लिखी हुई है। परन्तु यह आक्षेप सर्वांश में सत्य नहीं। प्रचार, प्रसार और प्रसिद्धि के साधन सुगम होने से कविता विपुलता से उत्पन्न हुई है, यह सच है। इसलिए उसका चुनाव होना नितान्त आवश्यक है।

कवियों की पाँचवीं पीढ़ी

पाँचवीं पीढ़ी का कार्य अभी तक चल रहा है, जिसे कुछ भला-बुरा कहना न्याय न होगा। इस पीढ़ी में कुसुमाग्रज, बोरकर, ना० घ० देशपाण्डे, काणेकर कान्त, कानेले, पु० शि० रेगे-जैसे कुछ सौन्दर्यवादी कवि हैं। अब उनमें मंगेश पाडगाँवकर, वसंत बापट, पद्मा गोले, शांता शेलके, इन्दिरा संत इत्यादि नये कवियों का अंतर्भाव भी होने लगा है। अर्थ की सुन्दरता और अभिव्यक्ति की समर्थता यह इन कवियों की कविताओं के प्रमुख गुण हैं। नई-नई प्रतिमाओं से (Images) आपकी कविताएँ सुशोभित हुई हैं। आपकी रचनाओं में नवीनता है, जिससे प्रचलित कविता अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट करती है।

आजकल कविता में कुछ वादों (isms) का सन्निवेश दिखाई देता है। इन वादों में कार्ल मार्क्स का समाजवाद, फ्रॉइड और ॲडलर का मनोविश्लेषणवाद अथवा अन्तश्चेतनावाद और भारतीयों का मानवतावाद मुख्य है। यूरोप में जब दूसरा महायुद्ध शुरू हो गया था, तब जागतिक स्थिति दयनीय होने के कारण ये वाद साहित्य में घुस पड़े थे। आधुनिक मराठी कविता में ये वाद मर्ढेकर, विन्दा करंदीकर और मुक्तिबोध द्वारा लाये गए। मर्ढेकर ने आज के मानव को चूहा कहकर लिखा है कि **"आबदानी होने पर भी वह पानी के पीपे में मर रहे हैं।"**

प्रचलित नई कविता के सम्बन्ध में यह आक्षेप है कि वह प्रचार का साधन बनी है। उसमें प्रांजल और प्रामाणिक भावों का गला घोंटा जाता है। वह लोकाभिमुख होने का दावा रखती है, परन्तु उसकी प्रशंसा चार दीवारों के आगे जाने में असमर्थ है।

इस नई कविता के विषय में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उसका प्रारम्भ पूँजीवाद के विनाश में है और विज्ञान के जड़वाद का आधार लेकर वह समाजवादी भूमिका पर सब समस्याओं को हल करती है। उसकी अभिव्यक्ति में बुद्धि की प्रधानता है। उसमें विचार और शैली दोनों की महत्ता है। वह आस-पास के वायु-मण्डल में से प्रेरणा लेती है और प्रतिक्रियात्मक प्रचार करती है। व्यक्ति और समाज की प्रगति के लिए पोषक होने वाले रस का ही उसमें उद्गम है। उसकी मानवतावादी प्रवृत्ति और दलितों के प्रति सहानुभूति लोककल्याणकारी है। परन्तु उसकी अन्तश्चेतनावादी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में मत-भेद हो सकता है। उसकी समाजवादी प्रवृत्ति से किसी को मतभेद नहीं हो सकता। सिर्फ इतना ही आवश्यक है कि इस समाजवादी प्रवृत्ति का रूप रूसी न होकर भारतीय हो।



डॉ० पी० एस० शास्त्री[1]

आधुनिक तेलुगु काव्य

सन् १९१४ के विभिन्न मतामतमय परिवेश से ही आधुनिक तेलुगु साहित्य का आरम्भ होता है। परिप्रेक्ष्य में आने वाले लेखक परम्परावादी तेलुगु साहित्य और अंग्रेजी साहित्य में दक्ष थे। उनमें से कतिपय संस्कृत में विशेष कुशल थे और ये अधिकाधिक रूप में पालि, बंगला, मराठी, तमिल, ग्रीक, जर्मन, इटालियन और फ्रेंच आदि भाषाओं के प्रमुख लेखकों की कृतियों से परिचित थे। वे सब समस्याएँ उनके सामने आयीं, जिनका आज अस्तित्व नहीं है। उन्हें भाषा और साहित्य-रूप का चयन करना पड़ा। सदी के परिवर्तन तक की प्रयुक्त इन साहित्यिकों की भाषा कृत्रिम थी। मनुष्य को वह शब्द-कोष के बिना बोधगम्य न थी। कलाकार ने निर्जीव भार से मुक्ति का अनुभव किया और इसी लक्ष्य से शताब्दी के अग्रगण्य श्री शिवशंकर शास्त्री ने अपने प्रयासों से 'साहित्य समिति' की स्थापना की। समिति ने किसी घोषणा-पत्र द्वारा नहीं, प्रत्युत सदस्यों की कविताओं, नाटक, उपन्यास और निबन्धों से यह स्पष्ट किया कि कलाकार प्रचलित भाषा और निजी छन्द-योजना में स्वतन्त्र है। इस आन्दोलन को सफलता मिली और हम आज केवल विश्वविद्यालयों और परीक्षाओं में ही परम्परावादी भाषा की बानगी देखते हैं।

इनके समक्ष दूसरी समस्या सामान्य मनुष्य-जीवन में निहित वंशानुक्रमागत काव्य के उद्घाटन की थी। इसी एक विलक्षण कार्य में दार्शनिक अराजकता या व्यक्तिवाद का उद्भव हुआ। परिणामस्वरूप कतिपय व्यक्ति राजनीति अथवा धर्म की ओर बढ़े। नतीजा यह हुआ कि परम्परावादियों ने विरोध उपस्थित किया और 'आन्ध्र-साहित्य परिषद्' की स्थापना को ये पीठपुर के राजा के पास बारम्बार आये। साहित्य-समिति की संघटना विशद रूप से उसके अपने प्रकाशनों द्वारा की गई। यह विशद व्यवस्था 'नव साहित्य परिषद्' थी, जो १९३५ में स्थापित हुई और जिसने त्रैमासिक 'प्रतिभा' का संचालन सफलता पूर्वक किया। आज वहाँ केवल 'आन्ध्र साहित्य परिषद्' और 'साहित्य समिति' प्रतिवाद और संघर्ष-रहित होकर कार्य कर रही हैं।

तेलुगु साहित्य का आधुनिक काल श्री शिवशंकर शास्त्री और श्री आर० सुब्बाराव के 'रूप' परिचय के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कथित छन्दों, खण्डकाव्यों, छोटी गेय कविताएँ मनहर में लिखकर यह प्रारम्भ किया था। शास्त्रीजी की प्रथम कृति 'हृदयेश्वरी' रूढ़िविहीन और व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुत एक महिला के नाम लिखे गीतों का एक संग्रह ही है। इसकी सफलता का ज्ञापन अनुवर्त्तन करने वालों से नहीं, प्रत्युत मनुष्य की कृति प्राप्ति का पागलपन है; तिस पर भी यह एक स्वामी को लूटने तक का ही महत्त्व रखती है। इन्होंने १९३५ के लगभग दो प्रमुख साहित्य-रूपों, गीत-नाट्य के रूप में स्वभाष्य और काव्यात्मक या पद्य-नाटक की योजना की। 'वर परीक्षा', 'नोनकाजाया', 'राजाजानाता' और 'कवि-प्रिया' जैसे नाटक कल्हण और टाड-प्रदत्त अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रमाण पर आधारित हैं। और दूसरे 'पद्मावती', 'सहजयान पन्थी', 'यक्षरात्रि' और 'दीक्षित दुहिता' नाटक-परम्परा पर

१. अनुवादक—बलभद्र तिवारी

आधारित हैं। इनमें से बहुत-से नाटक रंगमंचीय सफलता प्राप्त कर चुके हैं। कतिपय नाटक इनमें ग्रीक कोरस के समानान्तर कार्य करते हुए 'स्वर मेल' से परिचित कराते हैं। काल और कार्यान्विति पर विशेष बल मिलता है।

अभी कुछ समय पूर्व के उस्मानिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री आर० सुब्बाराव आधुनिक साहित्य को रूप देने वाले एक दूसरे बड़े व्यक्ति हैं। इनसे साहित्य में सौन्दर्यानुभूति एकदम प्रत्यक्ष आती है और इनकी भावनाएँ और अभिव्यंजना सौन्दर्य से पूर्ण रहती हैं। श्री शास्त्री की कृतियों के सदृश इनके गीतों में तीव्र गति नहीं है, वे मन्दगति से अग्रसर होते हैं साथ ही सौन्दर्य-शास्त्र का ध्यान अपेक्षित रखते हैं। यह उनकी 'रामयलोकमु', 'माधुरी दर्शनम्', 'रूपनवनितमु' आदि अधुनातम कृतियों से प्रमाणित है। ये तीनों कृतियाँ काव्य के विद्यार्थियों को विशेष काव्य-तथ्यों से अवगत करती हैं। और साथ ही चेतनामय सौन्दर्य-सिद्धान्त का उद्‌घाटन करती हैं। प्रारम्भिक कृतियों में प्रमुख 'तेनुगु तोता' (आन्ध्र का उद्यान), 'आन्ध्रावलि जद् कुवकुलू' (बालिका के गुम्फित केशों की झूलती अलकें), 'कष्टकमाल', 'स्वप्नसुन्दरी' और 'वनमाला' हैं। ये दुधमुँहे बालक से महाशक्ति को विषय-विविधता प्रदान करते हैं।

इन विशुद्ध गीतकारों की श्रेणी में श्री डी० कृष्ण शास्त्री तृतीय महान् विभूति हैं। इनका वस्तु-संयोजन उथला रहा है, परन्तु इन्होंने तथाकथित अभ्युदयी साहित्यकारों सहित बहुत-से गीतकारों को प्रभावित किया है, उनकी प्रमुख कृतियों में 'कृष्णपक्षमु', 'उर्वशी' और 'प्रवशमु' महत्त्वपूर्ण हैं। गम्भीर आत्मा इनमें अनन्त-सत्ता की प्रेमाकांक्षी है। यह आत्मा "गन्धर्वलोक मधुर सुषमा सुधाञ्जना मञ्जुवती" से सम्बन्धित कही जाती है। कवि का प्रदर्शन उन दैवी भूमिकाओं से स्रोत रूप में होता है, यहीं उसकी प्रतिमाएँ (images) विलक्षण महत्त्व पाती हैं। महत्त्वपूर्ण विलक्षण प्रतिबिम्बवादी के रूप में वह अपना स्थान रखता है। जयदेव के 'गीत गोविन्द' की मधुर स्मृतिदेयक भाषा में यह प्रतिबिम्ब उपस्थित किये गए हैं। आन्ध्र विश्वविद्यालय के लायब्रेरियन श्री ए० रामकृष्णराव इस भाषा-प्रयोग के अधिक निकट हैं। दो या तीन लघु ग्रन्थ इन्होंने बहुत पहले प्रस्तुत किये थे। बाद में मार्क्सवाद के प्रभाव और राज्य की आवश्यकताओं के कारण उन्हें साहित्य से विलग होना पड़ा। श्री डी० रामी रेड्डी उसी वर्ग के द्वितीय व्यक्ति हैं। 'पानशाला' इनकी गेय कविताओं में मौलिक है।" पोताना की भागवत-सदृश गहन भाव-संवेदना और स्वाभाविक उत्साह गीतात्मक प्रदर्शन की स्मृति देता है। इस सम्मान का स्थान श्री बी० अप्पाराव को मिलता है जो कला से त्रसित हुआ, समाप्त हो गया। आजकल इनकी गेय उक्तियाँ और गीत गृहप्रचलित पंक्तियाँ हैं। सामान्य स्वरों में, कलाहीन रहकर भी वह दुःखान्त उपसर्गों की चोटें देता है। मृत्यु के बाद ऐसे कुछ गीत एकत्रित रूप में पुस्तकाकार किये गए हैं।

कवियों के द्वितीय वर्ग का नेतृत्व श्री सत्यनारायण करते हैं। चतुर्दिक् प्रतिभा के व्यक्ति होने के कारण इनके काव्य में सदैव शक्ति का प्रस्फुटन मिलता है। और ६० वर्ष के बाद भी ये वैदिक संस्कृति-सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत कर रहे हैं। ये अंशतः परम्परावादी हैं, साथ ही गीत के क्षेत्र में ये अन्य कवियों से अपनी 'किन्नर सम्पतलु' (किन्नरों के गीत) कृति से भिन्न हैं। भारतीय इतिहास से प्रभावित तथा महत्ता और वैदिक संस्कृति के मूल्यों

में दृढ़ विश्वास रखने के कारण ये अपनी कविता में अधिकारी व्यक्ति-सदृश संदेश देते हैं। अधिकांश आधुनिक लेखकों से उसकी अनुकृति बरबस हो जाती है। वर्तमान समय में वह 'विश्वनाथ रामायण' नामक बृहत् काव्य-सृजन में संलग्न हैं। साहित्य के विविध रूपों में, महाकवियों में यही सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं। इनके 'अनारकली' और 'नर्तनशाला' ने पूर्व स्वतन्त्रता युग में कानून के लौहहस्त को प्रस्तुत किया; यद्यपि इनके प्रारम्भिक उपन्यास जैसे 'एक वीर' और 'सिलयाली कथा' (समुद्र की पार्श्व-जल सीमा) अधिक विख्यात हुए। वर्तमान सदी के प्रमुख उपन्यासकार के रूप में इनकी प्रसिद्धि 'व्ययी पदगलु' (The Thousand hoods) से हुई है; यह अर्द्धशताब्दी के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक संघर्षों की कथा है।

नन्दूरी सुब्बाराव की कविता में नया दृष्टिकोण है। इनकी यन्की पत्तलु (यन्की के गीत) में विशुद्ध पिछड़े निरक्षर समाज के स्नेह-चित्रों द्वारा वर्तमान काव्य का उद्घाटन होता है और गीत भी उसी समाज की बोली में मिलते हैं; हमारे प्रशंसित गायकों ने उनमें लय दी है।

द्वितीय महायुद्ध से ठीक पहले अतियथार्थवादी स्कूल प्रारम्भ होता है। ये कवि अति-वास्तविकता को अपना आदर्श मानते हैं। इस स्कूल के अग्रगण्य श्रीरंगम् श्रीनिवास हैं, जो 'श्री श्री' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके 'मारो प्रपंचम्' (द्वितीय संसार) नामक छोटे ग्रन्थ ने, जब से वह मुद्रित हुआ, एक घोषणा-पत्र का काम किया। स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी होते हुए भी इसमें मनोविश्लेषण और अस्तित्ववाद के मन्द स्वर ध्वनित होते हैं। इनकी प्रारम्भिक कविताओं में फ्रान्स के छायावादी और उत्तर छायावादी आन्दोलनों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। परन्तु 'मारा प्रपंचम्' में वह एक नई लय और शक्ति का परिचय देते हैं, जो व्यक्ति को अर्थ न समझने पर भी संवेदनायुक्त करती है।

श्री श्रीरंगम् नारायण बाबू एक आदर्श अतियथार्थवादी हैं, जिन्होंने पृथ्वी की गंध की उपमा अपनी प्रियतमा की जलती हुई लाश की गंध से दी है। यही आधुनिक कविता का मोड़ बिन्दु है, तत्पश्चात् हम एक बड़ी संख्या में साहसी युवक और युवतियों को मरघटों, हड्डियों, खून, प्रेतों और अपराधियों में व्यस्त पाते हैं। इनमें से एक श्री देशी राजू कृष्ण शर्मा हैं; दूसरे सुकवि ने तो अपना नाम पट्टाभि से पथावि बदल लिया और अपने काव्य को भी फिडल रागाला डेजन कहा है।

उदीयमान कवियों का एक वृन्द हैदराबाद में दिख रहा है। कुछ वर्षों से ही श्री दाशरथी सतर्कता से अपनी कृतियों में कलात्मक एवं व्यापक प्रगति का परिचय दे रहे हैं। इनके समकालीन वर्तमान आर्थिक विषयों के मन्त्री श्री बी० गोपाल रेड्डी ने कई ग्रन्थों में टैगोर की कविताओं को प्रस्तुत किया है। यहाँ कवि के गाये बिना कविता का अर्थ नहीं समझ में आता। यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कविता अधिकांशतः लय की वस्तु है।

एक प्रगतिवादी विचारक स्कूल अपनी शैली-सहित अभ्युदय साहित्य से उपस्थित है। यह १९४२ से कार्यशील है। इसमें बहुत-से होनहार और दक्ष कवि हैं; परन्तु दुर्भाग्य से उनकी कविता में रूप नहीं है। वे अपनी विचार-धारा में पूर्व-आरोपित हैं। यद्यपि ये 'श्रीश्री' को अपना मार्गदर्शक मानते हैं, पर वह कविता के क्षेत्र में इनके साथ कतई नहीं हैं।

इस स्कूल ने अर्द्ध परम्परावादी आदर्शों को अपनाया है और आधुनिक समय में कवियों को हम पुनः रूप पर महत्त्व देते हुए व्यक्तिवादी पाते हैं।

आधुनिक काल के साहित्य में अन्य विभिन्न शाखाओं का विकास मिलता है। श्री सिन्ता दीक्षितुलु ने बालकों के जीवन-चित्रों में कविता और गद्य निर्मित किये। सर्वश्रेष्ट प्रगति कहानी, निबन्धों और उपन्यासों में अभिव्यक्त विनोद में हुई। श्री कामेश्वर राव और श्री नरसिंहराव ने विनोद के समग्र रूप उपस्थित किये हैं, परन्तु सर्वश्रेष्ठ संतुलित विनोद श्री मोक्कपती नरसिंह शास्त्री के कृतित्व में उभरा है, जो कष्ट और दया प्रसूत है। सार्वजनिकता पा गया है। इनकी 'बैरिस्टर-पार्वतीसम' रचना को आंध्र इतिहास में स्थायी मूल्य प्राप्त है।

नाटक के क्षेत्र में दो द्रष्टाओं द्वारा सही मार्गदर्शन बहुत पूर्व में हुआ है; उनमें से एक स्वर्गीय वेदम् वेंकटूया शास्त्री हैं, जिनके 'प्रताप रुद्रिममु' ने गत शताब्दी के विरुद्ध घड़ी चला दी; द्वितीय स्वर्गीय श्री जी० अप्पाराव हैं, जिनके 'कन्या सुल्कमु' में 'गिरिसम' के चरित्रों में यथाशक्ति श्रेष्ठता को संस्थित किया है। 'पार्वतीसम' और 'गिरिसम' स्याम देशीय जुडवाँ सदृश अविभाज्य हैं। १६३० से आगे एकांकी अधिक प्रचलित हुए और साथ ही गद्यावलियाँ मिलती हैं। १६३५ से गीति-नाट्य ने अपना स्थान लिया, इसे स्थित करने वाला श्रेष्ठ मस्तिष्क माना गया। यह असम्भव था कि अन्य नाटककार यहाँ सफलता प्राप्त करेंगे।

लघुकथा और उपन्यास मूल रूप में इस शताब्दी के उत्पाद्य हैं। विपुल मात्रा में उपन्यासों ने समाजशास्त्रीय रूप धारण किया। उपरिलिखित अच्छे उपन्यासकार के सिवाय श्री ए० बापीराजू और श्री एन० नरसिंह शास्त्री मुख्य हैं। इन्होंने उपन्यास को मुख्यतः मानव-मूल्य और समग्र जीवन का सर्वेक्षणयुक्त साहित्य-रूप बताया है।

आलोचना और सौन्दर्य-शास्त्र में महत्त्वपूर्ण प्रदेय गत बीस वर्षों से आए हैं। केवल संस्कृत पाठ्य तथ्य, अनुवादित और विवेचित किये गए ही नहीं, वरन् बहुत-से यूरोपीय पाठ्यों को सम्मिलित किया है। स्वतन्त्र प्रबन्ध विशेष सौन्दर्य-शास्त्र-सम्बन्धी समस्या पर महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक कलापूर्ण परिवेश को प्रस्तुत करते हुए उपस्थित किये गए हैं।



एएड्रे पाडाक्स[1]

आधुनिक फ्रान्सीसी कविता

फ्रान्सीसी काव्य की आधुनिक धाराओं को उन्नीसवीं शताब्दी के विगत द्वितीय अर्द्ध का आकलन किये बिना नहीं समझा जा सकता। सत्य का विपुल मात्रा में तिरस्कार किये बिना स्पष्टता के लिए उन धाराओं को, काव्य और कवियों की दो प्रमुख धाराओं और सिद्धान्तों में रखा जा सकता है।

(१) **विद्रोह या क्रान्ति**—अनुशासन और रूढ़ियों का तख्त (सिंहासन) उखड़ना, सब क्षेत्रों में क्रान्ति, बुद्धि-त्याग, अर्द्धचेतन और अचेतन मस्तिष्क के स्तरों की अद्भुत उद्भावनाएँ। जिस सौन्दर्य के दर्शन नये कवि करते हैं। वह पाठकों को कुण्ठामग्न करता है। यह धारा अर्थर रिम्बा से अतियथार्थवादियों तक चलती है।

(२) **आलोचक एवं शिल्पी के रूप में कवि**—भाषा के उपयोगों और मूल्य पर प्रकाश लघु और विकसित भाव और संवेदनों को प्रस्तुत करने में अथक परिश्रम। यह कार्य स्टीफेन मेलार्मे से प्रारम्भ होता है।

ये दोनों धाराएँ बहुधा मिल भी जाती हैं, और दोनों धाराओं में कवि सोचता है कि सत्यान्वेषण में वह काव्य-निर्माण करते हुए मानवता के सर्वश्रेष्ठ कार्य में प्रयुक्त होता है। दैनिक जीवन और दैनन्दिन शब्द-व्यंजना के पीछे वह सत्य और वास्तविक जीवन को खोजता है। मेरा विश्वास है कि आधुनिक फ्रान्सीसी कविता का अत्यधिक लक्षणीय अंग यही है।

अर्थर रिम्बा (१८५४-१८६१) ही इसे घोषित करने वाला प्रथम कवि है। उत्तरकालीन फ्रान्सीसी कवियों पर उसका विपुल मात्रा में प्रभाव रहा और अब भी बहुत है। पन्द्रह वर्ष की आयु में मित्र को लिखे गए एक पत्र में उस असाधारण कवि ने कवि-व्यापार-सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये थे। उसने लिखा था, कवि को एक द्रष्टा होना चाहिए, प्रामेथूज के समान वह कृतियों में ज्वाला निहित करे। वह मानवता का अग्रणी है। उसे नवीन भाषा की खोज करनी चाहिए और उन नव्य यथार्थों को, जो उसने अन्वेषित किये हैं, शाब्दिक रसायन के प्रयोग से नई शक्तियाँ देनी चाहिएँ। एक संख्या में कवि उस समय इन विचारों से प्रभावित हुए। महाकवि पाल क्लाडेल भी अपने को रिम्बा का ऋणी मानते हैं। इस युग में एक बड़ी संख्या में कवि उसके प्रभाव में आये।

उन्नीसवीं शताब्दी का द्वितीय कवि, जिसका कार्य उत्तर फ्रान्सीसी कविता में महत्त्वपूर्ण रहा है, एस० मेलार्मे (१८४२-१८६८) है। ये क्रान्ति का समर्थक तो न था, परन्तु इसकी काव्य-सम्बन्धी आकांक्षाएँ एक प्रकार से उतनी ही महान् थीं, जितनी रिम्बा की। वह ऐसे काव्य का निर्माण करना चाहता था, जिसमें संगीत की समस्त प्रभावोत्पादक शक्तियाँ हों। साथ ही, वह ऐसी कविता का पक्षपाती था जिससे संसार के समस्त रहस्यों का सम्पूर्ण रूप से उन्मीलन हो सके। मानव इस प्रकार लिखे, जैसे ईश्वर ही लिख रहा हो। इस कार्य की पूर्ति के लिए भाषा का समुचित प्रयोग उसने वांछनीय समझा। उसकी दृष्टि में भाषा ही

१. अनुवादक—बलभद्र तिवारी

चरम सत्य को छिपाये रहती है और वही उसका उद्घाटन भी करती है। इस प्रयोग में कवि शब्दों का निर्देशन करने की अपेक्षा स्वयं शब्दों द्वारा निर्देशित होने लगा। सम्पूर्ण काव्य में शब्द अपने समीपवर्ती शब्दों के सम्पर्क से तथा समस्त कविता में अपने विशेष स्थान से समझे जाते हैं। इस आदर्श से लिखी गई कविताएँ या रचनाएँ अतिशय दुरुह, किन्तु आश्चर्यजनक रूप से सुन्दर हुईं।

एक अन्य कवि, जो कुछ काल तक मेलार्मे का शिष्य माना गया (यथार्थ में वह नहीं है), पाल वेलरे (१८७१-१९४५) है। उसने कविता को एक ऐसा व्यायाम माना, जिसके द्वारा मनुष्य-मन की समस्त सूक्ष्मताओं का परिदर्शन हो जाता है।

आधुनिक काल में विचित्र कृति-सर्जक कवि एप पाज हैं। वह काव्य-सृजन ऐसे गद्य में करते हैं जिसमें केवल सामान्य वस्तुओं—जैसे मोमबत्ती, नारंगी अथवा पत्थर आदि का वर्णन आता है, क्योंकि उनका कहना है कि किसी वस्तु के साथ पाठक के विचारों का संयोग करना स्वयं ही सबसे कठिन कार्य है।

फिर से, रिम्बा की बौद्धिक निष्पत्तियों का अन्वेषण करने पर हम आधुनिक फ्रांसीसी कविता के सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन पर पहुँचते हैं, जिसमें पहला आन्दोलन अतियथार्थवादियों का है। उनका महत्त्व विशाल क्षेत्रों पर पड़ा, वर्तमान समय में समस्त फ्रान्सीसी कवि अतियथार्थवादी नहीं हैं। परन्तु उनमें से सभी मुख्य कवि इस आन्दोलन से प्रभावित हुए हैं। उनका प्रधान उद्देश्य मनुष्य-विषयक सत्य का शोध करना है। विशेषकर उसके व्यक्तित्व के उन मूलों का अन्वेषण करना, जो उसे समस्त सामाजिक और नैतिक मान्यताओं और संस्कारों से मुक्त कर दे। यह विचार व्यवहार की समस्त परम्पराओं के विरुद्ध एक सम्पूर्ण क्रान्ति रहा है, और इस क्रान्ति का प्रयोजन सहसा उस सौन्दर्य की उपलब्धि करना है जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। उन्होंने बहुतायत से अप्रयास लेखन का उपयोग किया और निश्चित रूप से कुछ बहुत ही सुन्दर और अनुपम कविताएँ, जो नवीन शब्द सहयोग, नव्य कल्पना और एक सामान्य अनोखेपन की भावना से पूर्ण थीं, उपस्थित कीं। अब तक उस वर्ग का मुख्य कवि एण्ड्रेब्रेटन रहा है। उसने एक बार लिखा कि वह उस सौन्दर्य का अन्वेषण करना चाहता था जो समाधान के आकस्मिक प्राप्त होने पर, पूर्णता में प्रस्तुत तीखेपन में पाया जाता है। जो स्वाभावतः सामान्य बौद्धिक पद्धति से प्राप्य नहीं है।

वस्तुतः इस दल का एक महान् कवि, जो कदाचित् आज की फ्रान्सीसी कविता का सर्वप्रमुख प्रतिनिधि है, पाल एल्यूअर्ड (१८९५-१९५५) है। इन्होंने आश्चर्यजनक सौन्दर्य-भरी रचनाएँ लिखी हैं, इन्हींके साथ हम रेनाचार एवं अन्य अनेकों के नाम ले सकते हैं।

आधुनिक फ्रान्सीसी कवियों के काव्य-सम्बन्धी आदर्शों को वासके के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं : (वासके) जिसकी मृत्यु दक्षिणी फ्रान्स के एक छोटे नगर में प्रशान्त और गम्भीर मनन का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् हुई है। "यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि सर्वप्रथम कविता भाषा के क्षेत्र में एक साहसिक अभियान है, इसके पश्चात् यह कवि का भी एक स्वतन्त्र अभियान है। मैं उस काव्य को महत्त्व देता हूँ जिसकी कि जीवन में कल्पना हुई है और जिसका निर्माण सत्य की वस्तुमूलक अभिव्यक्ति के रूप में हुआ है। ऐसी

कविता ही यह सिद्ध कर सकती है कि मनुष्य की चेतना ने काव्य-रचना के द्वारा वास्तविक शान्ति प्राप्त की है। काव्य शब्दों का विशेष शब्द है। यह वह है जिसकी उपलब्धियों को समय नहीं छीन सकता। कविता सत्य नहीं है, परन्तु उसमें सत्य के समान ही विशेषताएँ हैं।

और पुनः कविता की भविष्य-कल्पना इस रूप में करता हूँ कि वह अधिकाधिक जीवन की सार वस्तु का अनुभव करायगी, यह ऐसा कार्य है जिसकी कल्पना भी इसके पूर्व नहीं की गई थी।"



डॉ० *फिलिप यंग*[1]

बीसवीं सदी की अमरीकी कविता

अमरीकी कविता का कदाचित् यह दुर्भाग्य है कि बीसवीं शताब्दी में अमरीकी उपन्यासों की महत्त्वपूर्ण सफलता ने उसे आच्छन्न कर रखा है। साहित्य में हमारे चार उपन्यासकारों: सिन्क्लेयर-लेविस, पर्लबक, विलियम फॉकनर और अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने नोबल पुरस्कार पाया है; परन्तु कवियों में समादृत होने वाले हैं टी० एस० इलियट। हम उन्हें उनके संयुक्त-राज्य में जन्म लेने और पालन-पोषण के होने के कारण अमरीकी ही मानते हैं, वे अंग्रेज तो अपने युवाकाल से हुए। तिस पर भी कविता—जिसको ध्यान में रखा गया—अब तक ४५ वर्षों से अमरीका में ही पल्लवित हुई। आश्चर्यचकित करने वाली संख्या में व्यक्ति उसे लिखते हैं और उसी संख्या में कला में प्रतिस्पर्धा रखते हैं। हम केवल महत्त्वपूर्ण अथवा उसके आस-पास के दो कवियों—टी० एस० इलियट और राबर्ट फ्रॉस्ट—की गणना करते हैं, साथ ही एक दर्जन अन्य व्यक्ति भी काव्य कला के चिन्तकों के आकर्षण हैं।

बीसवीं सदी के अमरीकी काव्य का प्रारम्भ यथार्थ में, जैसा अपेक्षित है वैसा, १९०० में न होकर १९१२ में होता है। इसके पूर्व के हमारे कवि १८वीं सदी में निवास करते प्रतीत होते हैं। एमिली डिकन्सन (जिनकी मृत्यु १९०० के दो दशक पूर्व हुई) और १९१२ के काव्यात्मक पुनरुत्थान के वर्ष के बीच में विचारणीय कवि ई० ए० रॉबिन्सन हैं, जिनकी स्मृति केवल उनकी नवीन और विशिष्ट लेखन-शैली ही है। उनका विश्वास था, कविता अभिव्यक्ति की स्वाभाविक भाषा में लिखी जानी चाहिए, और लय के लिए शब्द-योजना में तोड़-मरोड़ न हो, छन्दोबद्ध वाक्यों की विशेष योजना न हो, सामान्य बोल-चाल की भाषा में यह नहीं होता है। रॉबिन्सन का विषय था—न्यू इंगलैण्ड नामक छोटे ग्राम के निवासी—जिसे अपनी कविताओं में उसने 'टिल्बरी टाउन' नाम से अभिहित किया है (यह गार्डनर मेन की राजधानी में वास्तव में उसके जन्म और पालन-पोषण का स्थान था)। इन निवासियों पर इन्होंने अधिक मात्रा में छोटी कविताएँ लिखीं। यद्यपि ये कविताएँ दोष-रहित लय में साथ ही परम्परागत पद्य रूपों में छन्दोबद्ध हैं, पर इनकी स्वाभाविक कर्णप्रियता,

१. अनुवाद—बलभद्र तिवारी।

सरलता, बोधगम्यता और परम्परावादी काव्य-प्रभावों से मुक्त होने के कारण ही रॉबिन्सन अचानक ऐसी कविताओं के लिए प्रसिद्ध हुआ और उसकी प्रतिष्ठा सुरक्षित प्रतीत होती है।

हम इसे 'अचानक' प्रसिद्ध हुआ इसलिए मानते हैं कि अनेक वर्षों तक कवि उस देश में काव्य-सृजन को उद्देश्य बनाए रहा, जहाँ इनके लिखे काव्य की अपेक्षा नहीं थी। इन्हें अनेक उतार चढ़ाव देखने पड़े। ये गरीब, अनजान और एकाकी थे, लेकिन अनेक वर्षों तक इन्होंने प्रयास जारी रखा और अन्ततः न्यूयार्क शहर में अपना प्राप्य पाया। वास्तव में प्रयत्नशील रखने वाली एक वस्तु; वह कमरा है, जिसमें पेयों के साथ खरीदने पर मुफ्त भोजन मिलता था। द्वितीय, न्यूयार्क सबवे योजना की इमारत, जहाँ इसे कुछ काल के लिए शारीरिक परिश्रम का कार्य मिला था; परन्तु २७ मार्च १९०५ रॉबिन्सन का सबसे अधिक शुभ दिन था, जबकि अमरीका में अनजान होते हुए भी वह कष्ट से भोजनालय के स्थान में आया और उसने संयुक्त राज्य के राष्ट्रपति थियोडोर रुज़वेल्ट का पत्र पाया था, जिसमें उन्होंने रॉबिन्सन की कतिपय कविताओं को पढ़ने और हृदयंगम करने का उल्लेख किया था, साथ ही कवि की प्रतिदिन की चर्या पर आश्चर्य प्रकट किया था। राष्ट्रपति ने कवि के लिए बाद में अच्छा काम दिलाया और इनके कृतित्व पर एक निबन्ध लिखकर प्रकाशित कराया। विचार-धारा में रॉबिन्सन एक निराशावादी था, परन्तु वह एक आदर्शवादी और अर्द्धभौतिकवादी था। परन्तु न तो वह अपने अमौलिक विचारों के लिए और न अपनी लम्बी कविताओं के लिए स्मरण किया जाता है। वह केवल 'टिल्बरी टाउन' के स्पष्ट, सादे, नाटकीय चरित्रों के चित्रों के लिए ही याद किया जाता है।

वैसे भी मैंने पहले कहा है कि कविता का प्रारम्भ रॉबिन्सन से नहीं है। १९१२ ही अमरीकी साहित्य में तथाकथित काव्य-सम्बन्धी पुनरुत्थान का वर्ष है। शिकागो में 'कविता' नामक पत्रिका इसी वर्ष दक्ष महिला हेरिट मुनरो द्वारा आरम्भ की गई थी और तब से १९२२ तक—टी० एस० इलियट की शैली और विचार में प्रमुखता होने तक, शिकागो की नई कविता साहित्यिकों का केन्द्र थी। कुल मिलाकर यह यथार्थवादी, प्रजातांत्रिक और अमरीकी तरह की कविता थी। वह अनगढ़ हो सकती थी और वह भी अभिमान सहित (उसका न शिष्टाचार में विश्वास था और न देश के अधिकाधिक संस्कृत भाग में); वह एक नवीन वस्तु थी और साथ ही विचारों में अर्द्धपूर्वी भावों से समन्वित। विशेष रूप से यह मृत विक्टोरियन कवियों के विरुद्ध क्रान्ति तथा भव्य आयरिश पुनरुत्थान के समतुल थी, जो अभी समाप्त हुआ था। कवि ने आयरिश कवि यीट्स के समान ही अनुभव किया कि : हम इन सबसे थक गए है : वह थकावट अलंकार-शास्त्र, काव्यात्मक वाक्शैली और पद्य की प्रत्येक कृत्रिम वस्तु के प्रति थी। काव्य सरलतम गद्य के समान होना चाहिए, जैसा रॉबिन्सन ने अनुभव किया (पर किस कारण से, वह परखा नहीं गया)।

'कविता' नामक पत्रिका से सम्बन्धित अधिकाधिक प्रदेय वाले तीन कवि इस आन्दोलन में आते हैं—एडगर ली मास्टर्स, वाकेल लिंडसे और कार्ल सेन्डबर्ग। मास्टर्स की प्रसिद्ध 'स्पून रिवर एन्थॉलार्जी' छोटी पुस्तक, जिसमें छोटे-से नगर के केन्द्रीय पश्चिमी भाग के समाधि-स्थानों के निवासियों द्वारा कथित नाटकीय स्वागत, उनकी अपनी जीवनी—संक्षिप्त आनन्द, विशद कष्टों एवं विध्वंसित आशाओं का वर्णन है। यह एक सुखद पुस्तक

नहीं है और इसका तीखा शीर्षक, भावात्मकता के प्रतिकूल यथार्थवादी झुकाव, सामान्य पाठकों में एक समय उतना ही प्रसिद्ध था, जितना गम्भीर पाठकों और कवियों में अप्रसिद्ध।

वाकेल लिंडसे मास्टर्स की अपेक्षा एक अच्छा कवि था। वह व्यक्ति के रूप में अधिक विविध था। अनेक वर्षों तक वह कविता द्वारा भरण-पोषण करता हुआ संयुक्त राज्य में पर्यटन करता रहा (उन कविताओं द्वारा जो खरीद ली जातीं थीं)। और विचित्र कविताओं को भाषण-मंचों पर सुनाता रहा और सदैव उपहासित सौन्दर्य का कारण प्रस्तुत करता रहा; परन्तु एक अविस्मरणीय और मौलिक कवि के रूप में अन्त में आत्म-हत्या करके समाप्त हुआ। उसने कतिपय अमरीकी चित्रों (Figures) पर कविताएँ लिखीं। देश में वह तीव्र अन्तर्दृष्टि का व्यक्ति था और वह केवल लिंडसे का कार्य था, जिसने अमरीकी पोकहान्टस (Pocahantas) और हकिलबेरीफिन (Huckleberry Finn) की किंवदन्तियों को विकास दिया, जो आधुनिक युग में अमरीकी अनुश्रुति में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं।

सन् १९१४ में 'शिकागो' कविता के प्रकाशन से कार्ल सैन्डबर्ग इन तीनों में अधिक माना गया; किन्तु उसने कम सनसनी ही प्रस्तुत की। यह यीट्स के उस जमाने में अधिक प्रभावशाली कवि था, जब उसने कहा था कि समस्त अमरीका में बहुत-से छोटे-छोटे कवि उत्पन्न हो रहे हैं। सैन्डबर्ग की कविताएँ अधिक सरल और नीरस हैं। वे सामान्यतः छोटे सम्पादकीय वक्तव्यों या मनुष्य की दिलचस्प कहानियों के समान हैं, जो बहुधा जोशीले प्रजातान्त्रिक संवाददाताओं द्वारा सामाजिक दोषों से अभिहित रहते हैं। वे पूर्ण रूप से अशिष्ट भाषामय और युगरुचि के अनुकूल हैं। कदाचित् अधिक महत्त्वपूर्ण गद्यात्मक रूप में—गद्य की ध्वनि अधिक करते हैं और यथार्थ में अनेक व्यक्ति, केवल मुद्रण करने वालों को छोड़कर, उसकी इस प्रणाली में छपने से गद्य ही मानते हैं। इसे ही 'मुक्त छन्द' कहा गया है—एक काव्य-शैली जो व्हिट मैन द्वारा 'लीव्ज़ ऑफ़ ग्रास' में मुख्यतः १९वीं सदी में प्रारम्भ की गई।

नये स्वरों के विस्फोट के साथ ही एक अन्य महिला-कवित्रयी हमारे सामने आती है। उनकी समान विशेषताओं के कारण हम एक साथ उनका विवेचन कर सकते हैं: ये तीनों सारा टीसडेल (Sara Teasdale), एडनासेंट व्हिन्सेन्ट मिलें (Ednas't Vincent Millay) और एलीनर वीले (Elinar Wylie) हैं। ये एक साथ इसलिए उल्लिखित नहीं की जा रही हैं कि ये समकालीन हैं; परन्तु इसलिए कि ये महिला कवि हैं, इनकी गेयात्मक संवेदनाएँ हैं और आधुनिक अमरीकी स्वच्छन्दतावाद के समान पुनरुत्थान में अपनी प्रतिभा का परिचय एक साथ देती हैं। यह समय की अन्य धाराओं से पृथक् एक भावुक, व्यक्तिवादी, गेय और स्वभाषित विष्कम्भक है।

सारा टीसडेल प्रेम की कवयित्री थीं, जिसे उन्होंने एक प्रकार के धर्म का रूप दे दिया था, और इस प्रकार वे अमरीका के तृतीय दशक के बृहत् सामाजिक आन्दोलन की अग्रदूत थीं: जो स्वातन्त्र्य के नाम से विदित है। जो स्त्रियाँ पुरुष के साथ पूर्ण समानता तथा पूर्णतया समान स्वतन्त्रता की माँग कर रही थीं, उन्हें वे आत्माभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की प्रबलता प्रतीत हुईं। परन्तु ऐसा दायित्व स्वीकार करने के विषय में वे स्वयं बहुत मौन थीं। (उस समय जब यह कहा गया है कि सामूहिक रूप में कवयित्रियाँ

सगर्व यह घोषित कर रही थीं कि वे विवाहित हों या अविवाहित, वे 'गर्भवती' हैं)। यह स्थिति एडनासेंट विन्सेन्ट मिले के लिए सुरक्षित रही, जो नारी-विद्रोह और आत्माभिव्यक्ति की कवयित्री बनी—वह विषय जिसका उपहास करना बहुत सरल है; परन्तु उपहास कर लेने पर (यह मानना होगा) कि मिस मिले ने उस स्वतन्त्रता की प्राप्ति में स्त्रियों की सहायता के लिए कुछ किया अवश्य, जिसका वे अमरीका में उपयोग करती हैं। यह कार्य उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से किया, विशेषतः अपनी भावनाओं के प्रगल्भ उद्घाटन द्वारा मध्यवर्ग पर उस समय तक प्रहार करते हुए, जब तक वह उसका अभ्यस्त नहीं हो गया। मिस मिले ने घोषित किया कि "किन ओठों ने मेरे ओठों को चूमा है, और कहाँ, और क्यों, मैं भूल गई हूँ और कौन-सी बाँहें सुबह तक मेरे सिर के नीचे पड़ी रही हैं, यह भी मैं भूल गई हूँ। मेरे हृदय में उन विस्मृत युवकों के लिए मौन दर्द है, जो फिर अर्द्ध-रात्रि में मुझे पुकारते हुए नहीं आयेंगे......।" जो आलोचक उनके जीवन की वास्तविक अथवा आत्म-प्रसारित उच्छृङ्खलता की निन्दा करते थे, उन्हें सम्बोधित करते हुए इससे भी अधिक प्रसिद्ध रूप में उन्होंने कहा कि यह सच है :

मेरी बाती के दोनों छोर जलते हैं,
वह रात-भर नहीं पूजेगी
किन्तु ओह मेरे मित्र और हाय मेरे शत्रु
वह सुन्दर प्रकाश देती है !

सारा टीसडेल के समान एलिनर वीले कहीं अधिक गम्भीर, परिष्कृत, (Fastidious) सुन्दर साथ ही तेज, संवेदनशील और स्वच्छन्दतावादी हैं। उन्होंने अनेकों कविताएँ बिना शीर्षक के लिखी हैं। वे शैली में परम्परावादी, भावना में स्त्रियोचित हैं; और इसीलिए वे इस वर्ग के कार्य का उचित प्रतिनिधित्व करती हैं।

इसीके आस-पास काव्यात्मक पुनरुत्थान और नई भाषा-आग्रह से युक्त, शब्द-मितव्ययता से पूर्ण, बीसवीं सदी का सर्वाधिक पठित और प्रशंसित अमरीकी कवियों में रॉबर्ट फ्रॉस्ट है। सबसे बढ़कर फ्रॉस्ट ग्रामीण न्यू इंगलैण्ड के कवि थे, जिन्होंने देश के उस विभाग के विषय में और उस क्षेत्र की भाषा की लय और गति में लिखा। उसकी वस्तु का विस्तार सार्वभौमिक धरातल तक होता है। जिसके विषय में वे लिखते हैं, वह अन्ततः मानवीय-स्थिति है। उनके विषय में सोचने पर हमें न्यू इंगलैण्ड का ही स्मरण आता है, क्योंकि सबसे प्रत्यक्ष रूप में वे उस क्षेत्र के कृषकों, खेतों, फसलों और वनों के कवि हैं। भाषा की ताज़गी, प्राप्त ज्ञान और गाँव के सहज और सरल आनन्द का भाव-विनियोग वे तत्त्व हैं, जिन्होंने उन्हें प्रसिद्धि दी है। विचारों में वे एक प्रकार से आधुनिक परम्परावादी हैं, एक कुलीन रोमन, बहुत दूर तक वह होरेस के समान ही, लेकिन नये इंगलैण्ड में लाकर रोपित किये गए हैं। वह न्यू इंगलैण्ड के आत्म-विश्वास, स्वतन्त्रता और आत्म-निर्भरता के आदर्श को मानता हुआ प्राचीन इमर्सन की पद्धति को अनुमोदित करता है। दूसरे ढंगों से वे इमर्सन की याद दिलाते हैं क्योंकि फ्रॉस्ट का मानस वस्तुतः बीसवीं सदी का नहीं है। वह इमर्सन के समान नई विचार-शक्तियों से अछूता ही है, किन्तु विचार वे वस्तु नहीं हैं जिनके कारण फ्रॉस्ट को अपनी कविता में अभिरुचि नहीं है। उसने अनेक बार कहा है

कि बात कहने के ढंग में ही हास्य है। फ्रॉस्ट का उद्देश्य अपने क्षेत्र के व्यक्तियों के समान उस बोल-चाल की पद्धति में इसे अभिव्यक्त करने का रहा है। उसके कृतित्व में प्रत्यभिज्ञान का आनन्द सबल है—"सामान्य अनुभव में और असामान्य लिखने में"—वे कहते हैं, वह मुद्रण का आनन्द है, जिसे अनेक समय सुना गया परन्तु पृष्ठ पर कभी न देखा गया। वह वार्तालाप में रस पाता है और वही काव्य उसमें है।

फ्रॉस्ट की कतिपय लघु कविताएँ केवल भ्रमात्मक रूप से सरल हैं और स्पष्ट है कि वह प्रथम दृष्टि पर जितना कहती प्रतीत होती हैं, उससे अधिक कहती हैं। कदाचित् उस प्रसिद्ध कविता के सम्बन्ध में यह सत्य है—एक कविता जो बीसवीं सदी के अंग्रेजी साहित्य का श्रेष्ठ गीत कही जा चुकी है। उसका नाम "वन द्वारा हिमाच्छादित सन्ध्या में रुक जाना" और इस प्रदर्शन में केवल एक व्यक्ति, अनुमानतः कवि का वर्णन है, घोड़े और बग्घी को वन के पार्श्व में खड़ा करके शान्तिपूर्वक हिम-पात देखता है। वह कहता है कि यह वर्ष की सबसे अँधेरी सन्ध्या है—यह रात्रि—और चूँकि एक बर्फीली रात्रि अँधेरी नहीं होती, अतएव हमें लगता है कि उससे उनका आशय यह है कि वह उनको अंधकारमय प्रतीत होती है। छोटा घोड़ा उसकी बैठक से परेशान है, और हम देखते हैं कि शीघ्र ही मनुष्य या तो कदाचित् वन में प्रविष्ट होना चाहता है अथवा सम्भवतः हमेशा के लिए विश्राम करना चाहता है। जब वह अपनी इस प्रेरणा के विरुद्ध संघर्ष करता है और दायित्वों का स्मरण करता है और स्वयं को यह बतलाता है कि इस जीवन से मुक्त होने के पूर्व उसे बहुत दूर जाना है, तब उसके मन में सम्भवतः यही है।

अभी तक उल्लिखित कवियों में सेन्डबर्ग और फ्रॉस्ट के जीवित होने के बावजूद किन्हीं भी अभिजात रुचि वाले अमरीकन पाठकों द्वारा आधुनिक स्वीकार नहीं किया जाता। आधुनिक अमरीकी कविता—कविता जो आधुनिक संसार की बाधाओं और जटिलताओं को प्रकाशित करती है—अमरीका में टी० एस० इलियट की प्रारम्भिक कविताओं के प्रकाशन से प्रारम्भ होती है। आंग्ल-साहित्य-इतिहास में इलियट का पद कम-से-कम महत्त्वपूर्ण कवि का है। वह अमरीका के दो सबसे बड़े कवियों में से एक हैं (मेरी राय में द्वितीय एमिली डिकन्सन हैं) और अभी-अभी जब मैंने एक जीवित 'मैन ऑफ लैटर्स' के रूप में उनका परिचय सुना, मैं समझता हूँ कक्ष में उपस्थित सज्जनों में कोई भी दो मत न था। अन्य कवियों और पाठकों पर इनका प्रभाव प्रमाण्य है; साहित्य-सम्बन्धी एवं आलोचनात्मक रुचियाँ इस समय कविता और आलोचना की दिशा में इनकी रुचि के अनुकूल प्रवाहित हैं। "चलो तब चलें, तुम और हम" ......"Let us go then you and I......" हर्वर्ट के एक विद्यार्थी के रूप में कवि द्वारा लिखित इन पंक्तियों के प्रकाशन के पश्चात् आधुनिक कविता फिर वहाँ न बन सकी।

अपने विचारों और शैली के लिए इलियट महत्त्वपूर्ण रहे हैं। विचार-धारा में वह बहुत अनुदार हैं, शैली में वह मौलिक हैं। मध्य-पश्चिमी अमरीकी प्रसिद्ध प्राचीन परिवार में जन्म लेकर बड़े हुए इलियट, पूर्व में हार्वर्ड कॉलेज में पढ़ने आए, जहाँ इन्होंने अपनी प्रथम क्रान्तिकारी कविताओं को प्रकाशित किया। फिर वह और पूर्व में इंग्लैण्ड गये, जहाँ १९२७ में वह ब्रिटिश नागरिक साथ ही ब्रिटिश एंग्लो कैथॉलिक चर्च के अनुयायी बन गए,

तब से उनकी बहुत-सी कविताएँ दार्शनिक और धार्मिक हुई हैं। इनके बुद्धिवादी प्रशंसकों को यह विचित्र विकास प्रतीत हुआ। अपनी प्रारम्भिक कविताओं में इन्होंने आधुनिक समाज की प्रभावपूर्ण टीका की। अंग्रेजी में सम्भवतः इस सदी की सबसे महान् कविता है (वह निश्चित ही सबसे अधिक प्रभावशाली है) 'दी वेस्ट लैण्ड'; इसमें इन्होंने समकालीन दुनिया को एक प्रकार से वह मरुस्थल माना है जहाँ कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, जहाँ प्रत्येक वस्तु, यहाँ तक व्यक्ति भी, बंजर और व्यर्थ है। उसीके पश्चात् वह इस दुनिया के व्यक्तियों का वर्णन खोखले मनुष्यों के रूप में करते हैं। इलियट अपने अनुगामियों को पूर्ण निराशा के तट तक ले गए और उस समय जब यह लग रहा था कि आत्म-हत्या ही एक-मात्र उत्तर है, वे उस पहाड़ी से लौट आए—लोग उन्हें जिस पर खड़ा हुआ समझ रहे थे और चर्च में प्रविष्ट हो गए—जो उनके अनुगतों की दृष्टि में उनके द्वारा वर्णित मृत वस्तुओं में सबसे अधिक मृत थी। इसके सिवाय अँग्रेजियत का संकीर्ण और रूढ़िवादी विचार था, जिसे कवि ने अपनाया और इस दिशा में बहुत कम अनुगतों ने उनका अनुसरण किया। इस प्रकार अपनी प्रसिद्ध घोषणा में वे धर्म में एग्लीकन, साहित्य में परम्परावादी, राजनीति में राजतन्त्र-वादी बन गए। हम कह सकते हैं कि इनमें बहुमत में रुचि रखने वालों ने इनकी कविता में दिलचस्पी ली, हालाँकि वे इनके अभिव्यक्त विचारों से अपने को स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न करते रहे। लेकिन वह केवल प्रयत्न ही रहा और जैसा कि हम कह चुके हैं—कि इनका प्रभाव गम्भीर, लगभग अभूतपूर्व रहा है।

इलियट के द्वारा प्रस्तुत सबसे महत्त्वपूर्ण विचार सम्भवतः यह हैं कि आधुनिक जीवन अर्थहीन, स्थितिहीन, निष्प्रयोजन और बंजर है, यदि मनुष्य में धार्मिक विश्वास नहीं है। अच्छे और बुरे का ज्ञान, जो धार्मिक विश्वासों पर आधारित न हो; तो मानवता का वास्तविक अर्थ में अस्तित्व नहीं है। मोटे रूप में उनकी कविताओं में "जे अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक' से लेकर 'दी वेस्ट लैण्ड' और 'दी हॉलोमेन' आदि में केवल ईश्वरहीन व्यक्ति और अर्थहीन राज्य का ही चित्रण है। परिवर्तन के बाद 'ऐश वेडनेसडे' (Ash Wednesday) और 'फोर क्वार्टेट्स' (Four Quartets) आदि कविताओं में विचार-धारा धार्मिक और दार्शनिक है। लेकिन विचारों की अपेक्षा शैली सदैव कुशल और मौलिक रही है। इलियट अनेक युक्तियों का प्रयोग करते हैं और उन्हें समझने के पूर्व इन समस्त को समझना आवश्यक है, जो बहुधा कठिन कार्य है। वैसे इलियट में स्थिति का अतिक्रमण नहीं है। एक विचार या प्रतिमा (Image) दूसरा सुझाती है और हम बिना किसी विराम या व्याख्या के दूसरे पर चले जाते हैं तब वहाँ सम्बन्ध (Objective Correlative) है। वह सिद्धान्त या प्रयोग जो कवि के इस निरीक्षण से उत्पन्न है कि किसी भाव का कथन स्वयं में उनका उन्मेष ही नहीं है कि स्वच्छन्दतावादियों के साथ यह कहना—"**मैं जीवन के काँटों पर पतित हूँ**"—साथ ही पाठक में पीड़ा का संवेदन जगाना नहीं है—यदि वह कवि के विरोध में उन्मुख है। अतएव कवि को उसके बदले में क्या करना चाहिए और इलियट क्या प्रयत्न करते हैं, यही एक वस्तून्मुखी सम्बन्ध, भावना, वस्तुओं का समूह, घटनाओं की शृंखला, एक स्थिति के लिए है जो भावना के सूत्र हैं और जो कवि द्वारा आह्वान किये जाने पर पाठक में स्वयं भावना को उद्बुद्ध करेगी। और फिर उच्च शिक्षितों के लिए उनके द्वारा समाविष्ट अर्थ संकेत हैं—

प्राचीन साहित्य के उल्लेख, जो उनकी कही हुई वस्तु में एक धरातल जोड़कर उसके अर्थ को समृद्ध कर देते हैं, एक समय उनका बिम्ब-विधान नवीन था। कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ 'दी लव साँग ऑफ जे अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक' यह प्रमाणित करती है :

तब चलो हम चलें, तुम और हम
जब आकाश का सहारा लेकर संध्या फैली हुई है
टेबिल पर ईथर से बेहोश रोगी के समान....

इन पंक्तियों के प्रकाशन के बाद अंग्रेजी पद्य का स्वरूप ही बदल गया है। इलियट एक दुरूह कवि हैं। जब तक कोई उन पर कार्य करने वाला या उसका अध्ययन करने वाला उनकी उन सब पुस्तकों को न पढ़े, जिनका उन्होंने उपयोग किया है, तब तक इलियट का काव्य पढ़ने पर उन्हें कुछ अधिक नहीं मिलेगा, किन्तु ठेठ सत्य यह है कि उनके सहस्रों पाठकों ने इस प्रकार के परिश्रम को सार्थक पाया है। वास्तव में निःशंक होकर यह कहा जा सकता है कि हमारे युग के बहुत कम साहित्यिक अनुभव इससे अधिक फलप्रद रहे हैं।

निस्संदेह मेरी बातों का निष्कर्ष यह है कि इलियट की एक भी ऐसी रचना पाना कठिन है, जिसे केवल सुनकर कोई समझ सके; उनकी किसी भी कविता को एक बार पढ़कर कुछ अर्थ निकालना कठिन है, एक बार सुनकर अर्थ निकालने की बात ही दूर है। किन्तु मेरा ख़याल है कि यदि पहले इलियट के विषय में कोई धारणा नहीं है, तो उनकी 'दी हॉलोमेन' नामक कविता को सुनकर उनकी विशेषता का कुछ अन्दाज लगाया जा सकता है। ये उस प्रकार के मनुष्य हैं जिनसे इलियट वर्तमान जगत् को आबाद पाते हैं—ईश्वरीय और आध्यात्मिक सत्य के ज्ञान से विहीन, अर्थहीन रिक्त। कविता में इनके विरुद्ध वे आँखों से युक्त मनुष्यों को प्रस्तुत करते हैं—अर्थात् ऐसे व्यक्ति जिनके पास मानस-चक्षु हैं, जो विरोधियों को देख सकते हैं, वे आध्यात्मिक सत्य की आँखें हैं, वे कहते हैं कि "जब तक बहु-**दल युक्त गुलाब के समान आँखों का पुनः आविर्भाव नहीं** होता (बहुदलीय गुलाब ईसा और मेरी का परम्परागत प्रतीक है) **तब तक हम अन्धे हैं—और यह** खोखले **मनुष्यों की एक-मात्र आशा है।"**

अन्त में एक प्राचीन अंग्रेजी शिशु-गीत की हास्य अनुकृति करते हुए वे आधुनिक जीवन की निरुद्देश्यता की खिल्ली उड़ाते हैं। इसके साथ लार्डस् प्रेयर (Lords Prayer) के टुकड़ों का योग करके वे इन विख्यात शब्दों के साथ समापन करते हैं कि यह जगत्, प्रस्तुत जगत् एक विस्फोट के साथ नहीं समाप्त होगा, बल्कि हमारे, खोखले मनुष्यों के, अनुकूल एक कुनमुनाहट, दर्द और शिकायत की एक लघु और नगण्य चीं-चीं के साथ मिटेगा।

अब हम एक और अति प्रभावशाली आधुनिक अमरीकन कवि इजरा पाउण्ड की ओर उन्मुख होते हैं, जो आधुनिक जगत् के आलोचक भी रहे हैं। इलियट के समान पाउण्ड भी बहुत समय तक अपनी जन्मभूमि से विलग रहे और उनकी परिस्थिति का यह व्यंग्य है कि यद्यपि दोनों के कृतित्व और विचारों में अनेक समानान्तरताएँ हैं, तथापि इलियट ने विशाल यश प्राप्त किया है और पाउण्ड शासकीय अनादर में बहुत नीचे गिर गए हैं। इलियट के समान व्यापक अनुगति न पाकर भी पाउण्ड 'नई कविता' के पुरस्करण में

वर्षों तक नेता रहे हैं, और उनकी मूर्तिभञ्जक तथा उर्वर बुद्धि से दर्जनों साहित्यिक विचार उत्पन्न हुए हैं।

इलियट के समान वे भी विश्व के साहित्यों में व्यापक रूप से अधीत बने, और उनके प्रदेय का एक विशाल भाग पश्चिमी सभ्यता को अब तक अल्पज्ञात—लेखकों का परिचय कराना रहा है। टैगोर उनमें से एक हैं, अनेक चीनी और जापानी कवि हैं; किन्तु प्राचीन और विस्मृत फ्रेंच और इतालियन लेखक भी हैं। इन 'खोजे हुए' लेखकों के कृतित्व से पाउण्ड ने स्वयं अपने काव्य में एक प्रकार का जोड़-तोड़ का कार्य उत्पन्न किया, जो भयानक रूप से अधीत, पुस्तकीय और सामान्य पाठक के लिए तथा बहुधा विज्ञ पाठक के लिए भी दुरूह है। उन्होंने बहुत समय तक अपने 'कैण्टोज' (Cantos) को अपना प्रधान कृतित्व समझा है, और एक समय उन्होंने अपनी वस्तु की परिभाषा 'भूतकाल की वर्तमानता' कहकर दी थी, अर्थात् आधुनिक जगत् के विषय में इस प्रकार लिखने का प्रयत्न कि जो दूसरों को यह प्रदर्शित करे, कि भूतकाल उनके लिए कितना सजीव है जो उसके विषय में जानते हैं। उनका उद्देश्य प्राचीन साहित्यों के सजीव अवशेषों से एक नये काव्य का सृजन करना था। इलियट ने भी एक सीमा तक यह कार्य किया है, लक्षणीय रूप में अपने 'दी वेस्ट लैण्ड' में इलियट ने यह कृति पाउण्ड को समर्पित भी की है, किन्तु पाउण्ड ने भी इस महत्त्वपूर्ण कृति का प्रकाशन के पूर्व अधिकार पूर्वक सम्पादन किया है और इलियट ने मुक्त रूप से यह झलक दी है कि विशेषतः पंक्तियाँ काट देने के क्षेत्र में उन्होंने पाउण्ड की सलाह मानी है।

तब पाउण्ड के साथ समस्या यह है कि उन्हें भी इलियट के समतुल्य ख्याति क्यों प्राप्त नहीं है? और इस प्रश्न का उत्तर जटिल है। एक स्पष्ट कारण का सम्बन्ध पाउण्ड के कृतित्व की दुरूहता से है। एक ऐसे मस्तिष्क का अनुगमन करने की सहज और साधारण कठिनाई, जो विद्वत्ता से सिक्त है और जो ऐसे कवियों के उल्लेख से परिपूर्ण है जिनके विषय में अधिकांश लोगों ने कभी नहीं सुना (और ये उल्लेख चीनी भाषा का समावेश करते हुए बहुधा ऐसी भाषाओं में हैं, जिन्हें पढ़ने का साधन लगभग किसी पाश्चात्य के पास नहीं है।) अन्य प्रधान कारण स्वभावतः उनका सैद्धान्तिक और राजनीतिक जीवन है, इसका आरम्भ उस समय हुआ जब प्रथम महायुद्ध के पूर्व पाउण्ड ने यूरोप के लिए स्वदेश त्याग दिया; उनके लिए अमरीका मूढ़ों और धन का विनिमय करने वाले लोगों का देश था, जिन्होंने उस संस्कृति के विनाश के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया है, अपना जीवन जिस क्षेत्र के लिए समर्पित करना चाहते थे। अनेक वर्षों तक विदेश से अपने उन देशवासियों को वे नीरस उपदेश देते रहे, जो उन्हें सुनते थे। यह कार्य उन्होंने बहुधा सूक्ष्म बुद्धि और कुशलता के साथ किया, और बहुधा अत्यन्त एकतान नीरसता के साथ; क्योंकि दो वस्तुओं ने उन्हें ग्रस्त करना आरम्भ कर दिया था। प्रथम यह थी कि सूदखोरी संसार को नष्ट कर रही है; द्वितीय-गाँठ यहूदियों के प्रति घृणा थी। द्वितीय महायुद्ध के ठीक पूर्व पाउण्ड, जो उस समय इतालियन रिवीरा में रहते थे, खुले आम इतालियन तानाशाह मुसोलिनी का समर्थन करने लगे, और यह कहा जाता है कि युद्ध के दौरान में उन्होंने इतालियन रेडियो से अमरीकन सैनिकों के प्रति गद्दारी के भाषण दिये। अन्त में, युद्ध की समाप्ति पर वे

गद्दारी के अभियोग का सामना करने अमरीका लाये गए। यह स्थिति उस समय अकल्पित रूप से जटिल हो गई जब 'लायब्रेरी ऑफ कांग्रेस' ने, जो कि एक शासकीय समिति है, किन्तु जो एक पूर्णतया स्वतन्त्र समिति के द्वारा कार्य करती है, कैदी कवि को अपनी साहित्यिक सेवा के लिए पुरस्कार प्रदान किया। जैसा कि हम सब सोच सकते हैं, इस कार्य ने काफी हलचल उत्पन्न कर दी तथा इस विषय पर एक सुतीक्ष्ण और सजीव विवाद छिड़ गया कि क्या कविता में व्यक्त भावों से घृणा करते हुए, उन कविताओं का स्वीकार और समादर उचित है? अथवा क्या यह सम्भव है कि कथन शैली और कही हुई बात में अन्तिम विभेद किया जा सके, यह विवाद किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचे बिना ही समाप्त हो गया और जब पाउण्ड का मुकदमा आरम्भ हुआ तब लगता था कि उसकी जगह पर उतना ही कष्टकारी एक दूसरा विवाद छिड़ जायगा। पाउण्ड कानूनी रूप में पागल करार दिये गए और वे आज भी वाशिंगटन के एक सरकारी अस्पताल में एक कैदी रोगी के रूप में निवास करते हैं, किन्तु मुसीबत किसी भी अर्थ में अभी खत्म नहीं हो गई है, और उनकी मृत्यु के साथ खत्म नहीं होगी (वे अब पर्याप्त वृद्ध हैं); क्योंकि वे अपने केन्टोज (Cantos) अब भी लिखते और प्रकाशित करते हैं, और प्रश्न अब यह है कि क्या साधारण पाठक के लिए सर्वथा अगम्य उनका काव्य स्वयं विक्षिप्त नहीं है। उनके समर्थक जोर देकर इस मत का खण्डन करते हैं। किन्तु यदि वह विक्षिप्त नहीं है, तो तथाकथित अभियोगों के लिए उन पर मुकदमा चलाना चाहिए।

अथवा जैसा कि अन्य लोगों का विश्वास है वे क्या मुक्त कर दिये जायँ? इनमें से किसी प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है और इस प्रसंग को समाप्त करने की सबसे अच्छी विधि यह कहना है कि इज़रा पाउण्ड के काव्य और अन्य कृतियों को उचित भूमिका में रखकर देखने तथा उनका उचित मूल्यांकन करने के पूर्व बहुत वर्ष बीत जायँगे।

आधुनिक अमरीकी और अंग्रेजी कविता का एक प्रधान लक्षण साधारण पाठक के लिए दुरूहता है—उस पर अध्ययन करना, परिश्रम करना आवश्यक है—और यहाँ विवेचित होने वाले आगामी कवि हार्टक्रेन भी एक दुरूह कवि हैं। क्रेन के कृतित्व को देखने की सर्वोत्तम विधि उसे उन्नीसवीं शताब्दी के अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमेन की सार्वभौम आस्था के साथ टी० एस० इलियट की शैली के असम्भाव्य मिश्रण के रूप में देखना है। १६२२ में क्रेन, जो कि उस समय एक उदीयमान युवा लेखक थे, टी० एस० इलियट के 'दी वेस्ट लैण्ड' से गम्भीर और अमिट रूप से प्रभावित हुए। सांकेतिक सूक्ष्म शैली का उन्होंने हृदय से समर्थन किया, किन्तु उन्होंने अनुभव किया कि, **"मृत्यु की इस पूर्णता के पश्चात् किसी प्रकार की गति के अतिरिक्त और कुछ सम्भव नहीं"**—संक्षेप में, उन्हें लगा कि अनास्था और निराशा की दिशा में और आगे जाना असम्भव है। अपना लक्ष्य उन्होंने यह बनाया कि इस निराशा को व्यक्त करने वाली शैली का वे ह्विटमैन की आशावादिता और नये विश्व में आस्था के साथ समन्वय करें।

इस समय क्रेन ब्रुकलिन न्यूयार्क में रह रहे थे और प्रतिदिन जैसा कि उनके पूर्व ह्विटमैन ने किया था वे ईस्ट रीवर को पार करके न्यूयार्क शहर जाया करते थे, किन्तु अब एक बड़ा पुल बन गया था, जहाँ ह्विटमैन नौका से जाते थे, और एक प्रतीक के रूप में इस पुल

की धारणा क्रेन के मन में विकसित होने लगी। अन्त में उन्होंने अपनी महत्त्वाकांक्षापूर्ण योजना निश्चित की : वे एक लम्बी कविता लिखेंगे जो अमरीकी सभ्यता के विकास में प्रधान प्रदेय युक्त शक्तियों की पुनरवतारणा करेगी, जिसमें उन्हें लगता था कि वह विशाल पुल नव्यतम है। अपनी 'दी ब्रिज' कविता में वे एक दृढ़ स्वर की कविता लिखना चाहते थे, निराशा की कविता नहीं, और उनकी आकांक्षा हमारे विकास में कतिपय केन्द्रीय व्यक्तियों के द्वारा स्थापित अमरीकी मूल्यों का एक विशाल समन्वय निर्मित करना था। कोलम्बस, पोकेहोन्टास, रिपवान, विंकिल और अन्य ऐसे केन्द्रीय व्यक्ति हैं। उनकी धारणा थी कि समस्त मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधने वाली वस्तु मनुष्य की सृजन क्षमता है, और इस क्षमता का प्रतीक वह पुल था, जो देश-काल, अमरीकी जीवन के विभिन्न धरातलों और भूतकाल की वर्तमान के साथ एकता का भी प्रतीक था। इतने भव्य पुल के लिए भी यह एक दुर्वह बोझ था, और सत्य यह है कि इस कविता में अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति क्रेन कभी नहीं कर सके। अस्पष्टता और अपनी कतिपय अनुश्रुतियों को (जो भव्य और सुविस्तृत थीं), अनुश्रुतियों के रूप में प्रतिष्ठित करने में विफलता उनकी सबसे बड़ी बाधाएँ थीं। उनकी कुछ कम साहित्यिक कोटि की अन्य अड़चनें भी थीं। एक न्यूराटिक और कठिन प्रकार के व्यक्ति के रूप में उनका व्यक्तिगत जीवन एक दुखद दुर्व्यवस्था था, और १६३२ के २६ अप्रैल के दिन लगभग मध्याह्न में वे एक जहाज से नीचे कूद पड़े, जिस पर वे मैक्सिको से लौट रहे थे; उनका शरीर कभी नहीं मिला।

और इस प्रकार क्रेन का जीवन सैद्धान्तिक रूप में उनकी कृति के समान ही विफल रहा; किन्तु उनकी कविताएँ एक प्रकार के व्यक्तिगत तर्क और प्रतीक-विधान से बाधित हैं तथा स्पष्टता और सूक्ष्म दृष्टि के क्षणों में वे प्रगीतात्मक तीव्रता और शक्तिमान बिम्ब विधान की विपुल विविधता के द्वारा बहुत प्रभावपूर्ण हैं। उनके महाकाव्यात्मक और समन्वयात्मक लक्ष्य उनकी प्रतिभा के लिए बहुत भारी थे—सम्भवतः किसी भी प्रतिभा के लिए—किन्तु उनकी विफलताएँ अमरीकी साहित्य मूल्यों के मानदण्ड में असंख्य गौण कवियों की सफलताओं से कहीं ऊँचा स्थान रखती हैं।

क्रेन के पश्चात् चुनाव का कार्य अब बहुत कठिन हो जाता है। उनके समय से हमारे बीच में इतने अधिक सत्कवि हो गए हैं, किन्तु उनमें से इतने कम सचमुच में लक्षणीय हैं कि मेरे विचार से कोई भी दो समीक्षक कवियों की समान सूची का उल्लेख और उनकी व्याख्या नहीं करेंगे।

मेरी समस्या तब विवेचन के अधिकारी बहुत-से कवियों में से कुछ को चुनने की है। और सर्वप्रथम मैं कम-से-कम तीन ऐसे कवियों का उल्लेख करना चाहूँगा, जिनके विवेचन के लिए मुझे लगता है कि मेरे पास समय नहीं है, किन्तु जिनके नाम आपको जानने चाहिएँ, कम-से-कम यदि आप पहले से नहीं जानते हों। ये कभी-कभी एक साथ लिए जाने वाले नाम एलन टेट, जानक्रोवे रेन्सम और राबर्ट पेन वारिन हैं। हम अमरीका में इनका नाम बहुधा एक साथ लेते हैं; क्योंकि ये लोग मित्र हैं, उनके कार्य और उनके साहित्यिक मत (जो बहुत प्रभावशाली रहे हैं) अनेक समानताएँ रखते हैं और वे सब दाक्षिणात्य हैं, जो एक-दूसरे की संगति में लगभग एक ही समय साहित्यिक क्षेत्र में उभरनी आरम्भ हुई। वे सब

अच्छे कवि हैं, और अच्छे समीक्षक भी हैं, और वे विशेषतः अपनी समीक्षा में अमरीकी साहित्यिक रुचि में एक लघुक्रान्ति लाने में सहायक हुए हैं। यह कार्य विशेषतः विश्व-विद्यालयों के माध्यम से हुआ है, जहाँ उनका प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रहा है। फिर भी इनके बदले मैंने लगभग उसी पीढ़ी के तीन अन्य कवियों का चुना है—मुख्यतः इसलिए कि वे अमरीका में कवियों के रूप में अधिक विख्यात हैं और जिनके नाम, क्वचित् उनकी अधिक जनप्रियता के कारण, अमरीकी काव्य की चर्चा में उल्लिखित होने की अधिक संभावना रखते हैं। ये व्यक्ति ई० ई० कमिंग्ज, वेलेस स्टीवेन्स और रॉबिन्सन जेफर्स हैं।

कमिंग्ज एक प्रकार के विंश शताब्दीय अत्यधिक व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावादी हैं; और वे एक प्रकार के मधुर मनोरंजक और आत्मप्रसारक्षम बाह्य मूल्यों के भक्त हैं, जो 'कला के लिए कला' के पक्ष में एक तरह का अन्तिम संघर्ष करते हुए अवशिष्ट मध्यमवर्गीय प्रजा-तन्त्र की खिल्ली उड़ाने में आनन्द लेते हैं। वे कम-से-कम व्यवस्था से घृणा करने का और और अव्यवस्था को पुरस्कृत करने का बहाना करते हैं (सारगर्भित रूप में उनकी एक पुस्तक का नाम 'इजफाइव' है, जिसका तात्पर्य यह है कि कम-से-कम काव्य में दो और दो का योग पाँच होता है)। वे अश्रद्धालु रूप में किसी भी सामान्य, साधारण अथवा अविशिष्ट वस्तु का उपेक्षापूर्ण उपहास करते है। किन्तु कुल मिलाकर वे एक बड़े ही मनोरञ्जक और दिलचस्प कवि हैं। कमिंग्ज अमरीका में अपनी मुद्रण-पद्धति के लिए—जिस विधि से पृष्ठ पर उनकी कविताएँ नियोजित होती हैं—सबसे अधिक विनिन्दित है, जो उद्दण्डतापूर्वक घृणा-प्रदर्शन में उनके आह्लाद का सूचक है।

कमिंग्ज की कविता में शब्द के बीच में पड़ने वाला कोष्टक चिह्न अथवा बड़ा अक्षर पाना कोई आसान बात नहीं है; वे प्रथम पुरुष एक वचन 'i' को सदा छोटे अक्षर में छापते हैं (तथा God को भी कभी बड़े अक्षर से आरम्भ नहीं करते)। और पृष्ठ पर ये वस्तुएँ बहुत अजीब मालूम पड़ती हैं। किन्तु उनके द्वारा अर्थ वृद्धि की कल्पना की जाती है—छोटे i अथवा god में छोटे 'g' का उद्देश्य आधुनिक जगत् में इन वस्तुओं की सापेक्षिक महत्त्वहीनता का निर्देश करना है। कमिंग्ज प्रखर, दुर्ललित और उद्दण्ड हैं और उनकी अधिकांश रचनाएँ दो में से एक श्रेणी में आती हैं। उनकी कविताएँ या तो (कुल मिलाकर) व्यंग्यात्मक हैं—ऐसी कविताएँ जिनमें, परिवार, देश और ऐसी समादृत संस्थाओं के प्रति अमरीकी प्रेम का उपहास किया गया है; अथवा वे विचित्र ढंग की प्रेम कविताएँ हैं—ऐसी प्रेम कविताएँ, जो महत् प्रगीतात्मक और संवेदनगत सौन्दर्य से युक्त हैं। वास्तव में जिस युग में किसी भी महत्त्व की प्रेम कविताएँ विरल हैं (कम-से-कम तृतीय दशक की कवयित्रियों के बाद से) कमिंग्ज आज उसके सर्वोत्तम प्रतिनिधि माने जाते हैं (क्योंकि वे अभी भी जीवित और लेखन में सक्रिय हैं)।

वेलेस स्टीवेन्स वर्षों से अमरीका में कवियों के कवि के रूप में नामांकित हैं—अर्थात् वह कवि जो सबसे बढ़कर दूसरे कवियों की सराहना का पात्र है। यद्यपि उसकी व्यापक ख्याति उतनी बड़ी नहीं है—उदाहरणार्थ जितनी फ्रॉस्ट या इलियट की है। स्टीवेन्स एक विचित्र व्यक्ति हैं, अथवा हाल में अपनी मृत्यु के पूर्व थे—उतने ही विशुद्ध और तटस्थ कवि जितने हमें मिले हैं और साथ ही एक महत्त्वपूर्ण व्यापारी और वकील तथा

पर्याप्त विशाल हाईकोर्ट एक्सीडेण्ट एण्ड इण्डेमनिटी कम्पनी के उप सभापति भी। स्टीवेन्स अपने समृद्ध बिम्ब-विधान और संगीतात्मक लाम-सृष्टि के लिए विख्यात हैं, जिनमें वे रोमाण्टिक प्रेम और सौन्दर्य के स्वप्नों से क्रीड़ा करते हैं, जबकि साथ ही उनका व्यंग्यपूर्ण मस्तिष्क ठीक इन्हीं वस्तुओं का उपहास करता है। उनकी कविताएँ ऐसे जगत् की ऊब का पूरा उपयोग करती हैं जिसमें आध्यात्मिक सघन अनुभूतियों का मुख्यतः अभाव है। आपने परवर्ती कृतित्व में एक सुगम्भीर, दार्शनिक अभिरुचि विकसित की, और सत्य की समस्या से उलझते रहे। कौन-सा सत्य कलाकार को प्रेरित करता है और कला-सृष्टि का कारण है? वह भौतिक जगत् है, जिससे काव्य अपनी सामग्री संचय करता है अथवा वह स्वप्न-जगत् है, जिसे वह (कवि) जीवन की अपूर्णताओं के विरोध में देखता है? यह पार्थक्य, जो कला और जीवन के बीच में है, और इस पार्थक्य के कारण और सत्य की दार्शनिक समस्या—कौन-सा जगत् इनमें से अन्ततः यथार्थ है?—ये समस्याएँ उनकी सूक्ष्म विधानयुक्त दीप्त और सुसज्जित परवर्ती पद्य रचना की वस्तु निर्मित करती हैं।

रॉबिन्सन जेफर्स कमिंग्ज और स्टीवेन्स से उतने ही भिन्न हैं, जितने वे एक-दूसरे से हैं और १६२५ से उनकी पुस्तक 'रोन स्टेलियन' में प्रकाशित विशेष ढंग की लम्बी आख्यानक कविताओं का एक पाठक-वर्ग है। इस पुस्तक का सम्बन्ध एक स्त्री और एक अश्व से है। वे ऐसी विचित्र कथाओं के कवि हैं जिनमें फ्रॉयडीय विषय-वस्तु और प्रतीकों का एक प्रकार की आदिमता और विपुल दुर्धर्ष क्रियाशीलता का मिश्रण है। लगभग उसी वर्ष जेफर्स एक ऐसे स्थान में बस गए जो उनके लिए अच्छा प्रतीक बन गया है। एक भूरे पत्थरों का मकान, जो पैसिफिक के तट पर एक चट्टान पर बना हुआ है, जिसमें समुद्री शिलाओं से निर्मित तीस फुट ऊँची मीनार है, जिसके अन्दर स्वयं उनके द्वारा निर्मित स्टूडियो है। जेफर्स उसमें रहते और लिखते हैं; उन्होंने हमारी व्यापारिक, औद्योगिक सभ्यता को अस्वीकार कर दिया है तथा एकान्त की ओर उन्मुख हो गए हैं और आदिम वन्य प्रदेशों—अपनी ही सूझ के केलिफोर्नियन्स पर रचना की है। किन्तु ये मनुष्य और उनकी कहानियाँ अधिक प्रत्यक्ष रूप में सबसे अधिक खून-खराबी से भरी और भीषण ग्रीक करुण नाट्य-कृतियों से आविर्भूत प्रतीत होती हैं। अन्तर यही है कि वे आधुनिक अर्थात् फ्रॉयडीय मनोविज्ञान से रंजित हैं। जेफर्स मनुष्य को दूषित मानवता से स्वयं को स्वतन्त्र करने के लिए संघर्ष करते हुए समाज और ईश्वर (अर्थात् प्रेम के ईश्वर) को, किसी उद्धत प्रकृति देवता के लिए अस्वीकार करते हुए और एक ऐसी स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते हुए, चित्रित करते हैं जो विधान नैतिकता और साधारण जीवन की गंदगियों का अतिक्रमण करती है। उनकी कविताएँ एक कारुणिक आतंक और पतित्रत-भाव का लक्ष्य रखती हैं, जिसका मन्तव्य हमें कल्मष से स्वच्छ करना और सत्ता के ऊच्चतर धरातल पर हमारा उन्नयन करना है।

अब हम द्वितीय महायुद्ध तक की बीसवीं शताब्दी की अमरीकी कविता का अपनी योग्यता-भर वर्णन कर चुके; युद्ध के वर्षों में और उसके पश्चात् इतने अधिक उदीयमान तरुण कवि हुए हैं कि एक छोटे लेख के लिए उनमें से चुनाव की समस्या असंभव हो गई है। सर्वोत्तम जो मैं कर सकता हूँ वह दो तरुण कवियों को चुन लेना है, जो आजकल की गतिविधि का मुख्यतः प्रतिनिधित्व करते हैं; मैंने कार्लशेपिरो और अधुनातम नमूने के रूप

में रिचार्ड विल्बर को चुना है। मुझे बतलाया गया है कि श्री शेपिरो गतवर्ष भारत में उसी कार्य के लिए उपस्थित थे, जैसा मैं कर रहा हूँ (ऐसे ही एलनटेट भी उपस्थित थे, जिनका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ; उन्होंने अपना अधिकांश यश युद्ध के ठीक पूर्व के वर्षों में प्राप्त किया। मुझे लगता है कि उनकी विशेषता पद्य-रचना के परम्परागत रूपों में पर्याप्त गति के साथ लक्षणीय रूप में आधुनिक, अथवा अद्यतन, वस्तु और विश्व-दर्शन का योग करना है। वे ध्यान देने योग्य हैं, चाहे अपने युग के प्रवक्ता के रूप में ही सही, यद्यपि वे इससे अधिक हैं—एक कवि।

द्वितीय महायुद्ध के बाद से अमरीकी काव्य में अस्पष्टता से दूर और एक प्रकार के मार्दव और रीतिप्रियता की ओर जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। परोक्ष रूप से कदाचित् यह देश की समृद्धि और कठिन घरेलू समस्याओं के अभाव की सूचक है। इस धारा के वर्गप्रतिनिधि और (बिना किसी व्यंग्य और कटु उक्ति के) जिन्हें 'कोर्ट पोयट्स' कहा गया है, उनमें मेरी दृष्टि से सर्वोत्तम रिचार्ड विल्बर हैं, जो यद्यपि अभी भी एक नवयुवक हैं तथापि जिन्होंने तीन प्रौढ़ परिमार्जित लालित्य और चिन्तनशील पुस्तकें प्रकाशित की हैं और अपने पद्य के लिए अनेक पुरस्कार जीते हैं। मैं विशेषतः उनकी 'दि जगलर' कविता का उल्लेख करना चाहूँगा, केवल इसलिए कि उसमें रूप के प्रति आग्रह दिखाई देता है—केवल उसकी शैली में नहीं, किन्तु काव्य से एक भिन्न ही क्षेत्र में,—अर्थात् बाजीगरी में—रूप, लालित्य, परिष्कार के सौन्दर्य और व्यवस्था के प्रति उनकी खुली सराहना के लिए भी। और, जैसा कि वे प्रदर्शित करते हैं, यह एक सार्थक सराहना है, क्योंकि लेखक मात्र कन्दुक-क्रीड़ा, टेबिल के सन्तोल, झाड़ू और तश्तरी के खेलों में कुशलता की सराहना नहीं करता, किन्तु उसकी भी सराहना करता है जिसे यह विजय सूचित करती है; यह विजय केवल अव्यवस्था और गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के ऊपर विजय नहीं है। किन्तु उन शक्तियों पर भी विजय है जो हमें भावनात्मक और आध्यात्मिक रूप से पृथ्वी से बाँधे रखती है; यह 'सांसारिक भार' के ऊपर विजय है।

मुझे भय है कि निष्कर्ष के रूप में इस निबन्ध की समाप्ति मुझे लगभग उसी प्रकार करनी चाहिए, जैसा मैंने आरम्भ किया था—अर्थात् मुख्यतः उन्हीं निष्पत्तियों के साथ। अमरीका अपने लेखकों को, विशेषतः अपने कवियों को बहुत उदारता से पुरस्कृत नहीं करता। देश की आबादी को देखते हुए अधिकांश अमरीकी कवियों का पाठकवर्ग बहुत छोटा है, और यह एक आघात पहुँचाने वाली बात है कि उनमें से केवल बहुत थोड़े—अधिक-से-अधिक तीन या चार—कविता लिखकर जीवन-निर्वाह कर पाते हैं। किन्तु हजारों अमरीकी कविता लिखते हैं। यह मेरी अननुमोदित किन्तु सुविचारित राय है कि अमरीका में कविता लिखने वालों की संख्या उतनी ही है, जितनी उसे पढ़ने वालों की। अतः यह उलझन है कि यदि काव्य में देश की अभिरुचि का निर्णय हम काव्य के नकद मूल्य के—उसके लिए लोग जो दाम चुकाते हैं, उसके—आधार पर करते हैं तो जो काव्य को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उनके लिए बहुत हतोत्साह करने वाला निष्कर्ष निकलता है; और यदि हम कविता लिखने वालों की संख्या के आधार पर इस रुचि को परखते हैं, तो परिणाम हतोत्साह के ठीक विपरीत निकलता है। इसके अतिरिक्त यह निर्देश कर देना चाहिए कि

अमरीका यदि अपने कवियों को उदारता पूर्वक पुरस्कृत नहीं करता, तो वह उन्हें पर्याप्त परिमाण में स्वतन्त्रता का अधिकार अवश्य देता है; अमरीकी कवि अधिकतम असामाजिक स्थितियाँ ग्रहण कर सकते हैं और उनका निर्वाह भी कर सकते हैं; यदि वे अच्छे कवि हैं तो अन्ततः वे एक पाठक-समुदाय प्राप्त कर लेंगे, और ठेठ देशद्रोह को छोड़कर संभवतः उनके साथ कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा; वे जो भी सोचते हैं उसे स्वतन्त्रता पूर्वक व्यक्त कर सकते हैं।

किन्तु मेरे विचार से बीसवीं शताब्दी में अमरीकी काव्य की सफलता मुख्यतः सैद्धान्तिक नहीं, शैलीगत रही है। किसी भी अर्थ में विचारों का अभाव न रखते हुए भी हमारे कवि कुल मिलाकर उनको अभिव्यक्त करने की नई विधियों के प्रति उन्मुख रहे हैं, और मैं कहूँगा कि उनकी सबसे बड़ी सफलता शिल्प-सम्बन्धी क्षमता, और कुछ उदाहरणों में शिल्प-सम्बन्धी चमत्कार के क्षेत्र में रही है। हाल के वर्षों में अमरीकी साहित्य की ओर सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने का कार्य हमारे उपन्यासों ने किया है। किन्तु यह मेरा विश्वास है कि जैसे-जैसे विश्व हमारे कवियों से सुपरिचित होता जाता है, वह मेरे ही समान उस व्यंग्य का अनुभव करेगा जो इस तथ्य में सन्निहित है, कि यह महान् राष्ट्र जो अश्लील, भौतिकवादी और व्यापारिक के नाम से विख्यात है, इतने अधिक परिमाण में अच्छा काव्य उत्पन्न करने में समर्थ हुआ।



डॉ० अमरेश दत्त[1]

आधुनिक अंग्रेजी कविता : एक मूल्यांकन

श्री आर्थर कोयस्लर ने हाल में सृजनशील लेखक का एक तनी हुई रस्सी पर चलने वाले नट के रूप में उल्लेख किया है। उनका मतलब कदाचित् वर्तमानकालीन लेखकों से है। यह तनी हुई रस्सी वास्तविकता के दो स्तरों के मिलन-बिन्दु के ऊपर फैली हुई है, जो स्तर उनके अनुसार गम्भीर या विश्वात्मक और लघु संज्ञक हैं। सृजनशील लेखक को एक ओर पलायनवाद की ओर दूसरी ओर प्रचारवाद की ओर ले जाने वाले दो अतल-स्पर्शी गह्वरों के बीच इस संकीर्ण-पथ पर चलते हुए अपने अस्थिर शरीर को संतुलित करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में जो भी विपत्ति हो, इस मत के अनुसार लेखक को एक अवदमित उत्तेजना की स्थिति में काम करना पड़ता है और श्री कोयस्लर का यह विश्लेषण एक यूरोपीय लेखक के दृष्टिकोण से मूलतः यथार्थ है। यूरोप में हर एक क्षेत्र में प्रगति इस अवेदमित उत्तेजना की स्थिति के माध्यम से ही उपलब्ध हुई है और यूरोपीय मानस का द्वन्द्व कभी भी परम सत्य की स्वीकृति से सुलझाया नहीं गया। यही कारण है कि खोज के अशान्त उद्यम को निष्प्राण लक्ष्य की निश्चलता से अधिक सराहनीय माना गया। वस्तुतः

१. अनुवादक—विश्वनाथ भट्टाचार्य

यथार्थ यूरोपीय की यह चिन्ता-शैली इन द्वन्द्वों से कभी जटिलतर हुई और कभी समृद्धतर। उनका निरन्तर यही प्रयास रहा कि या तो इन विरोधों को बुद्धि के स्तर पर ले जाकर तत्त्व या उपलब्धि में परिणत करना अथवा विचित्र अनुभवों के आधार पर इनको भाव-सत्ता देना। रेनेसाँ के काल से यीशु खीष्ट में मनुष्य तथा देवता के भाव-समन्वय पर उनके महत्त्व के आरोप, और ऐतिहासिक चिन्तन के चक्राकार तथा समरेख—इन दो गतियों की युगपत् स्वीकृति ने जीवन तथा कला के उभय क्षेत्र में आशा-निराशा के आलोक-अन्धकार के विशाल तथा जटिल रूप उत्पन्न कर दिए। इसीलिए जिसे हम 'परिवर्तन काल' कहा करते हैं, उसकी खोज यूरोपीय जीवन तथा कला के इतिहास में करना भूल होगी; क्योंकि उनकी खोज में सदा ही एक-न-एक मूलतः परिवर्तनधर्मी या अस्थायी वस्तु रही है। सुतरां मैं मानता हूँ कि आधुनिक काव्य को परिवर्तनशील या परीक्षामूलक मानकर उपेक्षा करना मुश्किल है। साहित्य के क्षेत्र में नये परीक्षण किसी एक धारावाही लेखक-गोष्ठी को बृहत्तर क्षेत्र तथा उद्यम दे सकते हैं। लेकिन साथ ही ये इनके विरुद्ध कठोर प्रतिक्रिया तथा विरोध-भावना को भी उत्पन्न कर सकते हैं। कविता विश्वास-परीक्षण के सामर्थ्य पर अवलम्बित नहीं हो सकती; क्योंकि वह प्रायः स्वयंसिद्ध होती है। उसका अवलम्बन तो कविता की अपनी सामर्थ्य ही है। शेक्सपियर को मारलोव से सहायता तो मिली, पर शेक्सपियर ने सर्वदा मारलोव के अमित्राक्षर वृत्त के या उनके विश्व-दर्शन के मार्ग पर चलना पसन्द नहीं किया। अष्टादश शतक के अंग्रेजी साहित्य में रेनेसाँ काल की प्रतिक्रिया दिखाई देती है तथा उन्नीसवें शतक का साहित्य फिर अष्टादश शतक के विरोधी के रूप में आता है। वर्तमान काल की कविता, सुतरां मेरे अनुभव में, अपने ही बल पर खड़ी है या उसीके अभाव से गिरी है। इसका मूल्यांकन सर्वथा उचित है तथा इसको प्रयोगशील या उन्मार्गगामी या सारहीन कहकर इसके महत्त्व की उपेक्षा करना वस्तुतः साहित्य के इतिहास से कविता के रूप तथा चिन्ता के लिए किये गए आलस्यहीन अनुसन्धान के एक युग को ही मिटा देना होगा।

किसी युग की कविता के विशेष लक्षणों का विचार सम्भवतः निष्फल है, अतः आन्दोलनों का विचार करना ही लाभदायक होता है। पर जहाँ तक आधुनिक कविता का सम्बन्ध है ऐसा विचार प्रधानतः इन आन्दोलनों के विचार में परिणत हो जायगा; क्योंकि कई प्रवृत्तियों के मूल में एक से अधिक काव्येतर सिद्धान्त हैं। इसके उपरान्त चूँकि ये प्रवृत्तियाँ विशेष-विशेष कवियों में ही मूर्त्त हुई अतः वाद-विवाद के उथल-पुथल तथा मत-संघर्ष का परिहार करके इन प्रतिभूस्थानीय कवि तथा उनकी कविता पर ध्यान देना ही अधिकतर लाभदायी सिद्ध होगा। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि पाश्चात्य मन के स्वरूप-लक्षण के रूप में जो अवदमित उत्तेजना है उसका प्रकाश अपने युग की अंग्रेजी कविता में स्पष्टतर है। दूसरी सामाजिक स्थितियों की पृष्ठभूमि वाले अन्य युगों में वह उत्तेजना का भाव कभी तो दबा हुआ था और कभी उस युग के सरल तथा निर्द्वन्द्व और शान्त जीवन-दर्शन को विचलित करने में असमर्थ रहा। विंश शतक के प्रारम्भ से ही सामाजिक स्थितियाँ अत्यन्त द्रुत गति से बदलने लगीं और सारी विश्व-व्यवस्था को हिलाती हुई इस अवदमित उत्तेजना की भावना को मानव की सामूहिक चेतना में बलात् प्रविष्ट

करा दी गई। सामाजिक स्थितियों का साहित्य पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव है या नहीं, यह प्रश्न विवादास्पद है। किन्तु यह निश्चित है कि वे जीवन के प्रति सामान्य दृष्टि-बिन्दु को विशेषित तथा संगठित करने की ओर उसे तीक्ष्ण या स्थूल बनाने की ओर प्रवृत्त होती हैं। अपने अनुभवों के विषय में जागरूक तथा सत्यनिष्ठ होने के कारण कवियों के लिए इस नवीन चेतना को दबाकर या संशोधित करके किसी अनुपलभ्य अतीत की माया में फँसा रहना सम्भव नहीं होता। सुतरां इस नवीन जगत् की प्रकृति को जानना आवश्यक हो जाता है—जिस जगत् में तथा जिसके बारे में नवीन कविता लिखी जा रही है।

पुराने जगत् की काव्य-भावना की अधोगति और पतन तथा नवीन काव्य-भावना के समुत्थान के क्रम का अनुसरण करने के लिए प्राचीनतर एक युग से विचार प्रारम्भ करना उचित होगा। सम्पूर्ण उनविंश शतक आघात का परिपाक कर लेने की आश्चर्य-शक्ति के कारण विशिष्ट है। बहुत-सी युगान्तरकारी घटनाएँ तथा वर्तमान काल की बहुत सी समस्याओं के मूल उसी शतक में या उसके आस-पास के ही हैं। लेकिन भीतिप्रद तरंगों की भाँति प्रतिष्ठित विश्वास के महासमुद्र में फिर से विलीन होने के ही लिए उनका उत्थान हुआ। वाणिज्य-क्रान्ति अमरीकी स्वतन्त्रता-संग्राम, फ्रांसीसी क्रान्ति, डारविनवाद, उमर खय्याम और नियतिवाद ये सब उस युग के लिए अविश्वास के अस्थिर वायु-प्रवाह थे, क्योंकि यह प्रवाह उसको अपनी दृढ़भूमि से विचलित नहीं कर सके। 'मनुष्य की नियति' तथा 'अन्धेरी रात की नगरी' के होते हुए भी इस युग ने मनुष्यों के प्रति ईश्वर के विधानों का समर्थन करने में सफलता पाई। इस युग में अपने कुछ विक्षुब्ध मनुष्य थे, जो कि दिगन्त पर प्रकाशमान विपत्ति की अशुभ सूचनाओं को देखकर उत्तेजित हो उठे और जिन्होंने नई समस्याओं के प्रति अपनी जागरूकता को भी प्रकट किया। फिर भी इनके प्रत्यय सुदृढ़ तथा समाधान समीप थे। उन्होंने कविता के माध्यम से मानवतावाद का प्रचार किया। न्यायमार्गी उत्साह से स्वतन्त्रता की चर्चा की, पराश्रितों के विषय में तीक्ष्ण व्यंगात्मक लेख लिखे, प्रकृति का आश्रय खोजा, पृथ्वी पर स्वर्ग का स्वप्न देखा और शांति से निरुद्विग्न जीवन बिताया। शतक के अन्तिम भाग में कार्लाइल, रस्किन और आर्नल्ड-जैसे शिक्षा-गुरु और उपदेष्टा हो उठे और समाज में धर्मवीर के समान चलना प्रारम्भ किया। समाज की व्याधि का जो विश्लेषण उन्होंने किया वह तीक्ष्ण तथा यथातथ्य तो था, पर उनके द्वारा विहित प्रतिविधानों के कारण व्याधि ही सरल तथा अनायास सुलझने वाली मालूम पड़ने लगी। कार्लाइल ने कर्म और ईश्वर की, रस्किन ने कला की, और आर्नल्ड ने सर्वरोगहर के रूप में संस्कृति की वाणी सुनाई और मालूम पड़ा कि इनके विधानों को अगर लोग मान लें तथा पालन करें तो फिर सब कुछ-ठीक हो जाय। इस सरलीकरण के कारण को खोजने के लिए दूर तक जाना जरूरी नहीं है। उसमें किसी भी प्रकार का आदर्श संघात या भावद्वन्द्व नहीं था और यद्यपि साम्य और स्वतन्त्रता के जटिल सिद्धान्त कभी-कभी छोटे पैमाने पर चहल-पहल मचा देते थे, फिर भी देश में सुदृढ़ निरापत्ति थी। युद्ध को तब भी भाव-रूप दिया जा सकता था, क्योंकि वैलिंगटन तथा नेलसन की विजय ने जाति-गौरव की भावना को तृप्त कर रखा था। साथ ही विश्व में इंगलैण्ड की राजनीतिक मर्यादा द्रुत गति से बढ़ रही थी और देश विशालतम औपनिवेशिक साम्राज्य के संगठन

के मार्ग पर आगे बढ़ रहा था। शतक के अन्तिम भाग में जब महारानी विक्टोरिया सम्पूर्ण उपनिवेशों की साम्राज्ञी बनी, तब सचमुच ब्रिटिश साम्राज्य में कहीं भी सूर्यास्त नहीं होता था। विज्ञान तब भी अपनी विजय-यात्रा के ही मार्ग पर गतिशील था। कभी-कभी विज्ञान अवश्य ही नापसन्द वस्तुओं को प्रकाशित कर देता था, पर ये सामाजिक जीवन की गतानुगतिक धारा को बदलने के लिए पर्याप्त शक्ति नहीं रखते थे। लोग वास्तविक जीवन के सुख तथा प्रगति के प्रति विज्ञान की देन को सोचते हुए प्रसन्न थे और तब तक विज्ञान के क्षेत्र में संकट की स्थिति नहीं आई थी और न ही ज्ञान की चर्चा में दत्तचित्त लोगों के सामने निरर्थकता की भयावह चिन्ता ही उत्पन्न हुई थी। टेनीसन के लिए तब भी निश्चिन्तता के साथ सृष्टि-प्रपंच के केन्द्र में विराजमान उस दिव्य घटना की स्तुति करना सम्भव था और कवि के उच्चासन से यह प्रचार करना भी :

अधिक से अधिकतर होता ज्ञान चले।
श्रद्धा के भाव हमें और भी अधिक मिले॥

लेकिन शतक के परिवर्तन के साथ ही विश्व का एक नवीन रूप उन्मोचित हो गया। ब्रिटिश राज-शक्ति की महत्ता को चुनौती-सी मिली; क्योंकि जर्मनी भी विश्व-साम्राज्य का स्वप्न देखने तथा उसकी तैयारियाँ करने लगा। नवीन तथा शक्तिमान वस्तु-धर्मी जीवन-दर्शन के रूप में मार्क्सवाद प्रचलित हुआ। नैतिकता की रूढ़ियों पर फ्रॉयड की अवचेतना के सिद्धान्त ने कड़ी चोट पहुँचाई और इसीके बाद आया प्रथम विश्व-युद्ध। लेकिन मनोनिरीक्षण का प्रारम्भ तो युद्ध का अवसान होने के बाद ही हुआ। अब युद्ध वस्तुतः नारकीय विभीषिका माना जाने लगा। इसने किसी भी पक्ष को निश्चित विजय नहीं दी और सभी को जीवन, धन तथा नीति की दृष्टि से दुर्बल बना दिया। अब तक जो युद्ध का समर्थन करते आए, उन्हें युद्धोन्माद से पीड़ित घोषित किया गया और कुछ लोगों ने तो सचमुच अवचेतन मन में इस व्याधि की जड़ खोजना प्रारम्भ किया। लाखों की संख्या में निरपराधों की मृत्यु सम्पूर्णतया असंगत प्रतीत होने लगी और इसके पीछे किसी भी प्रकार के आदर्श का होना असम्भव माना गया। दूसरे महायुद्ध के समय इस प्रतिक्रिया का एक कठोर प्रकाश हुआ। सी० डे० लेविस ने उस समय कहा कि जो कवि न्याय के स्वप्न देखते हुए जीते हैं उनके लिए सिवाय अधिक अन्याय से अन्याय के समर्थन को छोड़कर और कुछ करने को नहीं है। दूसरों ने युद्ध के कारण के रूप में समाज की शिथिल तथा असम अर्थनीतिक स्थिति का वर्णन किया। उन्होंने मार्क्स के रोग-निदान को यथार्थ मानकर उनके कहे गए प्रतिषेधकों को स्वीकृति दी। इसी ढंग से बहुकाल से चली आने वाली वीरता, प्रेम, धर्म, नैतिकता आदि की उपलब्धियाँ नये दृष्टिकोण से या तो मार्क्सवाद ने या फ्रॉयडीय मनःसमीक्षण ने समझी तथा व्याख्यात होने लगीं। साथ ही हमारे सामाजिक आदर्शों का छद्म रूप तथा अन्तःसार शून्यता उनकी आँखों में छिपी न रह गई। ऐसे भी कुछ हुए जिनकी दृष्टि में फ्रॉयडीय मनःसमीक्षण तथा मार्क्सीय द्वन्द्ववाद के प्रभाव से जीवन और भी जटिल बन रहा था। यह एक विलीयमान नैतिक मानों का युग था और पुरानी व्यवस्था ने प्राचीन रक्तहीन क्रांति के ढंग पर नई व्यवस्था के आगे आत्म-समर्पण नहीं किया। शतक के तृतीय दशक में आडेन ने मार्क्स और फ्रॉयड के सिद्धान्तों का तरलीकृत मिश्रण किया और स्पेण्डर

ने सोचा कि मार्क्स और फ्रॉयड का परिणय कल्याणकार होगा।

इस प्रकार जार्जीया इंग्लैण्ड का शान्त तथा ग्राम्य साहित्यिक वातावरण एकाएक अप्रिय खंडहरों के एक क्षेत्र में परिणत हो गया और विंश तथा त्रिंश दशक के काव्यों ने नये मानों के निराकार स्तूप से इस क्षीयमाण संस्कृति को ही भाव-व्याकुल प्रकाश देना कहीं अधिक काम्य समझा। इसमें संशय तथा हताशा की मानभूमि तथा अंधकार में निराशा का तैलदर्शन स्वाभाविक था। युग के सैनिक कवियों ने अपने क्षोभ तथा आशा-भंग को उच्चारित किया। वामपंथियों ने प्राणहीन धनिक समाज तथा धन की निन्दा करते हुए ऊँचे स्वर में सामान्य जनता के अधिकार की घोषणा की तथा उनके दुःख और उत्कांक्षा को मूर्त्त किया। अन्तर्मुख तथा दार्शनिक कवियों ने जगत् को सूखे पत्थरों से भरी हुई जल-बिन्दु-हीन एक वन्ध्यभूमि के रूप में देखा है। इसी बीच विज्ञान ने भी इस चित्र को और जटिल बना दिया। इसके सैद्धान्तिक पक्ष ने वस्तु की धारणा को पूर्णतया मिटा दिया और इस प्रकार नये ज्ञान की खोज में अनिश्चितता की भूल-भुलैयाँ में प्रवेश किया। इसके स्थान और काल में परिमाण तथा उनके सम्बन्ध का आविष्कार किया व नित्य विस्तीर्यमाण किन्तु ससीम एवं कल्पना की सीमा से परे विशाल विश्व-ब्रह्मांड की तुलना में मनुष्य और उसके जगत् की तुच्छता को प्रकट किया तथा इस जगत् की उत्पत्ति की आकस्मिकता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उसके आकस्मिक विनाश की सम्भावना पर ज़ोर दिया।

अपक्षियमाण दिगन्त वाले मानस-लोक में रहने वाले कवियों के लिए अपने विशेष दृष्टिकोणों को प्राप्त करने में समय लेना स्वाभाविक ही था। लेकिन एक विषय में वे सब एकमत थे। सभी ने अनुभव किया कि इस घबराहट पैदा करने वाले विस्मय और आत्मा तक कँपा देने वाली वेदना के नये अनुभवों का यथातथ्य काव्यिक प्रकाश देने के लिए उन्हें नई शब्द-राशि की, नई शैली की और साथ ही अधिक स्वच्छन्दता की आवश्यकता है। विज्ञान और मनोविज्ञान बहुत-से नये शब्दों की आमदनी की ओर सतता तथा आन्तरिकता के कारण इन कवियों को साहित्य-रचना की बहुत-सी रूढ़ियों का लंघन करने को बाध्य होना पड़ा। वस्तुतः आधुनिक कवियों के विरुद्ध दूसरे चाहे जो भी अभियोग लगाये जाएँ, उनकी आन्तरिकता और अनुभव के सत्य की उनकी आन्तरिक खोज के बारे में शायद ही कोई संशय हो। उन्होंने कभी-कभी परम्परागत प्राप्त सौंदर्य की धारणा को ठुकरा दिया और इस विज्ञान-प्रधान युग में सत्य के प्रति ही अधिक उत्साह अपनाया। पर फिर भी इस प्रक्रिया में एक नये ढंग की सौंदर्य की सृष्टि करने में सफलता पाई। यह सौंदर्य, हो सकता है, कि कभी-कभी भयावह मालूम पड़ता हो; पर यह भी मानना पड़ेगा कि जीवन की नई पृष्ठभूमि में केवल यही सौंदर्य देखा जा सकता था।

धीरे-धीरे इन कवियों ने अपने-अपने विशेष मतों को गढ़ लिया और उनमें प्रतिष्ठित हुए। टी० एस० इलियट ने इन शब्दों में अपने मत को प्रकाशित किया। हमारी सभ्यता ने असंख्य वैचित्र्यों तथा जटिलताओं को अपने में समो लिया और ये वैचित्र्य तथा जटिलताएँ किसी भी सुसंस्कृत अनुभव को प्रभावित करती हुई अवश्य ही विचित्र तथा जटिल परिणामों को उत्पन्न करेंगी। भाषा को, उनके चाव को प्रकाशित करने में बाधा करने के लिए तथा जरूरत पड़ने पर उसकी शृंखला को तोड़ने के लिए कवि को और भी अधिक अनुभवी

कुशल और भी व्यञ्जनाश्रयी होना पड़ेगा। दूसरी ओर जिन कवियों ने अपनी समस्याओं को सुलझाने में सफलता पाई और अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया, उसमें इस दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया दिखाई पड़ी। स्पेण्डर, मेकनीस और दूसरी (न्यू सिगनेचर) गोष्ठी के कवियों ने जन-काव्य का समर्थन किया और कवियों के जगत् का सबल तथा स्वाभाविक नागरिक होना है, ऐसी आशा प्रकट की। स्टीफेन स्पेण्डर की भाषा में : "अपनी कविता के लिए यन्त्र, व्यक्ति तथा परिपार्श्विक सामाजिक स्थिति से रूपकल्प चुनते हुए उन कवियों ने आधुनिक होने के लिए सज्ञान प्रयास किये। उनकी कविताओं में समाज के ऊपर जोर था और चूँकि सामाजिक व्याधि की भावना से कविता पीड़ित थी अतएव मनोविद्या और वामपंथी राजनीति से इस व्याधि की सामाजिक पैमाने पर दवा खोजी गई। और भी कवि थे जिनके मन में सामाजिक तथा दार्शनिक मसाले नहीं थे। वे शब्द और प्रतीक का अवलम्बन करके कविता लिखते गए। यहाँ पर यह लक्षणीय है कि रूप-कल्प की धारणा तथा प्रतीकवाद ने, काव्य-रचना की शैली के रूप में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की कविता के ऊपर भिन्न-भिन्न मात्रा में परस्पर पृथक् उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपना प्रभाव फैलाया।

सेक्वरैल, ऐडिथ, सिवैल, उडन, डायलन, थामस आदि तथा डी० एच० लारेन्स भी उन कवियों में से हैं, जिनमें सभी श्रेणी की विशेषताएँ आंशिक रूप में मौजूद हैं, पर जिनको किसी भी विशेष गोष्ठी के बन्धन में नहीं रखा जा सकता। मेटा फिजीकल कवियों के संशयवाद, अनुभवों के अचिन्तत्त्व और कविता में उनके निःसंकोच शब्द-व्यवहार को देखकर इलियट उनकी ओर आकृष्ट हुए। द्वितीय दल के कवियों ने वाल्ट विटमेन की कविताओं में उदारता और शक्ति देखी तथा एक विशेष प्रकार का छन्द, जिसे अपने लाभ के लिए अनुकरण करना सम्भव मालूम पड़ा। विशुद्ध रूपकल्पवादी तथा प्रतीकवादी कवि दायित्व न मानने के कारण अब तक संख्या में कम हो आए और एडगर, ऐलन, पोइ, हल्मी, मलारमी तथा पाउण्ड को देखने लगे, फिर भी यह कहना यथार्थ होगा कि प्रत्येक कवि ने अपनी स्वाभाविक प्रवणता का अनुसरण किया, विभिन्न क्षेत्रों से संगृहीत तत्त्वों पर अपनी शैली और छन्द का आविष्कार किया और अपनी विशेषताओं का डटकर प्रकाश किया और अगर इनमें से कुछ कविता के उस रसास्वाद को देने में असमर्थ निकले तो खयाल रखना होगा कि इसका कारण उनकी बोध-शक्ति या शैली की कमी नहीं, किन्तु यह कि उसमें प्रतिभा नहीं थी। हर एक युग के अपने-अपने कवि तथा अकवि होते हैं।

जो सोचते हैं कि जीवन के प्रति आधुनिक कविता का दृष्टिकोण सार्थक है उनका भ्रम प्रमाणों के आधार पर दिखाया जा सकता है। क्योंकि दो महायुद्धों के बीच के २५ वर्षों में कवियों ने केवल आदर्शों को तोड़ने में और नये मानों को खोजने में ही शक्ति का प्रयोग नहीं किया; बल्कि उनमें से कुछ कवियों ने तो अपने दृढ़ दार्शनिक भूमि को प्राप्त भी कर लिया। टी० एस० इलियट ने अपने विश्वास को फिर से प्राप्त किया और धर्म के तत्त्व में पथ ढूँढ़ पाया। सी० डे० लेविस अपने 'मेजिक माउण्टेन' में पहुँचे, डायलम थामस गाते हुए मृत्यु की राह पर चल दिये। श्री स्पेण्डर ने सांस्कृतिक मुक्ति के मरुद्यान की ओर यात्रा प्रारम्भ की और जिन्होंने सोचा कि उनके पास हाथ लगने योग्य या उपहार देने योग्य विषय का अभाव है, अतः लिखना बन्द कर दिया और कविता की अध्यापना या समालोचना

लिखना प्रारम्भ किया और इसीके बीच में द्वितीय विश्व-युद्ध आया। सब-कुछ फिर से गड़बड़ाया और इस बार पहले से कहीं अधिक। पुराने महारथियों ने फिर से नई समस्याओं की उलझन में पड़ना पसन्द नहीं किया। इन नई समस्याओं को प्रथम विश्व-युद्ध के द्वारा उठाई गई पुरानी समस्याओं के ही तीव्रतर रूपान्तर या संक्षोभ समझ लिया। इतना निश्चित है कि उनको लगा कि शायद उनके पास कहने के लिए नवीन कुछ भी नहीं था। जब उन्होंने कहा था तब कहना समाप्त हुआ और अब तक उनके मत रूपायित तथा सुदृढ़ बन चुके थे। कम्युनिज़्म की रूसी परीक्षा ने बहुत-सी मार्क्सीय उद्दीपनाओं को भ्रान्त प्रमाणित किया और अब तक मनोविज्ञान ने भी नवोढ़ा की मोहकता खो दी थी। सुतरां वर्तमान काल में कविता के क्षेत्र में एक अनुर्वरता-सी दिखाई पड़ती है। 'न ययौ न तस्थौ' की-सी स्थिति है। मेरा अपना अनुभव ऐसा है कि अभी तक आधुनिक चित्त-वृत्ति या उपलब्धियाँ अंग्रेजी साहित्य में उतना पूर्ण रूप प्राप्त नहीं कर पाईं जैसा कि रोमाण्टिक चित्त-वृत्ति ने किया था।

मेरा विश्वास है कि आधुनिक कविता का यह संक्षिप्त सिंहावलोकन यह स्पष्टतः दिखाने में समर्थ होगा कि कई सालों की छोटी परिधि में कविता को कैसे एक प्रकार की क्रान्ति के भीतर से गुज़रना पड़ा और किस प्रकार उसने फिर से एक रूप तथा आकार, जिससे प्राचीन ढंग की कविताओं का कुछ भी सादृश्य नहीं है, प्राप्त किया। आधुनिक कविता के विशेष लक्षण के रूप में जो तत्त्व आए वे मेरे अनुभव में अवश्यम्भावी थे। सुतरां न तो इस कविता की अप्रत्याशित नवीनता को लेकर पछतावा करने में कुछ तत्त्व है, न प्रतिष्ठित सिद्धान्तों के आधार पर इसकी परीक्षा करने में ही कोई सार है। प्रत्येक युग में अपने विशेष कलारूप ही केवल नहीं होते, ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रत्येक युग जीवन की कुछ चुनी हुई दिशाओं के प्रति ही सामान्यतः सचेतन रहता है। हमारा युग इन सभी दिशाओं के समूह से, एकत्रीकरण से परिचित है; फिर भी उसे यह अनुभव भी है कि कला के लिए इनको छाँटकर तथा चुनकर केवल दो-चार को लेना ही सम्भव नहीं है। क्योंकि किसी भी मनुष्य का सम्पूर्णतया अपने परिवेश के प्रभाव से मुक्त मानस आत्म-क्रान्ति जीवन होना सम्भव नहीं है और अगर उसको पूर्णतया लिया जाय, तो वह एक ही साथ महान् तथा हास्यकर, राजनीतिक तथा धार्मिक, आध्यात्मिक तथा जड़वादी दीखेगा। पहले से अधिक गहराई से मानव की अनुभूतियों के स्वरूप तथा सार को समझने के लिए काव्य-वस्तु की पुरानी धारणा को, काव्य-सम्बन्धी धारणा को या काव्य-शब्दों की धारणा को भूल जाना ही श्रेयस्कर होगा।

कुछ उदाहरण सम्भव है कि इस अवश्यम्भावी विकास को अधिक सरलता से समझाने में सफल होंगे। हम एक जनप्रिय विषय और अनुभव को ले रहे हैं—प्रेम के अनुभव को—और देखना चाहेंगे कि भिन्न-भिन्न कवियों के इस विषय में दृष्टिकोण क्या थे। पूर्ण मात्रा में रोमाण्टिक 'शैली' का उदाहरण है :

Rose leaves when the rose is dead
Are heal'd for the beloved's bed
And so thy thoughts when thou art gone,
Love itself shall slumber on.

ब्राउनिंग ने इस प्रेम-कामना की तीव्रता के सम्पादन में अधिक सफलता प्राप्त की :

Only I discern
The infinite pain and passion
Of the finite hearts that yearn

अन्तिम रोमांटिक कवि डब्ल्यू० बी० यीट, जिनकी फिर से उस पक्षिराज पर चढ़ने की इच्छा थी, समन्वय के अपने सारे उत्साह से, ऐसा लगता है, एक नवीन स्वर सुनाने को बाध्य हुए :

We sat grown quiet at the name of love,
We saw the last embers of day light die,
And in the trimbling blue-green sky
A moon, worn as if it has been a shell...

टी० एस० इलियट के लिए प्रेम विश्वानुभूति का ही क्षुद्र रूप हो उठता है :

Do I dare
Disturb universe
In a minute there is time
For decisions and revision
Which a minute will reverse.

और मेकनीस इस अनिश्चयता तथा अन्तिम हताशा की भावना को और भी तीक्ष्ण तथा कटु बनाते हैं :

So they were married—to be more together—
And found that they were never again so much together

कविता के ये निदर्शन, मेरे अनुभव में, एक तरफ अभिज्ञता के छन्द की क्रमशः वर्धमान जटिलता और दूसरी तरफ जीवन तथा हताशा के प्रति अनुभव की क्रमिक गम्भीरता के सूचक हैं। दूसरा कोई भी युग अतलस्पर्श गह्वर के इतना पास खड़ा नहीं हुआ; न ही एकदम किनारे पर खड़े होने का इतनी गहराई से अनुभव ही किया। सचेतनता, आधुनिक मनुष्य के लिए, विज्ञान, कवि की आत्मा को सन्तोष देने में समर्थ नहीं है और धर्म भी उसकी बुद्धि को पूरा-पूरा जँचता नहीं। इसके लिए राजनीतिक शक्ति बर्बरोचित है, पर अगर उसका देश इस राजनीतिक शक्ति को प्राप्त न करे तो उसका जीवन पूर्ण नहीं हो सकता। वह जानता है कि जड़वादी उन्नति अन्त तक एक आत्मिक शून्यता को ही लाती है, पर फिर भी उसकी शक्ति जुटाने और खर्च करने में बिखरी हुई है। भीड़ में वह अपने को सम्पूर्णतया निःसंग पाता है, पर जीने के लिए उसको सर्वदा समाज का ख़याल रखकर ही सोचना पड़ता है। एक या दूसरे रूप में तथा ऐसी ही दूसरी समस्याएँ अन्य युगों में भी अवश्य थीं, पर उनके बारे में या तो उनकी सचेतनता नहीं थी या वह सचेतनता इतनी तीक्ष्ण तथा मुख्य नहीं हो पाई थी। इस प्रकार की स्थिति में कविता लिखना एक सामान्य पेशा या कला-चर्चा-मात्र नहीं रहा। आधुनिक कवि बड़े ही जाग्रत तथा अपने काम-काज में बहुत ही तत्पर हैं। उसने अलंकार तथा शैली का परिहार किया; क्योंकि वह मन बहलाने या आनन्द देने को अपना काम नहीं सोचता। वह सत्य और सुख और अपनी मुक्ति तक की खोज करता है; क्योंकि न तो वह जिस जाल में फँस गया है, उससे भाग ही सकता है; और न अपने वर्तमान को किसी

राजनीतिक व्यवस्था के हाथ सौंप सकता है; न अपने भविष्य को किसी राष्ट्र-धर्म के हाथ छोड़ सकता है। जिस स्थिति में वह है वहाँ उसके लिए अन्तर्मुख तथा व्यक्तिवादी होना अवश्यम्भावी है; पर समान परिस्थिति के कारण उसकी कविता भी सार्वजनीन बन सकेगी; उस हद तक कम-से-कम जहाँ तक खोज, व्यर्थता तथा सन्तोष में वह व्यक्तिवादी है। दीर्घ यात्रा के बाद वह शायद टी० एस० इलियट की तरह कैथलिक धर्म में या रिलके की तरह वस्तु के दैवीकरण में अपना स्वर्ग प्राप्त करे। लेकिन विशेष गुरुत्व तो इसका है कि इस स्वर्ग को स्वयं उसे ही खोज पाना है।

फिर भी कविता का विचार कविता के ही नियमों तथा कला के सिद्धान्तों से ही होना चाहिए। अन्तिम निर्णय करते समय हम प्रधानतः कवि की धारणाओं या उद्देश्यों को मुख्यता नहीं देंगे, बल्कि उनकी कृति की रूपकता तथा आंगिक एकता को देखेंगे। चाहे वह कविता को भाव के वाहन मानते हों या प्रायोगिक मूल्य के परे स्वयं सम्पूर्ण मानवता हो; उसको अपनी कला के विशेष नियमों को मानकर ही कविता का रूप देना पड़ता है और आधुनिक कविता की सामान्य आलोचना उसकी तथाकथित कलाहीनता और आंगिक सौंदर्य के अभाव पर ही अवलम्बित है। आधुनिक कविता व्यञ्जना से समृद्ध है और रूपक-की दृष्टि से विचित्र तथा मौलिक है। कवि ने समकालीन जीवन के सभी स्तरों से तथा मन की अवचेतना से अपने रूप-कल्पों को इकट्ठा किया और उल्लेख के विशिष्ट प्रयोग के द्वारा निजी अनुभूतियों को सार्थक भिन्नता तथा विस्मृति दी, जो सर्वथा उसकी अपनी है। उसने कभी-कभी संकेतों की अत्यधिक शब्द-निर्भरता तथा स्थायी भावों की गतानुगतिकता के कारण स्थूल हो जाने वाले अपने माध्यम को आश्रयणीय नहीं पाया। इसलिए उसको अपने ढंग से तीक्ष्ण करने तथा नये रूप देने का काम उसको लेना पड़ा। इसके व्यवहार में सर्वदा उसकी चेष्टा अपने अर्थ के अन्त.स्तल तक जाने की रही। फिर उसके प्रतीक के, कभी-कभी भ्रान्त तथा रहस्यमय होने पर भी, वह प्रायः विशिष्ट तथा गम्भीर है। और जैसा कि हम जानते हैं, आंगिक सौष्ठव उस विशेष कृति का ही वैशिष्ट्य होता है तथा उसके साथ कला के प्रतिष्ठित सिद्धान्तों का कुछ सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः आधुनिक कविता में सबसे अधिक ऐतिह्य विरोधी इसके मुक्तक छन्द (Verse Libera) का बहुत प्रयोग है। लेकिन मुक्तक छन्द से आशय स्वेच्छाचार और विशृंखलता समझना ठीक नहीं है। जैसा कि सर हरबर्ट रीड ने कहा है : "**स्वतन्त्रता तथा दायित्वहीनता खोजने के बजाय (अभागा मुक्त छन्द) एक और भी कठोर नियम-शृंखला खोजता है—जो शृंखला चिन्ता तथा भाव के यथार्थ सामंजस्य की है, निष्ठा की है।**" आधुनिक कविता में गद्य-छन्द का आविष्कार उतना ही क्रान्तिकारी है जितना कि अवचेतन मन का आविष्कार। आधुनिक कवि पुराने काव्य-रूप को अस्पृश्य नहीं मानता और फिर भी अपनी तरंगायमाण चिन्ता तथा सरलीकृत आनन्द और दीप्ति-मान हताशा के रूप में उसके भावात्मक प्रतिरूप के विशिष्ट संगीत रचने में उसने उसे त्याग दिया। दूसरे शब्दों में उसने सर्वमान्य काव्य-रूप के यथेच्छाचार को इसी लिए त्याग दिया कि वह कला-सम्बन्धी अपने कठोर अनुभव के प्रति सत्यनिष्ठ रह सके।

साहित्य के शास्त्रीय समालोचकों के लिए आधुनिक कविता रुढ़िहीन, अस्वस्तिकर तथा विस्वाद मालूम पड़ सकती है। क्रोध, कटुता तथा हताशा से इसका मुख्य सम्बन्ध है,

जो जीवन के लिए निराशावादी और असहनीय लग सकता है, इसकी अन्तर्मुख ऊँचाई या गहराई कविता के सामान्य पाठक को विभ्रान्त कर सकती है—पर कविता के सचेतन प्रेमिक जिन्होंने इस विध्वस्त आशा और विफलीकृत आदर्शों के जगत् में जीवन-यापन किया है, कविता के इस विकास को युक्ति-विहीन या इसकी वाणी को मिथ्या या इसके सौष्टव को कला-हीन नहीं कह सकते। और अगर कवियों ने अपने युग की कविता के लिखने में सफलता प्राप्त की है; तो वे सर्वकाल के कवि होने की आशा कर सकते हैं।





ALOCHANA

Announcement under clause 19 D of the Press and Registration of Books Act, 1867 as modified in 1956.

FORM IV

1. Place of Publication.........................Delhi
2. Periodicity of its publication............Quarterly
3. Printer's Name...............................Shri Gopinath Seth
   Nationality....................................Indian
   Address..Navin Press, 6 Faiz Bazar, Delhi
4. Publisher's Name...........................Shri Dev Raj
   Nationality.......................................Indian
   Address..Rajkamal Prakashan Private Ltd., 8 Faiz Bazar, Delhi
5. Editor's Name.......................Shri Nand Dulare Bajpai
   Nationality...........................Indian
   Address..................................Saugar University Saugar (M. P.)
6. Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital. — **Rajkamal Prakashan Private Ltd.**

I, Dev Raj, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Date 1-4-59

Sd. DEVRAJ
Publisher





श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।